भारतीय कृषि ज्ञान कोष

(देश के चोटी के कृषि विशेषज्ञों द्वारा लिखित)

भूमिका लेखक

डा० राम सुभग सिंह

कृषि मन्त्री, भारत सरकार

हिन्दी रूपान्तर

ओम् प्रकाश शर्मा

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नयी दिल्ली

*   *

प्रधान सम्पादक

डी० राघवन

रूपान्तर, सम्पादन और प्रोडक्शन

ओमप्रकाश शर्मा

सहायक सम्पादक (अनुवाद और सम्पादन)

रामकृष्ण पाराशर, ब्रजलाल उनियाल

सहायक सम्पादक (प्रोडक्शन)

मुनीन्द्रकुमार जैन, देवकीनन्दन पालीवाल

उप सम्पादक (सम्पादन और प्रोडक्शन)

विनय कुमार भटनागर, शक्ति त्रिवेदी

हिन्दी अनुवादक

प्रबोध पाठक, राजकुमार चौहान, राजवीरसिंह

★ ★ ★

प्रकाशक : भा० कृ० अ० प० के लिए
श्री दलीपसिंह, अवर सचिव

प्रथम संस्करण : 5,000

तिथि : अगस्त, 1963

मूल्य : 6.25 रुपये

मुद्रक : स्वान प्रेस आफ लाहौर, अहाता किदारा, दिल्ली-6

भूमिका

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा 'भारतीय कृषि ज्ञान कोष' नामक एक संदर्भ ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। यह 'हैण्ड बुक ऑफ एग्रीकल्चर' नामक अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है।

हमारे देश की विकासशील अर्थ व्यवस्था में खेती का विशेष स्थान है। राष्ट्रीय आय की 50 प्रतिशत आय खेती से ही प्राप्त होती है। आज भी भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनसंख्या खेती पर आधारित है। देश में उद्योगीकरण के लिए विशाल पूंजी का अभाव है। इसलिये भविष्य में बहुत दिनों तक खेती ही देश का प्रमुख धन्धा बना रहेगा।

आजादी के बाद भारतीय कृषि का बहुमुखी विकास हुआ है। पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इन के अर्न्तगत सिंचाई के विकास, भूमि के संरक्षण, उर्वरकों के वितरण, सुधरे बीज और ऋण देने की यथासाध्य व्यवस्था की गई। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि विकास के लिए क्रमश: 290 करोड़ और 529 करोड़ रुपये खर्च किये गये। परिणामस्वरूप प्रथम पंचवर्षीय योजना के पहले खाद्यान्न का उत्पादन, जो 5.76 करोड़ टन था, वह दूसरी योजना के अन्त में बढ़कर 7.97 करोड़ टन हो गया। इन दोनों योजनाओं में कपास, पटसन और तिलहन को छोड़कर अन्य कृषि पदार्थों के उत्पादन लक्ष्य पूरे कर लिये गये। देश का कृषि उत्पादन पहली पंचवर्षीय योजना में 2.5 प्रतिशत और दूसरी

योजना में 3.4 प्रतिशत बढ़ा । 1947 में कृषिगत क्षेत्र के केवल 480 लाख एकड़ भूमि में सिंचाई होती थी जो कुल बोए हुए क्षेत्रफल का केवल 20 प्रतिशत ही था । ग्राजादी के बाद नदियों, झरनों, भूमिगत जल आदि सभी साधनों का तेजी से विकास किया गया, जिसके फलस्वरूप प्रथम दो योजनाओं के अन्त में सिंचाई का क्षेत्रफल 25 प्रतिशत बढ़ गया । आशा की जाती है कि जब सिंचाई की वर्तमान योजनाएं पूरी हो जाएंगी तब लगभग 500 लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई की जा सकेगी ।

तीसरी पंचवर्षीय योजना में भी विभिन्न फसलों के उत्पादन लक्ष्य 25 से 50 प्रतिशत अधिक रखे गये हैं । खाद्यान्न उत्पादन का लक्ष्य 10 करोड़ टन रखा गया है । इनको प्राप्त करने के लिए 1090 करोड़ रुपये खर्च करने की व्यवस्था की गई है । सघन कृषि जिला कार्यक्रमों का आयोजन किया गया है जिनमें उन्नत बीज, सुधरी कृषि क्रियाएं, उर्वरक, फसल संरक्षण तथा सिंचाई आदि की बातें सब समन्वित रूप से काम में लाई जा रही हैं । सबसे उत्साहवर्धक बात तो यह है कि देश के ग्राम लोगों ने खेती में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी है । यह निश्चित रूप से कृषि की समृद्धि का संकेत है ।

यह सब होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से खेती आज लाभकर धन्धा नहीं है, क्योंकि हमारे खेतों की बहुत बड़ी संख्या इस समय केवल निर्वाह योग्य है और उन से प्राप्त उत्पादन हमारी बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर पाता । देश की जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण भूमि पर बोझ बराबर बढ़ता जा रहा है । आज देश की लगभग 45 प्रतिशत भूमि पर खेती होती है । किसी भी दूसरे देश के मुकाबले में यह सम्भवत: सब से अधिक है । खेती के

क्षेत्रफल को सम्भवत: अब बहुत अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता; क्योंकि देश में आज केवल 22 प्रतिशत क्षेत्रफल में ही वन हैं, जबकि एक अनुमान के अनुसार भूमि के उपजाऊपन और भू-संरक्षण के लिए कम से कम 30 प्रतिशत क्षेत्रफल में जंगल होने आवश्यक हैं।

इसलिए जमीन के अपने सीमित साधनों से ही देश की बढ़ती हुई अन्न, वस्त्र और उद्योगों की आवश्यकता को पूरा करना होगा और भविष्य में पैदावार को बढ़ाने की आशा हमें प्रति एकड़ अधिक उत्पादन पर ही आधारित करनी पड़ेगी। हमारी प्रति एकड़ उपज आज भी संसार में सबसे कम है और यदि उन्नत बीज, खाद, उर्वरक, सुधरी कृषि क्रियाएं और उन्नत कृषि यंत्र, सिंचाई और फसल-सुरक्षा सम्बन्धी उपाय आदि का वैज्ञानिक ढंग से उपयोग किया जाए तो प्रति एकड़ उत्पादन काफी अधिक बढ़ सकता है।

पर आज तो हम फल, सब्जी, तिलहन और कपास आदि बुनियादी जिन्सें भी उतनी पैदा नहीं कर पाते जितनी हमारे देश को आवश्यकता है। अकेले 1962-63 में 32.5 लाख रुपये के ताजा मौसमी फल और 374 लाख रुपये के सूखे मेवे दूसरे देशों से मंगवाये गये थे। हमारे देश में जितना तिलहन पैदा होता है उससे औसतन प्रति व्यक्ति प्रति दिन केवल 0.4 औंस ही चिकनाई मिल पाती है। मनुष्य को स्वस्थ रखने के लिए चिकनाई के जो मान निश्चित किये गये हैं उनके मुकाबले यह कहीं कम है; यद्यपि यह माना कि भारत तिलहन के उत्पादन और बुआई क्षेत्र की दृष्टि से प्रथम स्थान रखता है। इसी प्रकार सब्जी का वर्तमान उत्पादन हमारे लिए अपर्याप्त है क्योंकि संतुलित भोजन की दृष्टि से एक व्यक्ति

को रोजाना कम से कम दस औंस सब्जियां मिलनी चाहिएं, जबकि हमारे देश में प्रति व्यक्ति मुश्किल से डेढ़ औंस सब्जी मिल पाती है ।

इसलिए यदि हम कृषि क्षेत्र में तेजी से विकास करना चाहते हैं तो यह जरूरी है कि कृषि उत्पादन अधिक से अधिक हो । इसके लिए न केवल हमें अपने उपलब्ध स्रोतों का अधिक से अधिक वैज्ञानिक ढंग से इस्तेमाल करना होगा वरन् ऐसा वातावरण भी पैदा करना होगा जिससे किसान इन सब बातों में दिलचस्पी लें और उसके बोझ हल्के हों ।

पश्चिमी देशों में कृषि विज्ञान के अनेक स्नातक खेती और फार्मिंग को पेशे के रूप में अपनाते हैं । लेकिन हमारे देश में ऐसा नहीं होता । देश के पढ़े लिखे नौजवान तब तक ऐसा नहीं करेंगे जब तक खेती एक लाभकर और आकर्षक धन्धे के रूप में विकसित नहीं हो पायेगा । इसके लिए हमें खेती को वैज्ञानिक आधार देना होगा । तभी कृषि राष्ट्रीय उत्पादन, रहन सहन और प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को बढ़ाने के लिए एक सशक्त आधार बन सकेगी ।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुए 1954 में योजना आयोग ने इस बात की सिफारिश की कि भारतीय कृषि के लिए 'हैण्ड बुक आफ इंडियन एग्रीकल्चर' नाम से एक ज्ञान कोष तैयार किया जाए । इस पुस्तक को तैयार करने का उत्तरदायित्व भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने लिया । यह निश्चय किया गया कि इस पुस्तक में मौसम, मिट्टियां, खाद और उर्वरक, प्रमुख फसलें, सब्जियां, फल, रोग, कीट-व्याधियां, उन्नत कृषि यन्त्र, सिंचाई, खर-पतवारों का नियंत्रण, कृषि कानून, फार्म का लेखा जोखा और

कृषि विपणन अध्याय शामिल किये जाएं। इन अध्यायों को लिखने का काम ऐसे विशेषज्ञों को सौंपा गया जिनका अधिकांश जीवन अपने विषय के अध्ययन, अध्यापन और अनुसंधान में बीता है।

यह ग्रन्थ भारतीय कृषि की एक संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत करता हैं। इस पुस्तक में किसानों और ग्रामसेवकों को कृषि सम्बन्धी अपनी दैनिक समस्याओं का समाधान तो मिलेगा ही, साथ ही यह विद्यार्थियों के लिए संदर्भ और मानक ग्रन्थ का भी काम देगा।

नयी दिल्ली
२७-८-१९६३

राम सुभग सिंह
कृषि मंत्री, भारत सरकार

हिंदी रूपान्तर के विषय में दो शब्द

'भारतीय कृषि ज्ञान कोष' 'हैंड बुक आफ एग्रीकल्चर' का हिन्दी रूपान्तर है। अंग्रेजी की मूल पुस्तक चोटी के 30 विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गई थी।

कृषि क्षेत्र में हुए अनुसंधान कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों जब तक उनकी सूचना किसानों को नहीं मिल पाती तब तक वे बेकार ही रहते हैं। ये सूचनाएं किसान को उसकी ही भाषा में उपलब्ध होनी चाहिएं, तभी खेती का विधिवत विकास हो पाता है और तभी कृषि उत्पादन काफी बढ़ाया जा सकता है। यदि विद्यार्थियों को शुरू से ही उनकी भाषा में कृषिशास्त्र का ज्ञान नहीं कराया जाता, तो उनकी पकड़ गहरी नहीं हो पाती और वे कृषि को असली रूप में हासिल नहीं कर पाते। इसलिए कृषि ज्ञान को आज देश की भाषाओं में, और विशेषकर हिन्दी में, उपलब्ध कराना जरूरी हो गया है। हमारे माननीय कृषि मन्त्री डा० रामसुभग सिंह के मार्गदर्शन में भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने इस बात को अनुभव किया कि हिन्दी साहित्य में अब तक एक भी ऐसी पुस्तक नहीं हैं जो भारतीय कृषि के सभी पक्षों पर आवश्यक जानकारी संक्षिप्त रूप में एक स्थान पर दे सके, जो विभिन्न कृषि-क्रियाओं के लिए किसान, ग्रामसेवक और विद्यार्थियों का मार्ग दर्शन कर सके और समय-समय पर अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिए जिसे वे ज्ञान कोष की तरह इस्तेमाल कर सकें। 'भारतीय कृषि ज्ञान कोष' इस कमी को पूरा करता है।

हिन्दी रूपान्तर करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि 'भारतीय कृषि ज्ञान कोष' ऐसा मानक ग्रन्थ बन सके जो डिग्री कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए संदर्भ और पाठ्य पुस्तक की तरह इस्तेमाल हो सके। साथ ही इसमें टैक्नीकल बातों की जानकारी ऐसे सुगम और सरल ढंग से प्रस्तुत की गई है कि मामूली पढ़े लिखे किसान और ग्रामसेवक भी अपने मतलब की बातों के लिए इसका उपयोग कर सकें।

इस पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर करते समय हमारे सामने कुछ ऐसी अनिवार्य बातें थीं जिनके कारण 'भारतीय कृषि ज्ञान कोष' को कुछ निश्चित सीमाओं के अन्दर रखना अनिवार्य हो गया। मूल पुस्तक में पौने सात सौ पृष्ठ थे। उनका रूपान्तर लगभग 400 पृष्ठों में होना था जिससे इसका मूल्य मूल पुस्तक से बढ़े नहीं, पर साथ ही उपयोगी सामग्री का कोई भी अंश छूटे नहीं। हिन्दी अनुवाद सदैव ही मूल अंग्रेजी से अधिक पृष्ठों में आता है और टैक्नीकल बातों को समझाने के लिए तो अंग्रेजी के एक शब्द की हिन्दी में अनेक वाक्यों में व्याख्या करनी पड़ती है। इसलिए हिन्दी में मूल पुस्तक को संक्षिप्त करने का यह काम बड़ा कठिन हो गया और हिन्दी पाठकों के लिए सभी उपयोगी सूचनाओं के समावेश से, न चाहते हुए भी, पाठ्य सामग्री की संख्या 500 से ऊपर पहुँच गई। हिन्दी पाठकों की रुचि के अनुरूप इसको सचित्र बनाना भी जरूरी था क्योंकि अनेक टैक्नीकल बातें चित्रों की सहायता से आसानी से समझ में आ जाती हैं। पर मूल पुस्तक में एक भी चित्र नहीं था। चित्रों के समावेश से पुस्तक का मूल्य न बढ़े, इसके लिए उपयोग किये गये ब्लाक काम में लाये गये। सबसे बड़ी बात यह थी कि पुस्तक एक माह से भी कम समय में निकालनी थी (2 अगस्त

1963 से पुस्तक का कम्पोजिंग शुरू हुआ और 29 अगस्त 1963 को वह छप जानी चाहिए थी)। 600 पृष्ठ की कम्पोजिंग व छपाई और लगभग 2000 पृष्ठ की प्रूफ रीडिंग 26 दिन के अन्दर इसीलिए सम्भव हो सकी क्यों कि प्रेस और भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के हिन्दी सम्पादन विभाग ने इस काम को राष्ट्र सेवा ही समझा। सुबह सात बजे से रात के 10 बजे तक बराबर 26 दिन तक प्रेस और परिषद् के सम्पादकीय विभाग के कर्मचारियों के अनवरत परिश्रम का यह फल आपके सामने प्रस्तुत है। इसमें त्रुटियाँ रहनी स्वाभाविक हैं, फिर भी इस बात का पूरी तरह ध्यान रखा गया है कि कोई भी टैक्नीकल बात गलत नहीं छपे।

उपरोक्त कारणों से हिन्दी रूपान्तर का क्रम मूल पुस्तक से पूरी तरह बदल गया है। मूल पुस्तक के 17 अध्यायों को 12 अध्यायों में रखा गया है। मूल पुस्तक के प्रथम चार अध्यायों की पूरी सूचनाओं का समावेश हिन्दी रूपान्तर में किया गया है क्योंकि ये भारतीय कृषि की बुनियाद हैं। शेष अध्यायों की हिन्दी पाठकों की दृष्टि से केवल उपयोगी सामग्री ही दी गई है। अध्यायों का क्रम भी बदल दिया गया है। 'सब्जियां', अध्याय 'फलदार फसलें' अध्याय से पहले दिया गया हैं। 'फसलों के रोग' नाम के अध्याय में मूल पुस्तक की केवल वे ही सूचनाएं दी गई हैं जिन को उपयोग में ला कर रोगों की रोकथाम रासायनिक पदार्थों की सहायता से की जा सकती है। कीट व्याधियाँ और खरपतवार को एक ही अध्याय में शामिल कर लिया गया है जब कि अंग्रेज़ी में इन पर दो अध्याय दिए गए हैं। इस में भी रोकथाम के केवल रचनात्मक सुझाव और सिफारिशें ही शामिल की गई हैं। 'कृषि इंजीनियरिंग' के अध्याय को 'उन्नत कृषि यन्त्र' में परिवर्तित कर दिया गया है और केवल उसी के अनुसार सामग्री

रखी गई है। 'सिंचाई' के अध्याय को भी इसी प्रकार संक्षेप कर दिया गया है। मूल पुस्तक के अन्त के चार अध्यायों 'कृषि सहकारिता और विपणन', 'कृषि कानून' 'सामुदायिक विकास और कृषि विस्तार' तथा 'कृषि का लेखा जोखा' को एक अध्याय में संक्षिप्त कर दिया गया है क्योंकि यह आवश्यक समझा गया कि उन्हीं विषयों की विस्तृत जानकारी दी जाए जो कृषि से प्रत्यक्ष सम्बन्धित हैं। मूल पुस्तक के 12वें अध्याय 'भूमि संरक्षण और बारानी खेती' की विषय सामग्री हिन्दी रूपान्तर के विभिन्न अध्यायों में पहले ही आ गई है।

पुस्तक किसानों के लिए दुरुह नहीं बने, साथ ही उपयोगी टैकनीकल सूचना से विद्यार्थी वंचित न हों, इसलिए टैक्नीकल सूचनाओं से ओतप्रोत सारणियों को पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट में दिया गया है। इसी प्रकार की अन्य टैकनीकल सूचनायें भी परिशिष्ट में दी गई हैं।

सीमित साधनों और परिस्थितियों के होते हुए भी इस पुस्तक को पाठ्य सामग्री, सम्पादन, छपाई, सफाई और अन्य दृष्टियों से आधुनिकतम तथा प्रामाणिक संदर्भ ग्रन्थ बनाने का प्रयत्न किया गया है।

यह हिन्दी रूपान्तर परिषद के प्रकाशन विभाग के सम्मिलित प्रयत्नों का फल है क्योंकि पुस्तक को तैयार करने में दिन-रात लगे रहकर यूनिट के सभी लोगों ने कमरतोड़ काम और परिश्रम किया है।

हिन्दी साहित्य में भारतीय कृषि पर यह ऐसा प्रथम एक मात्र मानक ग्रन्थ है जो न केवल स्कूल और कालेज के विद्यार्थियों के लिए पाठ्य पुस्तक के रूप में काम आ सकता है वरन् किसानों, ग्रामसेवकों,

कृषि अधिकारियों और सामान्य पाठकों के लिए भी अति उपयोगी सिद्ध हो सकता है। पाठक इस पुस्तक पर अपनी सम्मति अवश्य दें क्योंकि विश्वास है कि उनके मूल्यवान सुझाव 'भारतीय कृषि ज्ञान कोष' के आनेवाले संस्करणों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

यह पुस्तक भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के 'हिन्दी में संदर्भ और मानक ग्रन्थों की प्रकाशन योजना' के अन्तर्गत प्रकाशित की गई है। इसमें अंग्रेजी के वैज्ञानिक टैक्नीकल शब्दों के लिए केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय अथवा वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दावली के स्थायी आयोग द्वारा स्वीकृत शब्दावली का प्रयोग किया गया है। अन्त में पुस्तक में उपयोग किये शब्दों की हिन्दी-अंग्रेजी पारिभाषिक शब्दावली भी दी गई है।

ओमप्रकाश शर्मा

सम्पादक (हिन्दी)

विषय-सूची

चित्र सूची

चित्र		पृष्ठ

चित्र		पृष्ठ

लेखक का नाम	विषय
श्री पी. ए. वेंकटेश्वर अय्यर	काफी, चाय, काली मिर्च, हल्दी, टैपिओका, सुपारी, इलायची, अदरक, मिर्च, कोको
डा. अर्जनसिंह	अरहर, मूंग, उड़द, मसूर, मोंठ, खिसारी
डा. एन. पार्थसारथी	धान, गन्ना, ज्वार और बाजरा
5. श्री पी. एम. दबड़घाव डा. एस. एम. सिक्का	5. चारे की फसलें
6. डा. एस. एस. पुरेवाल डा. एच. आर. अराकेरी	6. साग-सब्जियाँ
7. डा. शामसिंह	7. फलदार फसलें मंद जलवायु वाले फल, अंगूर, नींबू वर्ग के फल, खजूर
डा. के. सी. नायक	आम, केला, पपीता, चीकू, अनन्नास, कटहल, शरीफा, मेंगोस्टीन, कैरमबोला, इंडियन गूसबेरी, काजू

लेखक का नाम	विषय
डा. डब्ल्यू. बी. हेज़	लीची, लुकाट, अंजीर, अनार, अमरूद, शहतूत, आंवला, करौंदा, फालसा, बेर, एवोकाडो
8. डा. के. बी. लाल	8. फसलों के शत्रु, कीट और टिड्डियाँ
डा. गिरधारीलाल डा. ई. एस. नारायणन्	फलों और साग-सब्जियों का परिरक्षण
डा. बी. पी. पाल श्री एल. एस. एस. कुमार	खरपतवार और उनका नियंत्रण
9. श्री आर. वी. रामैया श्री मैसन वौघ श्री बी. एम. लक्ष्मीपति	9. उन्नत कृषि यंत्र
10. श्री ए. आर. तलवार श्री महावीर प्रसाद	10. सिंचाई

सुसस्या कृषीस्कृधि :
अच्छी फसलों की खेती करो
—यजुर्वेद (४-१०)

1.

मौसम और फसलें

सफल कृषि के लिए पानी, हवा, धूप और मिट्टी इन चार तत्वों का होना जरूरी है। अलग-अलग प्रदेशों में जलवायु के अनुसार पहले तीन तत्व अलग-अलग मात्राओं में पाये जाते हैं। जलवायु को बनाने और प्रभावित करने वाले ये तीनों तत्व यदि अनुकूल मात्रा में फसलों को मिलते हैं तो काफी उपज प्राप्त हो सकती है। इसलिए खेती के काम और फसलों के उगाने में जलवायु का काफी प्रभाव पड़ता है। सच तो यह है कि खेती की सफलता और असफलता का चालू मौसम की दशाओं से काफी निकट का सम्बन्ध है।

मौसम का प्रभाव फसल पर खेती की तैयारी से लेकर फसल कटने तक बराबर पड़ता है और फसल जब तक खलियान से उठकर किसान के कोठार में नहीं आ जाती तब तक मौसम का खतरा बराबर बना ही रहता है। फसल के कोठार में आने के बाद भी परोक्ष रूप में उस पर मौसम का असर पड़ता है क्योंकि अन्य स्थानों पर मौसम के अच्छा या बुरा हो जाने से अनेक जगह अनाजों और दूसरी जिन्सों के भाव घट या बढ़ जाते हैं। मौसम के अचानक परिवर्तन जैसे यकायक अत्यधिक वर्षा का होना या अचानक ही सूखा या अकाल का पड़ जाना अनाज की मंडियों में भावों और वायदा के सौदों पर भारी असर डालता है। इन सब बातों के

कारण ही कहा जाता है कि **भारत में खेती का काम अधिकतर मौसम के साथ जुआ खेलना है ।**

प्रतिकूल मौसम के प्रभाव को कुछ हद तक कम करने के लिए मनुष्य ने जो विधियाँ निकाली हैं उनमें बारानी खेती, सीढ़ीदार खेती, बाढ़ के पानी का संग्रह, कन्टूर (समौच्य) खेती, पानी के सदुपयोग की विभिन्न सिंचाई विधियां, कड़कड़ाती सर्दी से खेती को बचाने के लिए और तूफान, झंझावात आदि वायुजनित खतरों को रोकने के लिए छायादार पेड़ों की वातरोकी पंक्तियां लगाना मुख्य हैं। मौसम के समुचित ज्ञान और इन मनुष्यकृत विधियों के कारण ही कभी-कभी मौसम के खराब होने के विपरीत भी प्रचुर मात्रा में उपज होती है। इसलिए प्रत्येक किसान और प्रसार कार्यकर्ता को जलवायु सम्बन्धी ऐसी बातों की सही जानकारी होनी जरूरी है जिनका फसल के विकास और उपज पर प्रभाव पड़ता है।

भौगोलिक स्थिति : हमारे देश की उत्तरी सीमा हिमालय की ऊँची पहाड़ियों से घिरी हुई है। इसके दक्षिण में सिन्धु, गंगा और ब्रह्मपुत्र की घाटियां और मैदान हैं जिनमें उपजाऊ जलोढ़ मिट्टी पायी जाती है। सिन्धु-गंगा घाटी के दक्षिण में प्रायःद्वीपी भारत का पठारी भाग है जो संकरी समुद्रतटीय पट्टियों से घिरा हुआ है। इस प्रायःद्वीप के पश्चिम में अरबसागर, पूर्व में बंगाल की खाड़ी और दक्षिण में हिन्द महासागर है। इस प्रायःद्वीप को अरावली की पहाड़ियां और समीपवर्ती राजस्थान का रेगिस्तानी और अर्द्ध रेगिस्तानी इलाका सिन्धु-गंगा घाटी से अलग करता है। इन सभी क्षेत्रों और देश के इलाकों में अलग-अलग तरह की मिट्टी और विभिन्न प्रकार की जलवायु पायी जाती है जिसके कारण

यहां हर क्षेत्र में अलग-अलग तरीके से खेती होती है और अलग अलग कृषि क्रियायें अपनाई जाती हैं।

मौसम

वर्षा : हिमालय पर्वत के कारण ही भारत में वर्षा होती है क्योंकि पूर्व और पश्चिम से उठने वाली मानसून हवाएँ इसी से टकराकर सिन्धु, गंगा, ब्रह्मपुत्र की घाटियों में बरस पड़ती हैं। अगर हिमालय की पर्वत श्रेणियां न होतीं तो भारत भी अरब की भांति सूखा रेगिस्तान होता। क्योंकि यही पर्वतमालाएँ मानसूनों को रोक कर भारत भूमि को शस्य श्यामला बनाती हैं। जून शुरू होते ही सागर से दक्षिणी-पश्चिमी मानसूनें उठकर देश भर में फैल जाती हैं और जुलाई के मध्य तक देश भर में खूब वर्षा होती है। सितम्बर के अन्त में ये मानसून वापिस लौटती हैं और इसलिए तब तक देश भर में कहीं न कहीं वर्षा बराबर होती रहती है। जैसे ही ये मानसून खत्म होती हैं वैसे ही नवम्बर के प्रारम्भ में उत्तर-पूर्वी मानसूनें उठकर आकाश में छा जाती हैं और भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी भाग में इन्हीं के कारण खूब वर्षा होती है।

सारणी 1 में देश के विभिन्न भागों में होने वाली औसत वर्षा दिखायी गयी है। इस से पता चलता है कि सुदूर उत्तर में कश्मीर और दक्षिण में मद्रास को छोड़ कर बाकी सारे देश में वर्षा अधिकतर दक्षिण- पश्चिमी मानसून से होती है। हवाओं का रुख अनुकूल होने के कारण सब से ज्यादा वर्षा पश्चिमी घाट, असम की पहाड़ियों और विशाल हिमालय की पर्वत श्रेणियों में होती है। देश की अधिकतर नदियां भी इन्हीं पर्वत श्रेणियों से निकलती हैं। दूसरी

ओर भारत का उत्तर पश्चिमी भाग सबसे सूखा क्षेत्र है और राजस्थान में तो 500 मिलीमीटर (20 इंच) प्रति वर्ष से भी कम वर्षा होती है।

भारत में कृषि की सफलता समय पर उचित मात्रा में वर्षा होने पर निर्भर करती है। प्रति वर्ष देश के विभिन्न भागों में वर्षा की तिथियां, मात्रा, समय और क्षेत्र बहुत कुछ बदलता रहता है। खेती की क्रियाओं का वर्षा से निकट का सम्बन्ध है। अतएव मानसून के घिरने व बरसने की तिथियों के बारे में पूर्व जानकारी किसान के लिये बहुत आवश्यक है।

सूखा और बाढ़ : जहां तक सारे देश का प्रश्न है यहां हर बीस साल के बाद भीषण देश व्यापी अकाल और हर दस साल के बाद देश में एक या दो छोटे मोटे अकाल पड़ते रहे हैं। आमतौर पर यह देखा गया है कि जिन क्षेत्रों में सामान्यतया कम वर्षा होती है वहीं ज्यादा अकाल पड़ते हैं। 1857 से 1950 तक 76 वर्षों में जो बाढ़ें आयीं और सूखे पड़े, उनकी संख्या **सारणी** 2 में दी गयी है। इनमें से अधिकांश वर्षों में भारत के किसी न किसी भाग में अवश्य अकाल पड़ा और कभी-कभी तो सारे देश को ही इस संकट का सामना करना पड़ा। 1877, 1899 और 1918 भीषण अकाल के वर्ष थे।

इसी प्रकार देश के अनेक भागों को विशेष रूप से जहां बड़ी बड़ी नदियां बहती हैं भीषण बाढ़ों के कारण अपार हानि उठानी पड़ी है। 1878, 1892, 1917 और 1954 में देश के कई राज्यों में जबर्दस्त बाढ़ें आयीं। देश के सभी भागों में 24 घन्टे में 5 इंच से अधिक वर्षा होती है। परन्तु गुजरात और सौराष्ट्र

सहित पश्चिमी घाट, दक्षिणी-कोरोमंडल घाट, दक्षिणी असम, बंगाल और हिमालय की तलहटियों में 24 घंटे में 15-20 इंच वर्षा होती है।

सूर्य की गरमी के कारण धरती की नमी बराबर उड़ती रहती है। नमी के इस उड़ने को वैज्ञानिक भाषा में वाष्पन कहते हैं। किसानों के लिए यह जानना जरूरी है कि उनके खेतों में किस किस मौसम में किस दर से नमी उड़ती है। इस बात को मोटे तौर पर **सारणी** 3 में देखा जा सकता है जिसमें भारत में औसत वार्षिक वाष्पन का विवरण दिया गया है। बम्बई के दक्षिणी क्षेत्र में सबसे अधिक वार्षिक वाष्पन होता है। परन्तु यहां से जैसे-जैसे उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर चलते हैं वैसे-वैसे वाष्पन की वार्षिक दर घटती चली जाती है। वाष्पन का घटना बढ़ना हवा की गति और शुष्कता के अनुपात पर निर्भर करता है।

इसके लिए यह जानना जरूरी है कि हवा में कब कितनी नमी रहती है। नमी को आमतौर पर सापेक्षिक आर्द्रता के रूप में नापा जाता है। **सारणी** 4 में देश के विभिन्न भागों की सापेक्षिक आर्द्रता दी गई है जिससे देश के विभिन्न भागों की हवा में उपस्थित नमी का कुछ मोटा अन्दाज लगाया जा सकता है।

यद्यपि वायु का सामान्य संचार मानव के नियंत्रण से परे की वस्तु है फिर भी वायुरोधी वृक्षों को लगा कर हवा की गति धरातल के आसपास किसी सीमा तक कम की जा सकती है। हवा की गति कम होने से मिट्टी की नमी भी कम उड़ती है। इस तरह वातरोधी वृक्षों की पंक्तियां लगाकर वाष्पन-हानि को कम किया जा सकता है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में जहां भूमि में आमतौर पर नमी की

कमी रहती है, फसलों की सूखारोधी किस्में उगाना एक अच्छा उपाय है। बड़ी नदियों के उद्गम क्षेत्रों में जैसे पश्चिमी घाट और हिमालय में बहुत कम वर्षा वाले वर्षों में भी काफी वर्षा होती है। इसलिए यदि वर्षा के इस पानी को रोक कर उसे ठीक तरह इकट्ठा कर लिया जाय तो उससे पास के मैदानों की सिंचाई की जा सकती है।

बाढ़ग्रस्त इलाकों के किसान यदि अपने-अपने खेत की नालियों और बरहों को ठीक दशा में रखते हैं, उनमें भरी मिट्टी आदि निकाल देते हैं और उनकी टूट फूट की मरम्मत कर देते हैं तो ये किसान काफी हद तक बाढ़ से होने वाले नुकसान से बच सकते हैं। फसलों पर बाढ़ का प्रभाव कम से कम पड़े, इसके लिए बाढ़ग्रस्त इलाकों में फसलों की बाढ़रोधी किस्मों को उगाना चाहिए। नदियों के निकटवर्ती ऊपरी भागों में वन लगाना, नदियों के किनारे पर बांध बांधना और बहुद्देशीय नदी घाटी परियोजनाएँ इत्यादि ही बाढ़ को रोकने वाले कारगर कार्यक्रम है और सरकार इन योजनाओं को पूरा करने में तत्पर है। जिन योजनाओं पर आजकल काम चल रहा है, उनके पूरे हो जाने पर अचानक आने वाली बाढ़ों की संख्या निश्चित रूप से घट जायेगी। बाढ़ आने की सूचना समय के पूर्व यदि किसानों को दी जा सके तो जान माल की हानि को काफी कम किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में भी आवश्यक कदम उठाये जा रहे हैं।

खेती को प्रभावित करने वाले जलवायु सम्बन्धी प्राकृतिक तत्वों में से आगे लिखे तत्व मुख्य है :

पूर्वी अवनमनी हवायें पश्चिमी अवनमनी हवाएं, चक्रवात, तूफान, ओला, आंधी और अंधड़, तापमान, ठण्डी हवायें और पाला, धूप तथा तेज हवाएं इत्यादि ।

खेती और जलवायु

1. **पूर्वी अवनमनी हवाएं :** बंगाल की खाड़ी से उठने वाली या बंगाल की खाड़ी के ऊपर से गुजर कर देश के उत्तर-पश्चिम या पश्चिम की ओर जाने वाली अवनमनी हवाएं दक्षिण-पश्चिमी मानसूनों की तेजी, वर्षा के समय, उसकी मात्रा और स्थान आदि को नियन्त्रित करती हैं। ये कम दबाव वाली अवनमनी हवायें जहां-जहां होकर निकल जाती हैं वहां उनके आसपास के इलाकों में भारी वर्षा होती है। बरसात के मौसम में महीने में तीन या चार बार वायुमण्डल में इस प्रकार के वायु-अवनमन आते हैं। जिन वर्षों में वायु-अवनमन कम आते हैं उनमें वर्षा पश्चिमी घाट, असम और बर्मा के पहाड़ी प्रदेशों तक ही सीमित रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि देश के अन्तरवर्ती भाग में सामान्य वर्षा भी नहीं हो पाती।

2. **पश्चिमी अवनमनी हवाएँ :** नवम्बर से मई के दौरान में भारत में पश्चिमी अवनमनी हवाएं, अफगानिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान की ओर से आती हैं और उत्तर भारत में से होती हुई असम की ओर चली जाती हैं। इन अवनमनी हवाओं के कारण मैदानी इलाके में हल्की वर्षा होती है और बादल छाये रहते हैं तथा उत्तर के पहाड़ी इलाकों में खूब बर्फ गिरती है। सर्दियों में इन कम दबाव वाली अवनमनी हवाओं के साथ-साथ कड़ाके की ठण्डी हवायें

भी आता है। अवनमनी हवायें औसतन नवम्बर में दो बार, दिसम्बर से अप्रैल तक हर महीने चार या पांच बार और मई में लगभग दो बार आती हैं।

3. **चक्रवात तूफान :** बंगाल की खाड़ी और अरब सागर में अप्रैल से जून और अक्तूबर से दिसम्बर तक भयंकर चक्रवात तूफान आते हैं। ये देश के अन्दर घुस कर तेज हवा के साथ जोर की वर्षा करते हैं और दूर-दूर तक हानि पहुँचाते हैं। तटीय इलाकों में इनके कारण सबसे अधिक नुकसान होता है। बरसात से पहले औसतन एक या दो जोरदार चक्रवात तूफान आ जाते हैं। इन अवनमनी हवाओं और तूफानों की गति और दिशा के बारे में आवश्यक सूचनायें काफी हद तक उपलब्ध हैं। इसलिए किसी खास इलाके में इनके पहुंचने के संभावित समय की भविष्यवाणी एक दो दिन पहले भी की जा सकती है। मौसम विभाग द्वारा कुसमय वर्षा, भारी वर्षा तथा लगातार नमीवाले मौसम के बारे में चेतावनी दिये जाने पर काश्तकार बोआई रोक सकते हैं, नन्हे पौधों को बचा सकते हैं, तेजी से फसल काट सकते हैं, अनाज को अच्छी तरह संभाल कर रख सकते हैं और पशुओं का बचाव भी कर सकते हैं।

4. **ओला, आंधी और अंधड़ :** यद्यपि इनका स्वरूप स्थानीय होता है परन्तु इनका सम्बन्ध विशाल क्षेत्र में उठने वाली अवनमनी हवाओं से रहता है। सामान्यतया वर्षा ऋतु से पहले या बाद में इस प्रकार की आंधियां आती हैं। जब हवा में नमी नहीं रहती तो केवल अंधड़ आते हैं और जब काफी नमी होती है तो गरज कर आंधी आती है। ओला-आंधी खास किस्म की गरज कर आने वाली प्रचण्ड आंधी है।

सूखे मौसम में दक्षिणी पंजाब, पास में लगे हुए राजस्थान और दिल्ली के इलाके में काफी अंधड़ आते हैं। कभी-कभी इनके बाद तेज वर्षा पड़ती है। उत्तर-पश्चिमी बंगाल में तेज वर्षा और आंधी थोड़े समय तक रहती है परन्तु इनका आवेग काफी प्रचण्ड होता है। दक्षिण में मानसून से पहले और बाद में गरज कर आंधियां आती हैं और खड़ी फसल वाले खेतों की मिट्टी को इन्हीं से मुख्य रूप में नमी प्राप्त होती है। ओला-आंधी न केवल खड़ी फसल के लिए नुकसानदेह होती है वरन् इससे पशुओं और मनुष्यों को भी हानि पहुँचती है। इसकी प्रचण्डता से खड़ी फसल की रक्षा करना बहुत कठिन होता है। फिर भी यदि किसानों को इसकी पहले से ही सूचना मिल जाय तो वे पकी फसल काट सकते हैं और पशुओं को सुरक्षित स्थान पर भेज सकते हैं।

शुरू-शुरू की सर्दी में ओला-आंधी कम आती हैं। परन्तु जब गर्मी का मौसम नजदीक आता है, इस प्रकार की आंधियों की संख्या भी बढ़ जाती है। वर्षा ऋतु में लगभग सारे देश में आंधी और अंधड़ आते ही नहीं। हिमालय पर्वत पर वर्ष में लगभग 10 दिन ओला-आंधी आती है। बंगाल के निचले भाग, बिहार, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में ओला-आंधी साल में अपेक्षाकृत कम आती हैं। अब तक की प्राप्त सूचना के आधार पर सबसे बड़े ओले का व्यास लगभग 5 इंच पाया गया है और वजन लगभग डेढ़ पौंड। ज्यादातर छोटे आकार के ओले ही गिरते हैं।

5. **तापमान :** यह तो सभी जानते हैं कि खेती करने के लिए ताप बेहद जरूरी हैं और इसी कारण ताप के स्रोत सूरज की किसान भी पूजा करते हैं। भारत के विभिन्न स्थानों में वर्ष के

अलग-अलग भागों में औसत दैनिक अधिकतम तापमान **सारणी** 5 में दिया गया है । दक्षिण में और भारत के मध्य भागों में मार्च, अप्रैल और मई के महीनों में अधिकतर दिनों का तापमान 10° **फैरेनाइट** (फं०) या 38° सें० रहता है । दक्षिण में यह वृद्धि 20 मार्च से 30 मई के मध्य होती है । परन्तु जैसे वर्षा शुरू होती है, अधिकतम तापमान की गति उत्तर-पश्चिम की ओर बदल जाती है । जुलाई और अगस्त में मद्रास का तापमान भी काफी बढ़ जाता है । गर्मियों की गरम हवाएँ फसलों के लिए उतनी ही हानिकारक होती हैं, जितनी कि सर्दियों की सर्द हवाएँ । गर्मियों में बंजर जमीन की ऊपरी परतों पर अत्यधिक गरमी पड़ने के कारण कई प्रकार के जीवाणु, फफूंद और हानिकारक कीड़े मर जाते हैं और इस प्रकार आगे बोयी जाने वाली फसल को फायदा पहुँचता है । अत्यधिक धूप से कुम्हला जाने वाली फसलों जैसे चाय, काफी और छोटी इलायची के बागानों में किसान छायादार पेड़ उगाकर सायबान सा लगा देते हैं जिनके नीचे ये फसलें उगायी जाती हैं ।

6. **ठण्डी हवाएँ और पाला :** उत्तरी-पश्चिमी भारत में अक्तूबर से मौसम साफ होने लगता है और दिसम्बर के प्रथम सप्ताह तक आमतौर पर सारे देश का मौसम साफ हो जाता है । इसका अपवाद केवल सुदूर दक्षिण-पूर्वी प्रायःद्वीप है, जहां पीछे हटते हुए मानसूनी बादल वर्षा लाते हैं । **सारणी** 6 में देश के विभिन्न भागों का औसत दैनिक तापमान दिखाया गया है । भारत में दिसम्बर के प्रारम्भ से ही ठण्डा मौसम आ जाता है । इन महीनों में पश्चिमी हवा का दबाव अधिक होता है । उत्तर और उत्तरी पश्चिम से ठण्डी शुष्क हवाएँ चलती हैं । दक्षिणी पठार के उत्तरी क्षेत्रों का निम्नतम ताप-

सामान्य ताप से भी 20° फै० (11° सैं०) नीचे आ जाता है और प्रायःद्वीप तथा देश के दक्षिणी भाग के सामान्य ताप से लगभग 10° फै० (5° सैं०) तक गिर जाता है। खुले आसमान के नीचे खेतो में उगाई जाने वाली फसलों का ताप वायुमण्डल के ताप से 10° फै० नीचे रहता है। इस प्रकार कभी-कभी फसलों का न्यूनतम तापमान हिमांक (बर्फ जमने के ताप) से भी नीचे आ जाता है। उत्तरी पंजाब में दिसम्बर, जनवरी और फरवरी के महीनों में हर महीने लगभग 10 से 20 दिन तक पाले का भय बना रहता है। पर ज्यों-ज्यों दक्षिण या पूर्व दिशा की ओर बढ़ते हैं पाले से होने वाली हानि त्यों-त्यों कम होती जाती है। भारतीय मौसम विज्ञान विभाग द्वारा रेडियो प्रसार या तार द्वारा 24—28 घण्टे पूर्व हवा या पाले के बारे में चेतावनी दे दी जाती है, ताकि किसान आवश्यक बचाव के लिए कार्यवाही कर सकें।

सामान्यतया रात को चलने वाली ठण्डी हवाएँ घाटी की तलहटी में जमा हो जाती हैं। अतः पाले वाली घाटियों में बागानी पौधे और फलोद्यान नहीं लगाने चाहिएँ। बगीचे और फलों की फसलों के लिए ढलवां क्षेत्र सबसे उत्तम पाये गये हैं। वातरोक के रूप में लगाये वृक्षों के नीचे उगे हुए पौधों पर पाले और ठण्ड का असर बहुत कम पड़ता है। इस प्रकार छायादार पेड़ों का सायबान मामूली पाले से फसलों का बचाव करता है। चटाइयां, कागज, कपड़े या सिलोफेन से भूमि को ढककर मूल्यवान फसलों की पाले से रक्षा की जा सकती है। बागों में घास फूस के छोटे छोटे ढेर जला कर गरमी पहुँचाई जा सकती है। कभी-कभी घास फूंस जलाने से 10° फै० तक ताप बढ़ जाता है। पाले से फसलों

को बचाने के लिए धुंआ करना अधिक प्रभावकारी नहीं पाया गया है क्योंकि धुंआ न तो धरती के अन्दर से निकलने वाली गरमी को वायुमण्डल में मिलने से रोक सकता है और न इस गरमी को फिर मिट्टी में वापिस भेजने की क्षमता रखता है। यदि ठण्डी हवायें केवल थोड़े समय के लिए ही आती हैं तो इस दौरान में सिंचाई लाभदायक पाई गई है। जब बहुत समय तक काफी ठण्ड पड़ती है तब सिंचाई द्वारा फसलों का पाले से अधिक बचाव नहीं हो पाता क्योंकि मिट्टी के नम हो जाने के कारण वाष्पन क्रिया शुरू हो जाती है और सूरज की जो गर्मी पाले को नष्ट करने के काम आती है उसका काफी भाग मिट्टी की नमी को उड़ाने में खर्च हो जाता है।

6. **धूप** : सामान्य रूप से धूप फसलों को लाभ पहुँचाती है। पर कुछ विशेष दशाओंको छोड़ कर इसके अभाव का फसल पर कोई अधिक बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। वर्षा ऋतु में धूप न मिलने से पौधों को उतना नुकसान नहीं पहुँचता जितना अधिक वर्षा के कारण होता हैं। फिर भी जब पौधों पर फूल आ रहा हो यदि उस समय लगातार बदली छायी रहती है और धूप नहीं निकलती तो पौधों को हानि पहुँचती है। इस प्रकार के मौसम में रोगों के कीटाणुओं और पौधों की बीमारियां बढ़ने की सम्भावना बनी रहती है।

7. **तेज हवाएँ** : चक्रवात, ऋवनमनी हवाएँ, आंधी, अंधड़, इत्यादि के दौरान तेज हवाएँ भी चलती हैं। तेज हवाओं द्वारा फसलों और पेड़ों को जो सामान्य हानि पहुंचती है, उससे सब परिचित हैं। यदि हवा ठंडी हो, तो पाला पड़ता है। इसके विपरीत यदि हवा गरम और शुष्क हो, तो जलाशयों से होने वाले वाष्पीकरण और पौधों में होने वाले वाष्पोत्सर्जन में काफी वृद्धि होती

है। ऐसे अवसरों पर पौधे मुरझा या सूख जाते हैं और उनके तेजी से सूखने के कारण फसलों पर आये दाने दूधिया-काल में ही सिकुड़ जाते हैं। वृक्षों की पंक्तियां वातरोक के रूप में यदि हवा की बहने वाली दिशा की ओर लगाई जाती हैं तो वे फसलों को गिरने से बचा लेती हैं, खड़ी फसल के दाने झड़ते नहीं, मिट्टी की नमी कम उड़ती है और वातरोकी वृक्षों से छाया तथा इमारती लकड़ी मिलती है। वातरोक को वास्तविक रूप से प्रभावशाली बनाने के लिए मध्य पंक्ति में ऊँचे पेड़, उसके पास वाली अगल-बगल की पंक्तियों में छोटे पेड़ तथा अंत में दोनों ओर झाड़-झंकाड़ की पंक्तियां होनी चाहिएं। इस प्रकार के वातरोक हवा के प्रवाह को ऊपर की ओर मोड़ देते हैं और बहने वाली हवा का जोर धरातल तक आते-आते काफी कम हो जाता है। इन वातरोकों द्वारा घिरी जमीन के कारण जो हानि होती है उसकी पूर्ति दो तरह से हो जाती है (1) आसपास के इलाकों की फसल हवा की मार से बच जाती है और (2) वातरोक में खड़े पेड़ों से इमारती लकड़ी और ईंधन प्राप्त होता है।

कृषि-मौसम-पंचांग

फसल का अच्छा या बुरा होना अनेक बातों पर निर्भर करता है जैसे मौसम की दशा, उगाई जाने वाली किस्में, रोग और कीट व्याधियां, भूमि की उर्वरक क्षमता, खाद, सिंचाई और अन्य कृषि क्रियाएं। परन्तु अकेला मौसम ही उपज में इतनी घटत-बढ़त की क्षमता रखता है, जितनी ऊपर बताई शेष बातें मिल कर भी नहीं रखतीं। फसल के नाजुक दिनों में अच्छा या खराब मौसम

अधिक उत्पादन की संभावनाओं को बना या बिगाड़ सकता है। अतः लाभकर खेती के लिए फसल को अपने विकास की अवस्थाओं में मौसम के जिन जोखिमों को सहना पड़ता है, उनका ज्ञान होना जरूरी है। इस प्रकार की सूचना देने के लिए भारतीय मौसम-विज्ञान अनुभाग ने एक कृषि-मौसम-पंचांग तैयार किया है। यह पंचांग किसानों, प्रसार कार्यकर्ताओं, मौसम-विज्ञान कार्यकर्ताओं और कृषि में रुचि रखने वालों अन्य लोगों के लिए मार्ग दर्शक तथा उपयोगी पाया गया है। विभिन्न जिलों में उगाई जाने वाली मुख्य-मुख्य फसलों के पंचांग भी भारतीय मौसम-विज्ञान विभाग, पूना के कृषि मौसम विज्ञान अनुभाग से प्राप्त किये जा सकते हैं।

मौसम—सूचना—सेवा

पूना स्थित भारतीय मौसम विभाग ने देश भर में मौसम-वेधशालाओं का जाल बिछा दिया है। इस समय देश में धरातल पर, लगभग 300 वेधशालाएँ, 50 परखाऊ गुब्बारे केन्द्र, 13 रेडियो-ध्वनि केन्द्र, 100 मौसम-विज्ञान केन्द्र, 50 फसल मौसम-वेधशालाएँ और लगभग 3000 वर्षामापी केन्द्र हैं। ये वायुमंडल के दबाव, ताप, आर्द्रता, हवा, वर्षा, बादल और फसलों इत्यादि के बारे में सूचना देते हैं। इस के आधार पर मद्रास, बम्बई, नागपुर, दिल्ली और कलकत्ता स्थित 5 क्षेत्रीय मौसम-सूचना-केन्द्र अपनी दैनिक मौसम-सूचना-रिपोर्ट, भविष्यवाणियाँ और चेतावनियां तैयार करते हैं। क्षेत्रीय केन्द्रों द्वारा किसानों के लिए मौसम-बुलैटिन भी तैयार किये जाते हैं। इनमें वर्षा के आने, सम्भावित वर्षा की तेजी और समय, वर्षा में अन्तर पड़ने, जोरदार वर्षा और अन्य मौसमी घटनाओं इत्यादि का

हवाला होता है। वेधशालाओं की कमी, देश के विभिन्न भागों में जलवायु सम्बन्धी विविधता, मौसम की प्राकृतिक क्रियाओं का रूपान्तर होते रहना आदि अनेक कारणों से मौसम-सूचना-सेवा की क्षमता आज सीमित है और इसीलिए आज इसके लिए मौसम के बारे में ठीक-ठीक भविष्यवाणी करना कठिन है। मौसम सम्बन्धी आमतौर पर ये सूचनायें आकाशवाणी के सभी स्टेशनों पर प्रत्येक दिन सांयकाल ग्रामीण कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रसारित की जाती हैं।

भारतीय मौसम-विज्ञान विभाग अनेक प्रकाशन भी निकालता है। इनमें से कुछ प्रकाशन किसानों के मतलब के भी होते हैं। किसानों को मौसम सम्बन्धी सभी प्रकार की सूचनायें देने के लिए सरकार की ओर से एक कृषि मौसम विज्ञान का निदेशक नियुक्त है। अतः जब भी जरूरत पड़ने पर किसानों को उनसे आवश्यक सलाह लेनी चाहिए। उनका पता है :- कृषि मौसम विज्ञान के निदेशक, मौसम-विज्ञान कार्यालय, पूना।

2.

भारत की मिट्टियां

वायुमण्डल और मिट्टी दो ऐसी बुनियादी चीजें हैं जो धरातल पर पौधों के उगने और बढ़ने में मुख्य सहायता पहुँचाती हैं। इन दोनों में भी संभवत: मिट्टी अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि पौधे अपनी खुराक के सभी आवश्यक तत्व इसी से प्राप्त करते हैं। मिट्टी केवल पौधों के आहार और जल अंश का भंडारगृह ही नहीं है वरन् यह पौधों को खड़ा होने में प्रत्यक्ष सहारा भी देती है और उनको मजबूती से जमाने में मदद करती है। इसके अतिरिक्त मिट्टी के कणों के बीच में कुछ रिक्त स्थान होते हैं जिनमें हवा घूमती रहती है। इस तरह पौधों की जड़ों को बराबर वायु मिलती रहती है।

वनस्पति जीवन के लिए इतनी महत्वपूर्ण यह मिट्टी, पृथ्वी की पपड़ी की एक ऐसी पतली पट्टी होती है, जो चट्टानों के टूटने-फूटने और विघटन से बनी है और जिसमें जटिल रचनाधारी खनिज पदार्थ, जीवाणु, फफूंद और छोटे बड़े अनेक प्रकार के कीड़े-मकोड़े रहते हैं।

पौधों को उगाने और फसलें पैदा करने में मिट्टी के महत्व को मनुष्य आदि काल से ही जान गया था। भारत में तो बहुत सदियों पहले ही मिट्टियों को गुण-धर्मों के अनुसार वर्गीकृत कर लिया गया था और अलग-अलग प्रकार की फसलों के लिए विभिन्न प्रकार

की मिट्टियों की उपयुक्तता का पता लगा लिया गया था । यहां पर मालगुजारी आदि की प्रथा भी सदियों पूर्व प्रचलित थी ।

मिट्टी को बनाने वाली बुनियादी सामग्री

मिट्टियां चट्टानों की टूट-फूट, विघटन तथा उनमें मौजूद वनस्पति और जन्तु अवशेषों के संयोग से बनी हैं ।

आमतौर पर चट्टानों से ही मिट्टी की बुनियादी सामग्री प्राप्त होती है । मिट्टी को निर्माण करने वाली मुख्यत: तीन प्रकार की चट्टानें पाई जाती हैं । (1) आग्नेय चट्टानें, (2) तलछटी चट्टानें, और (3) कायान्तरित चट्टानें ।

आग्नेय चट्टानें (Igneous Rocks) : ये चट्टानें ज्वालामुखी से निकले विभिन्न प्रकार के लावा के जमने और उसके स्फटीकरण से बनती हैं । इस प्रकार निर्मित मिट्टियों की रासायनिक रचना काफी अलग-अलग होती है । जिन चट्टानों में क्वार्ट्स नाम का खनिज अधिक अंश में मौजूद होता है उन्हें अम्लीय चट्टानें (Acidic Rocks) कहते हैं । जिन चट्टानों में लोहा, अल्यूमीनियम, कैल्शियम, मैगनेशियम, सोडियम, आदि जैसे समक्षारीय तत्व मौजूद होते हैं वे समक्षारीय चट्टानें (Basic Rocks) कहलाती हैं । भारत में आग्नेय चट्टानों के अंतर्गत आमतौर पर ग्रेनाइट जैसी अम्लीय और बासल्टी जैसी समक्षारीय चट्टानें पाई जाती हैं ।

तलछटी चट्टानें (Sedimentary Rocks) : इन चट्टानों की बुनियादी सामग्री भी आग्नेय चट्टानों से ही प्राप्त होती है । ये मिट्टियां चट्टान-सामग्री के खंडित टुकड़ों और पानी द्वारा उनके विघटित अंशों के जमा होने से बनी हैं । तलछटी चट्टानों में अधिकांशत:

पिंड, शिला, कौंगलेमैरैट्स (सम्पींड़), रेतीली पत्थरधारी चट्टानें होती हैं तथा चिकने और स्लेटी पत्थर होते हैं। इनमें से कुछ में चूना होता है और कुछ में नहीं होता। चूना-पत्थरी चट्टानों में से कुछ में सम्पूर्ण रूप से कैल्शियम कार्बोनेट मौजूद होता है या कैल्शियम कार्बोनेट और मैगनेशियम कार्बोनेट मौजूद होता है। या कैल्शियम कार्बोनेट का मिश्रण होता है। जलोढ़ हिमखंडीय और झीलधारी जमावटें तथा वायूढ़ जमावटें अदृश्य भूत तलछटी चट्टानें कहलाती हैं।

कायान्तरित चट्टानें (Metamorphic Rocks) : ये चट्टानें आग्नेय या तलछटी चट्टानों से बनती हैं। अत्यधिक ताप या दाब अथवा दोनों की उपस्थिति में मिट्टी बनावट और खनिज-संगठन में काफी बदल जाती हैं। गिनीसिस, क्वार्टजाइट और रेतीले पत्थर कायान्तरित चट्टानों के प्रमुख उदाहरण हैं।

चट्टानों में रासायनिक रचना की दृष्टि से बड़ी भिन्नता होती है। **सारिणी** 7 में चार प्रकार की मिट्टियों की रासायनिक रचना दी गयी है।

आग्नेय चट्टानों के अम्लीय वर्ग की चट्टानों में 60 से 75 प्रतिशत सिलिका (रेत) होता है, समक्षारीय (बेसिक) चट्टानों में यह 50 प्रतिशत से कम होता है तथा चूनापत्थरधारी चट्टानों में मुख्य रूप से कैल्शियम और मैगनेशियम कार्बोनेट होता है।

मिट्टी निर्माण की प्रक्रिया

मिट्टियां अपनी बुनियादी चट्टानों के यांत्रिक टूट-फूट और रासायनिक विघटन से बनती हैं। इन बुनियादी चट्टानों के टूटने

ग्रौर विघटित होने के दो कारण हो सकते हैं : भौतिक छीजन ग्रौर रासायनिक विघटन ।

भौतिक छीजन से मिट्टी-निर्माण : भौतिक छीजन में मुख्य रूप से गर्मी, पानी, वनस्पति ग्रौर जन्तुग्रों की चट्टानों पर प्रक्रिया होती है जिसके कारण मिट्टी का निर्माण होता है । समशीतोष्ण ग्रौर ठण्डे प्रदेशों में चट्टानों में स्थित खनिजों के प्रसार ग्रौर संकुचन से कुछ ग्रांतरिक तनाव पैदा होते जाते हैं । इनके कारण चट्टानें खंडित हो जाती हैं । इसके ग्रतिरिक्त विशेष रूप से नम दशाएँ ग्रौर ग्रत्यधिक ऊँचे ताप भी चट्टानों के विघटन करने में मदद करते हैं ।

बहते पानी, झील ग्रौर समुद्र तटों की लहरों ग्रौर ग्रत्यधिक पर्वतीय क्षेत्रों में हिम खंडों के चट्टानों से टकराने के कारण मिट्टी निर्माण होता है । जब बहुत तेज वर्षा पड़ती है तो पानी चट्टानों से ठोस कणों को बहा कर ले जाता है । ये कण बाढ़ों द्वारा, चश्मों, नदियों ग्रादि के निचले क्षेत्रों में ग्रौर नदी के मुहानों में तथा सागर की तलछटी में जमा हो जाते हैं ।

रेगिस्तानी, ग्रर्ध रेगिस्तानी क्षेत्रों ग्रौर सूखी नदी घाटियों में रेतीले तूफान तथा सागर के ऊपर चलने वाली ग्रत्यधिक गति से बहने वाली पवन न केवल चट्टानों का क्षरण करती है वरन् वह चट्टानी कणों को इधर से उधर पहुँचाती भी है । साथ ही यह नमी वाले इलाकों में गीली मिट्टी को सुखाने का काम भी करती है ।

नंगी चट्टानों पर चिपटी काई, सेवार या शैवालें उनको धीरे-धीरे विघटित करती रहती हैं । चट्टानों की तरेड़ों में उगी घास, झाड़ियां ग्रौर वृक्षों की जड़ें ग्रपनी बढ़त से इन तरेड़ों को ग्रौर

अधिक बड़ा कर देती हैं। जब ये पौधे नष्ट हो जाते हैं तो इनकी पत्तियां, तने और जड़ें, नयी बनी हुई मिट्टी को अपने जैविक अवशेषों से अधिक उपजाऊ बना देते हैं। पीटधारी (पत्थर कोयले में रूपान्तरित होने से पूर्व की अवस्था वाला खनिज) मिट्टियों और वनधारी समतल भू-खंडों की अधिकांश मिट्टी में ऐसे ही जैविक अवशेष मिलते हैं। समुद्र में रहने वाले जीव-जन्तु मूंगाधारी चट्टानों, चूनेधारी चट्टानों और इसी प्रकार की दूसरी जमावटों को बनाने के काम में बराबर लगे रहते हैं। शंख-सीपी वर्ग के जीव, केंचुए, इल्लियां, दीमक, चींटी, छछुन्दर, चूहे और फसलों को नुकसान पहुँचाने वाले जन्तु मिट्टी को खोदते हैं जिससे कठोर मिट्टी ढीली पड़ जाती है या नीचे से निकली हुई मिट्टी ऊपर की तह से मिल कर उसकी संरचना में परिवर्तन कर देती है। मिट्टी में रहने वाले फफूंद और जीवाणु उपस्थित जैविक सामग्री को विघटित करके जीवांश (ह्यूम्स) में परिवर्तित करते हैं। मिट्टी में रहने वाले कुछ जीवाणुओं में ऐसी भी शक्ति होती है कि वे हवा की नाइट्रोजन को लेकर मिट्टी के साथ रासायनिक संयोग करा देते हैं जिसके कारण मिट्टी में विभिन्न नाइट्रोजनधारी पदार्थ बन जाते हैं।

रासायनिक विघटन द्वारा मिट्टी निर्माण

मिट्टी बनाने के लिए चट्टानों का रासायनिक विघटन आमतौर पर जिन प्रक्रियाओं द्वारा होता है उनमें घोल, जल-विश्लेषण, कार्बनीकरण, आक्सीकरण और अपचयन (पदार्थों से आक्सीजन हटाने की प्रक्रिया) प्रक्रियायें मुख्य हैं। पानी द्वारा विभिन्न पदार्थों को घोलने की प्रक्रिया जिप्सम व चूनेपत्थर की चट्टानों और चूनेधारी जैसी घुलनशील चट्टानों से मिट्टी निर्माण

करने में सबसे अधिक महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। घुलने की यह प्रक्रिया नष्ट हुए वनस्पति और जन्तुओं के सड़न व छीजन से निकली कार्बन-डाइआक्साइड और जैविक तेजाबों की उपस्थिति में अधिक तेज हो जाती है। जिन चट्टानों में पोटेशियम, कैल्शियम, सोडियम और मैग्नेशियम पदार्थ उपस्थित होते हैं वे आसानी से पानी में घुल जाती हैं।

जल विश्लेषण द्वारा मिट्टी-निर्माण : इस प्रक्रिया में चट्टानों में उपस्थित खनिज और पानी के रासायनिक अंश एक दूसरे का स्थान ले लेते हैं जिसके कारण लोहा, मैगनीशियम, कैल्शियम और अल्यूमीनियम अनेक हाइड्रोआक्साइडों में परिवर्तित हो जाते हैं।

कार्बनिकरण द्वारा मिट्टी-निर्माण : यह प्रक्रिया जल विश्लेषण के साथ-साथ होती रहती है। मिट्टी में उपस्थित जल या नमी में सदैव ही कार्बन-डाइआक्साइड मौजूद रहती है। यह गैस या तो वायुमंडल से आती है या पौधे की जड़ों और अणु जीवों के श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया से निकलती है। यह मिट्टी में उपस्थित जैविक पदार्थों के विघटन से मुक्त होती है। जल विश्लेषण से बने हाइड्रो-आक्साइड इस कार्बन-डाइआक्साइड से मिल कर कार्बोनेट बना लेते हैं जो पानी के साथ चट्टानों से निकल कर बह जाते हैं या सूखे क्षेत्रों में मिट्टी में ही इकट्ठे होते रहते हैं। कार्बनीकरण की प्रक्रिया ऊँचे और अधिक वर्षा वाले इलाकों में बहुत तेजी से होती है। साथ ही घुलनशील कार्बोनेट भी यहां पर तेजी से पानी के साथ बह जाते हैं।

आक्सीकरण और अपचयन द्वारा मिट्टी-निर्माण : आक्सीजन चट्टानों में उपस्थित विभिन्न खनिजों के साथ मिल कर घुलनशील आक्साइड बनाती है। ये आक्साइड पानी में घुल कर चट्टानों को कम

जोर करते हैं और इस तरह वह विघटन के लिए जिम्मेदार होते हैं। मिट्टी में जो जीवाणु जैविक पदार्थों को सड़ाने का काम करते हैं वे सामान्य हाइड्रोक्साइडों से आक्सीजन लेकर आक्सीकरण की उल्टी क्रिया पैदा कर देते हैं जो मिट्टी विघटन में सहायक होती हैं। पदार्थों में आक्सीजन हटाने की इस क्रिया को ही अपचयन कहते हैं।

मिट्टी निर्माण एक जैविक रासायनिक प्रक्रिया है। मिट्टी बनाने में सहायक स्थानीय वातावरण की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार मिट्टियों को व्यापक रूप में आगे लिखे तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं :- (1) क्षेत्रीय मिट्टियां (2) अन्तर क्षेत्रीय मिट्टियां और (3) उपक्षेत्रीय मिट्टियां।

क्षेत्रीय मिट्टियां : इस प्रकार की मिट्टी के गुण-धर्म स्पष्ट दिखाई देते हैं और ये मिट्टी बनाने वाले क्रियाशील अंशों के प्रभाव से लम्बे अरसे में बनती हैं।

अन्तरक्षेत्रीय मिट्टियां : इनके बनाने में भूमि का ढलान, अवधि तथा बुनियादी सामग्री आदि स्थानीय अंशों और परिस्थितियों का विशेष हाथ होता है।

उपक्षेत्रीय मिट्टियां : यह ऐसी बुनियादी सामग्री से बनती हैं जिसका रूप करीब-करीब अपरिवर्तित हो। मिट्टी-निर्माण की सामग्री द्वारा दिये गये गुण-धर्म इस मिट्टी में कुछ स्पष्ट नहीं होते।

क्षेत्रीय मिट्टियों में टुंड्रा, पोडजोल्स, प्रेरी और रेगिस्तान की मिट्टियां शामिल हैं। भारत में खड़ी क्षेत्रीय मिट्टियों की मौसमी धरातल की पट्टियों के आधार पर लम्बारित क्षेत्रीकरण की दृटि से बांटा जा सकता है।

हिमालय-क्षेत्र में बहुत ऊँचाई पर वर्फीली टुंड्रा टाइप मिट्टियां पाई जाती हैं। इसमें नीचे 6,000 फुट की ऊँचाई पर कश्मीर के बिलकुल उत्तर में, कोनीफरस वनों में, कुल्लू क्षेत्र में, पंजाब में, उत्तर प्रदेश के कुमाऊँ क्षेत्र में और आसाम के उत्तर पूर्व में पोडसोल मिट्टियां पाई जाती हैं। पर्वतीय क्षेत्र की मिट्टियाँ, राजस्थान की रेगिस्तानी मिट्टियां, दक्खिनी पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की बादामी मिट्टियां, हिमालय की तराई की प्रेरीज और चैरनोजम मिट्टियां, बंगाल और मलाबार में लैटराइट मिट्टियां से देश की मिट्टियों के दूसरे गर्म और नम भौगोलिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करती है।

नदियों के द्वारा बनाई गई नयी जलोढ़ मिट्टियां और पर्वतीय तलहटियों की नव निर्मित रेतीली पथरीली मिट्टियां उपक्षेत्रीय वर्ग की मिट्टियों का उदाहरण हैं।

मिट्टियों को बनाने वाली चट्टानों के आधार पर इन के दो वर्ग होते हैं : तलछटी मिट्टी जो बुनियादी चट्टान पर बनती है और परिवाहित मिट्टी जो बुनियादी सामग्री के स्थानान्तरित होने पर उसके ऊपर बनती है। इन वर्गों को निम्नलिखित उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

तलछटी मिट्टियां

1. **अवशिष्ट मिट्टी :** यह मिट्टी बुनियादी रूप में अपने नीचे की पुरानी चट्टानों से बनती है।

2. **कुमलोज** (Cumulose) : इस प्रकार की मिट्टियां दलदलों, तालाबों, झीलों के विघटन से बनी हैं।

परिवाहित मिट्टी

परिवाहित मिट्टियों में हिमखंडी मिट्टी, कलिल मिट्टी, जलोढ़ मिट्टी, समुद्री मिट्टी, सरोवरीय मिट्टी, वायूढ़ मिट्टी आदि मुख्य हैं।

हिमखंडी मिट्टी, देहरादून क्षेत्र और कश्मीर के कुछ भागों में मिलती है। वायूढ़ मिट्टियां राजस्थान, पंजाब के कुछ भागों में तथा कच्छ में पायी जाती हैं।

मिट्टी का विकास

मिट्टी निर्माण एक बहुत धीमी किन्तु निरन्तर होने वाली क्रिया है। विशेष रूप से अधिक काल तक पड़ने वाली वर्षा मिट्टी निर्माण की क्रिया में महत्वपूर्ण भाग लेती है। गर्म और नम परिस्थितियों में चट्टानें अपेक्षाकृत शीघ्र टूटती हैं और चूना जैसी बुनियादी सामग्री मिट्टी से घुल कर बह जाती है। दूसरी ओर शुष्क और अर्ध शुष्क परिस्थितियों में मिट्टियों में आमतौर से कुछ बुनियादी यौगिक जैसे कैल्शियम, मैगनीशियम और सोडियम के कार्बोनेट और सल्फेट तथा सोडियम के क्लोराइड और बाइकार्बोनेट के रूप में रह जाते हैं।

क्षरण क्रिया चट्टानों को न केवल छोटे-छोटे टुकड़ों में ही तोड़ती है बल्कि बुनियादी सामग्री में रासायनिक परिवतन भी पैदा करती है। पानी की घुलन क्रिया से पौधों की बहुमूल्य खाद्य सामग्री नष्ट हो जाती है।

मनुष्य की अवस्था की तरह भूमि विकास की भी चार अवस्थायें होती हैं: बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था। प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त करने के लिए

भूमि का एक ही स्थान पर अधिक समय तक स्थिर रहना नितान्त आवश्यक है। हिमालय के सीधे सपाट गहराइयों वाले क्षेत्र में चट्टानों के टूटने और पर्वतीय तूफानों के कारण कोमल चट्टानों का विशाल समूह और बुनियादी सामग्री आसानी से बह जाती है। इसी प्रकार रेगिस्तानी क्षेत्रों में भी हवा द्वारा लाये गये रेत का जमाव बराबर मिट्टी के ऊपर होता रहता है। इसलिए इन स्थितियों में मिट्टियां कभी भी प्रौढ़ा या वृद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो पातीं। बाढ़ वाले क्षेत्रों में भी मिट्टी पर ताजी जलोढ़ सामग्री जमती रहती है। यहां मिट्टी अपने विकास की अवस्था और आयु की दृष्टि से युवावस्था में रहती है। बाढ़ वाले स्थानों में नयी मिट्टियां अक्सर बहुत उपजाऊ होती हैं जबकि पथरीली, पहाड़ी ढलानों की नयी मिट्टी कृषि की दृष्टि से कम महत्व की होती है। बुनियादी सामग्री की भारी या हल्की बनावट पानी के बहाव को प्रभावित करती है और इस प्रकार भूमि के विकास पर भी उसका असर पड़ता है। इसी तरह पानी के बहाव का भी मिट्टी निर्माण की प्रक्रिया पर असर पड़ता है। जो मिट्टी ऊँचे स्थानों पर बनती है वह सूखी और दानेदार होती है और जहां वह नीचे स्थानों में बनती है वह चिकनी और सूखी होती है। हालांकि मिट्टियों की भिन्नता प्राकृतिक रूप में अपनी बुनियादी सामग्री के अन्तर पर निर्भर करती है फिर भी यह अन्तर मिट्टी निर्माण के अन्य अंशों जैसे जलवायु, भौगोलिक निरूपण और समय आदि से काफी प्रभावित होता है।

यदि वर्षा और ताप-दशाओं की परिस्थितियां कम या अधिक रूप में समान हैं और भूमि भयानक क्षरण की शिकार नहीं है, तो मिट्टियां संरचना में समान बन जाती हैं फिर भले ही उनका विकास विभिन्न बुनियादी चट्टानों से हुआ हो। आगे की **सारणी** में विभिन्न

बुनियादी सामग्री से विकसित मिट्टियों की प्रतिशत संरचना दी गयी है ।

विभिन्न बुनियादी चट्टानों से निर्मित मिट्टियों की रचना

आक्साइड	ग्रेनाइट	रेत का पत्थर	चूने का पत्थर
सिलिकन आक्साइड (SiO_2)	62.40	88.54	53.83
अल्यूमीनियम आक्साइड (Al_2O_3)	11.16	–	16.18
लोहा आक्साइड (Fe_2O_3)	7.09	–	8.10
मैग्नीशियम आक्साइड (MgO)	1.76	–	2.57
कैलशियम आक्साइड (CaO)	8.75	0.23	5.35
सोडियम आक्साइड (Na_2O)	–	–	–
पोटैशियम आक्साइड (K_2O)	1.65	0.56	1.81
मैगनीज़ आक्साइड (MnO)	–	–	–
फासफोरस आक्साइड (P_2O_5)	0.131	0.06	0.069
संरचना	चिकनी मिट्टी	—	चिकनी मिट्टी
नमूना उठाने की गहराई (इंचो में)	0.27	—	0.7

मिट्टी तलों के विभिन्न रचक

मिट्टी के विभिन्न रचक ठोस, तरल और गैस इन तीनों रूपों में मिलते हैं । मिट्टी के ठोस रचक रासायनिक और जैविक पदार्थ होते हैं । रासायनिक पदार्थ बुनियादी चट्टानों के भौतिक और

रासायनिक कटन-छटन से बनते हैं। मिट्टी के ठोस अंश के जैविक पदार्थ जीवित और मृत पौधे और पशु तथा उनके अवशेष होते हैं।

मिट्टी का तरल अंश मिट्टी का घोल कहलाता है। इस घोल में विभिन्न खनिज, घुलनशील पदार्थ, कार्बन-डाइआक्साइड और आक्सीजन होते है। मिट्टी के इसी घोल के द्वारा खनिज पोषक पदार्थ, नाइट्रोजन, पानी और कार्बन-डाइ-आक्साइड पौधे के शरीर में प्रवेश करते हैं।

मिट्टी के रचकों में तीसरी चीज गैसीय अंश होते हैं, जो मिट्टी कणों के बीच के रिक्त स्थान में गैस के रूप में भरे रहते हैं। कणों के इन छिद्रों में गैस के स्थान पर पानी भी हो सकता है। जब इन छिद्रों की गैस निकल कर उनमें पानी भर जाता है तो कहते हैं कि मिट्टी में पानी रुक गया है। ऐसा करने से पौधों की जड़ों और सूक्ष्म जड़ों को आक्सीजन नहीं मिल पाती जिसके कारण पौधों का विकास रुक जाता है और सूक्ष्म जीवाणु नष्ट होने लगते हैं। यह आक्सीजन इनको मिट्टी के गैसीय अंश से ही मिलते हैं।

मिट्टी सर्वेक्षण : भूमि का सही ढंग से और उचित रूप में उपयोग हो सके इसके लिए एक व्यापक योजना जरूरी होती है। इस योजना को बनाने के लिए विधिवत सर्वेक्षण द्वारा मिट्टी स्रोतों और साधनों की जानकारी आवश्यक होती है। इसीलिए मिट्टी सर्वेक्षण किया जाता है और सचाई तो यह है कि सभी प्रकार के मिट्टी अनुसंधान के लिए मिट्टी सर्वेक्षण पहला कदम है और तभी भूमि के उपयोग की एक दीर्घकालिक योजना तैयार की जा सकती है। भूमि सर्वेक्षण के मुख्य उद्देश्य ये हैं :

(1) विभिन्न वर्गों की मिट्टियों को एक समान वर्गीकृत प्रणाली का रूप देना और इस प्रकार समान नामपद्धति अपनाना

जिससे अलग-अलग क्षेत्रीय मिट्टियों की तुलना आसानी से की जा सके। (2) विभिन्न प्रकार की मिट्टियों के भौगोलिक वितरण के नक्शे बनाना (3) विभिन्न फसलों, घासों और वृक्षों की अनुकूलता के रूप में मिट्टियों की परिभाषा करना, (4) भूमि के उचित उपयोग और प्रबन्ध को दृष्टि में रखते हुए प्रबन्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं की जांच करना और (5) विभिन्न फसलों की उपज के आँकड़े बताना।

सर्वेक्षण पद्धति में मिट्टियों का वर्गीकरण उनके ऐसे समान भौतिक गुणों के आधार पर किया जाता है जिन गुणों को खेत की मिट्टी में आसानी से पहचाना जा सकता है। मिट्टी की बनावट, संरचना, धरातली मिट्टी का रंग, विभिन्न परतों में कार्बोनेटों की उपस्थिति या अनुपस्थिति, अम्लीयता की मात्रा, प्राकृतिक वनस्पति, बुनियादी चट्टान की प्रकृति, मिट्टी निर्माण करने वाले तत्व और मिट्टियों की सम्भावित आयु आदि कुछ ऐसे मुख्य तत्व हैं जो मिट्टियों को विभिन्न वर्गों में रखने और उनकी परिभाषा करने के काम आते हैं। खेतों का निरीक्षण प्रयोगशाला के अध्ययन द्वारा किया जाता है।

भारतीय मिट्टियों की किस्में

अब तक की गई खोजबीन से जो वैज्ञानिक सूचना प्राप्त हुई है उसके आधार पर भारत की मिट्टियों को नीचे लिखे मुख्य वर्गों में बांटा जा सकता है :

(1) जलोढ़ मिट्टियां, इनमें डेल्टाई जलोढ़, तटीय जलोढ़ और भीतरी जलोढ़ मिटिट्यां शामिल हैं।

(2) अलग-अलग किस्म की काली मिट्टियां, इनमें काली या दक्षिणी पठार की काली रेगुड़ मिट्टी शामिल है।

(3) लाल मिट्टियां, इनमें लाल दुमट, बलुई और पीली मिट्टियां शामिल हैं ।

(4) लेटराइट किस्म की मिट्टियां

(5) पहाड़ी मिट्टियां

(6) शुष्क और रेगिस्तानी मिट्टियां

(7) लवणीय और क्षारीय मिट्टियां

(8) पीट मिट्टी और दूसरी कार्बनिक मिट्टियां

ऊपर लिखी हुई किस्मों में से केवल पहली चार का ही अब तक गहन अध्ययन हो पाया है । इन मिट्टियों के गुण धर्मों का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया गया है ।

जलोढ़ मिट्टियां : इन मिट्टियों को सिंधु-गंगा की जलोढ़ मिट्टी भी कहा जाता है । यह मिट्टी सबसे अधिक विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई है जिसका क्षेत्रफल 3,00,000 वर्ग मील है । ये मिट्टियां राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल के अधिकांश भागों में और असम तथा उड़ीसा के कुछ भागों में पाई जाती हैं । ये मिट्टियां असम के सुरमा और ब्रह्मपुत्र, मध्य प्रदेश के नर्बदा और ताप्ती तथा दक्षिण में गोदावरी, कृष्णा और कावेरी की घाटियों में पाई जाती हैं । तटों पर जो नदियों के डेल्टे हैं उनमें डेल्टाई जलोढ़ मिट्टी पाई जाती है । हिमालय पर्वतमाला के साथ-साथ जो लम्बा भाबर का इलाका चला गया है और उसके एकदम नीचे जिसे उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में तराई कहते हैं, इसी वर्ग की मिट्टी वाले क्षेत्र हैं । अहमदावाद की रेतीली मिट्टियां और बम्बई में कैरा की दुमट मिट्टियां भी इसी जलोढ़ वर्ग की हैं ।

जलोढ़ किस्म की मिट्टियों को दो मुख्य वर्गों में बांटा गया है :

(1) पुरानी जलोढ़ मिट्टी और (2) नयी जलोढ़ मिट्टी ।

पुरानी जलोढ़ मिट्टी को स्थानीय भाषा में बांगर कहते हैं । यह मिट्टी बेकार हुई जा रही है लेकिन नई जलोढ़ मिट्टी, जिसे खादर कहते हैं, का निरंतर विकास हो रहा है ।

अलग २ मिटिट्यां बनावट और सघनता में काफी भिन्न होती हैं । रेतीली दुमट और सिल्ट वाली मटियार से लेकर भारी चिकनी मिट्टियां तक पाई जाती हैं । इनमें जल-निकास अच्छा नहीं होता और कभी-कभी इनमें सोडियम लवण जमा हो जाते हैं, जिनसे भूमि ऊसर बन जाती है । इनका रंग प्रायः हल्का भूरा या पीला होता है लेकिन मध्य भारत और दक्षिण में नर्बदा, ताप्ती और कृष्णा की घाटियों में इनका रंग काला होता है ।

इन मिट्टियों की विभिन्न परतों में कोई सुनिश्चित अंतर नहीं होता और उनका बाहरी रूप प्रायः विशेष स्तर-विन्यास से भिन्न होता है । **सारणी** 8 में उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले की तीन विभिन्न स्थलाकृतियों सम्बन्धी स्थितियों का विवरण दिया गया है ।

जलोढ़ मिट्टियों में प्रायः नाइट्रोजन अगलित जीवांश (ह्यूमस) और कभी-कभी फासफोरस की भी कमी होती है । पोटाश की मात्रा प्रायः अधिक होती है जो 0.65 से 0.70 प्रतिशत के बीच होती है । ब्रह्मपुत्र के मैदान में यह 0.25 से लेकर 0.65 प्रतिशत तक होती है । इनमें चूना अंश अलग-अलग होता है । यहां तक कि पास-पास की मिट्टियां भी चूना अंश में बहुत भिन्न होती हैं । इन मिट्टियों में कंकड़ सब जगह पाया जाता है । कहीं

पर कंकड़ मिट्टी के ऊपरी तल में मिला होता है और कहीं-कहीं वह उसके भिन्न-भिन्न तलों में पाया जाता है।

उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी राजस्थान के इलाके में और दक्षिणी पंजाब के फिरोजपुर और संगरूर जिलों में कई स्थानों में यह जलोढ़ मिट्टी आंधी द्वारा लायी गयी मिट्टी से ढकी होती है और प्रायः अनुपजाऊ होती है। पूर्वी राजस्थान में लूणी नदी के किनारे दुमट मिट्टियां हैं लेकिन उनमें से कुछ में क्षारीय लवणों का अंश है। पश्चिमी और केन्द्रीय पंजाब में मुख्यतया दुमट और रेतीली दुमट मिट्टियां हैं, जिनमें बीच में कहीं-कहीं चिकनी मिट्टी के खंड पाये जाते हैं। अम्बाला, करनाल और रोहतक, आदि पूर्वी जिलों में उपजाऊ दुमट मिट्टी से लेकर भारी चिकनी मिट्टियाँ तक पाई जाती हैं।

ज्यों-ज्यों हम उत्तर प्रदेश में उत्तर पश्चिम से दक्षिण पूर्व की ओर जाते हैं मिट्टियाँ भारी होती जाती हैं। आगरा, मथुरा, अलीगढ़, मेरठ के जिलों और दिल्ली, जहां पर मिट्टी की दशा अर्ध शुष्क है, प्रायः क्षारीय मिट्टियों के खंड तथा आंधियों से लायी गयी रेत से ढकी हुई जलोढ़ मिट्टियां मिलती हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश में और उसके समीप बिहार राज्य में बहुत सा क्षेत्र निचला है और वहां बाढ़ों से प्रायः हानि होती है। फिर भी नयी लायी गयी सिल्ट से मिट्टियों का उपजाऊपन बढ़ जाता है और उसके फलस्वरूप बहुत अच्छी रबी की फसलें होती हैं।

ऊँचे क्षेत्रों की मिट्टी प्रायः उन पीली चिकनी मिट्टी से बनती है, जिसमें कंकड़ जमा होते रहते हैं। इन पर हिमालय से निकल कर गंगा में मिलने वाली नदियों की धार पड़ती रहती है।

जब इनमें बाढ़ आती हैं तो ये अपने साथ रेत लाती हैं और उसे यहां छोड़ देती हैं ।

बंगाल में जहां पर वर्षा बहुत अधिक होती है और जहां नदियों की चाल प्रायः धीमी हो जाती है नदियों के किनारों की मिट्टियों में तलछट अधिक मात्रा में होती है और तट से दूर प्रायः चिकनी मिट्टी होती है। कलकत्ता के निकट डेल्टाई भूमि को छोड़ कर बंगाल में प्रायः सारी भूमि नदियों द्वारा लाई हुई पुरानी मिट्टी ही है ।

असम में तेज बहने वाली ब्रह्मपुत्र-नदी-घाटी में अधिकतर रेत और रेतीली दुमट मिट्टियां हैं, जबकि धीरे-धीरे बहने वाली सूरमा नदी के मैदानों में अच्छी मिट्टियां जैसे तलछटी और चिकनी मिट्टियां पाई जाती हैं। यहां वर्षा अधिक होने के कारण मिट्टियां और अधिक कणाकार हो जाती है। जलोढ़ मिट्टियां गेहूं, कपास, मक्का, मोटे अनाज, धान, तिलहन, गन्ना, तरकारियों और तरह-तरह के फलों की पैदावार के लिए उपयुक्त होती हैं। जहां सिंचाई की सुविधायें प्राप्त हैं और अधिक खाद दी जाती है वहां जलोढ़ मिट्टियों से फसलों की उपज अधिक होती है। बंगाल, बिहार, असम और उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों की मिट्टियां पटसन पैदा करने के लिए उपयुक्त हैं ।

काली कपासी मिट्टी : इस मिट्टी का रंग काला होता है और कपास पैदा करने के लिए यह अधिक उपयुक्त होती है। कहीं-कहीं इस मिट्टी को रेगूर भी कहते हैं ।

काली कपासी मिट्टी का क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत में दूसरा स्थान है। यह 2,00,000 वर्ग मील क्षेत्र में फैली हुई है। यह

यदि भूमि पर वनस्पतियां न उगी हुई हों तो जल और वायु उसको आसानी से काटने लगते हैं और मिट्टी कटकर बह जाती है जिससे धरती में छोटे छोटे कटाव पड़ जाते हैं
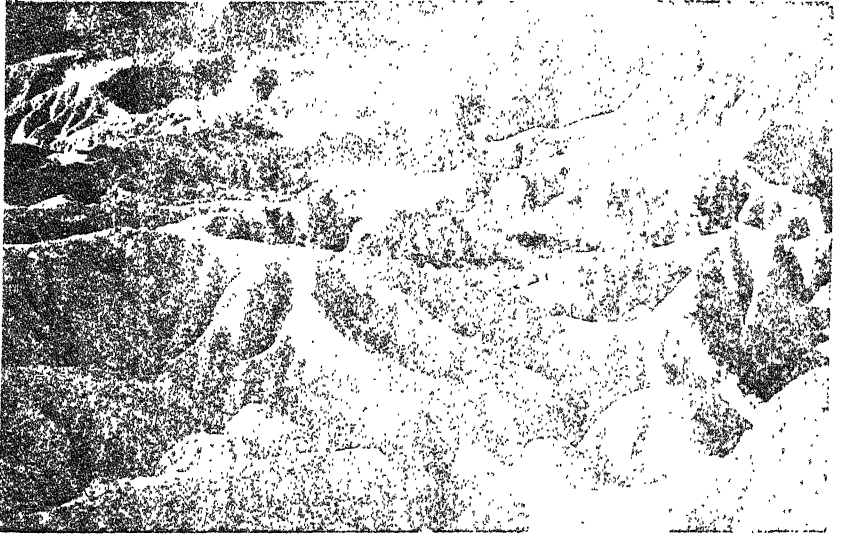
यदि भूक्षरण की क्रिया को समय पर रोकने की कोशिश नहीं की
जाती तो जल और वायु की चोट से बने कटाव बड़े बड़े
खड्डों और नालों का रूप धारण कर लेते हैं और अंत
में भूमि खेती के लिए बेकार हो जाती है

केन्द्रीय और पश्चिमी मध्य प्रदेश में, लगभग सम्पूर्ण बम्बई राज्य में, उड़ीसा के दक्षिणी जिलों में, आंध्र प्रदेश के दक्षिणी और तटवर्त्तीय क्षेत्रों में और मैसूर के उत्तरी जिलों में भी पाई जाती है। उत्तर में राजस्थान के बूंदी और टोंक जिलों में भी काली मिट्टी पाई जाती है। कई इलाकों में विशेष रूप से देश के पूर्वी और दक्षिणी भागों में काली मिट्टी प्राय: लाल मिट्टी के समीप पाई जाती है। पहाड़ी इलाकों में लाल मिट्टी काली मिट्टी से इस तरह मिल जाती है कि दिखाई भी नहीं पड़ती। काली कपासी मिट्टी के क्षेत्रों में ज्यों-ज्यों पहाड़ों से दूर चलते हैं त्यों-त्यों इसकी पर्तें मोटी होती जाती हैं।

विंध्याचल और सतपुड़ा की ऊँची भूमि पर अवशेष मिट्टियां हैं जो मुख्य रूप से रेतीली और कंकड़ युक्त हैं। मालवा और दक्षिण के पठार में अवशेष मिट्टियां हैं जो बासाल्टी या लावाधारी चट्टानों से बुनियादी रूप में बनी हैं। दुमट मिट्टियों में पानी का निकास अच्छा होता है और इनमें बीच के दर्जे की उपजाऊ शक्ति होती है। केन्द्रीय और दक्षिणी विदर्भ (बरार) की सतही मिट्टियों का कुछ भाग मूलत: अवशिष्ट और कुछ जलोढ़ होता है। इनकी परत भूमि में गहराई तक जाती है और उनमें ऊँचे दर्जे की उर्वरा शक्ति होती है। ये एक तो दुमट होती हैं दूसरे मटियार होती हैं। इनके साथ चूना और पीली चिकनी मिट्टी की मोटी पर्तें होती हैं। पहाड़ों के नीचे भागों में हल्के काले रंग की मिट्टी पाई जाती है और इनकी बनावट मोटे कणों से युक्त होती है। ये छिछली और कम उपजाऊ होती हैं। केन्द्रीय और दक्षिणी गुजरात तथा दक्षिणी सौराष्ट्र की काली मिट्टियां बहुत अधिक गहरी और मुहाने की मिट्टियों से मिलती जुलती हैं।

मिट्टी निर्माण : वर्षा और स्थानीय दशाओं के अनुसार काली मिट्टियों की रासायनिक रचना में बहुत अंतर होता है । **सारणी** 9 में आंध्र प्रदेश के निजामाबाद के दो इलाकों की मिट्टियों की भौतिक बनावट दी गई है । जिन काली मिट्टियों में अधिक कार्बनिक पदार्थ होता है उसके कारण इनका रंग काला होता है । जिस क्षेत्र में कार्बोनेट और सल्फेट एकत्र होते हैं उसका रंग हल्का होता है । इनको जलोढ़ (एल्यूवियल) क्षेत्र भी कहते हैं । जिन इलाकों में समान रूप से सभी जगह अधिक वर्षा होती है वहां की मिट्टी में कार्बोनेट अधिक जमा हो जाता है ।

काली मिट्टियां भिन्न-भिन्न रंगों की होती हैं, इनका रंग गहरा काला, हल्का काला और चसनटी काला होता है । काले रंग का कारण यह है कि इस मिट्टी में टिटेनिफैरस मैगनाइट लोहे और एल्यूमिनियम के कार्बोनिक संयुक्त आदि होते हैं जिनमें अगलित जीवांश, कलिल और निर्जल लोहा और एल्यूमिनियम सिलिकेट आदि पदार्थ होते हैं ।

काली मिट्टियों में प्रायः नाइट्रोजन, फास्फोरिक तथा कार्बोनिक पदार्थों की कमी होती है लेकिन पोटाश, लोहा, चूना, एल्यूमिनियम, कैल्शियम और मैगनेशियम कार्बोनेट अधिक मात्रा में होते हैं । इनमें कुछ विशेष खनिज पदार्थों की अधिकता होती है । जब ये गीली होती हैं तो नर्म होती हैं परन्तु सूखने पर ये तड़क जाती हैं और इनके खंड-खंड हो जाते हैं । ये टुकड़े 2 से 4 इंच तक चौड़े और 1 से 4 इंच तक मोटे होते हैं । सभी काली मिट्टियों में नमी को रोकने की अधिक क्षमता होती है ।

इस वर्ग की मिट्टियाँ प्रायः अधिक उपजाऊ होती हैं और अच्छी खाद न दिये जाने तथा निरंतर खेती किये जाने पर भी इनमें

अच्छी पैदावार होती है। इस प्रकार की मिट्टी में पानी में घुलने वाले लवण अधिक होते हैं इसीलिए काली मिट्टी अधिक सिंचाई के लिये उपयुक्त नहीं होती। ये मिट्टियां कपास, खाद्यान्न और अलसी जैसे तिलहन की पैदावार के लिए अधिक उपयुक्त हैं। तरह-तरह की तरकारियां और नींबू वर्ग के फलों को भी इनमें सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

लाल मिट्टियां : लाल मिट्टियों में लाल दुमट और पीली मिट्टियां होती हैं। लाल मिट्टी वाला कुल क्षेत्र 2,00,000 वर्ग मील है। मद्रास, मैसूर के विशाल क्षेत्र, उत्तरी पूर्वी आंध्र प्रदेश और मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग वाली पट्टी से लेकर छोटा नागपुर और उड़ीसा में ये मिट्टियां पाई जाती हैं। प्रायः बिहार से संथाल परगना, वीरभूमि, पश्चिमी बंगाल के बकुंरा और मिदनापुर जिले, असम के खासी, जैनतिया, गारो और नागा की पहाड़ियां, उत्तरप्रदेश के झांसी, बांदा और हमीरपुर जिले तथा राजस्थान में अरावली पहाड़ी के पूर्वी भागों में भी ये मिट्टियां मिलती है।

इस वर्ग की मिट्टियां उन दानेदार और कायान्तिरित चट्टानों से बनी हुई मालूम होती हैं जिनमें ग्रेनाइट, जिनेसिस और शिस्ट अधिकांश मात्रा में होते हैं। साथ ही लोहे और मैगनेशियम खनिज की चट्टानें भी इसमें हैं। बाहरी रूपरेखा के आधार पर इन मिट्टियों को मुख्य रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है।

(1) लाल दुमट मिट्टी : ये ढेले वाली होती है और जिसमें बजरी युक्त पदार्थ कम पाये जाते हैं।

(2) लाल मिट्टियां : इनकी ऊपरी परत ढीली तथा भुर-भुरी होती है और यह गुण-धर्म में सैसक्वी-आक्साइड-धारी चिकनी

मिट्टी के समान होते हैं। मद्रास राज्य में पायी जाने वाली इन दो वर्गों की मिटि्टयों का भौतिक विवरण **सारणी** 10 में दिया है। साधारणतया दक्षिणी मद्रास की लाल दुमट मिटि्टयां और असम की लाल मिट्टी गुणों में समान होती हैं।

आमतौर पर लाल मिट्टियां (1) छोटे कणों वाली व भुरभुरी होती हैं, इनमें हवा का आवागमन अच्छा होता है, (2) वे चूने कंकर और कार्बोनेट रहित होती हैं, (3) इनमें घुलनशील लवण 0.05 प्रतिशत से कम मात्रा में मौजूद होते हैं, (4) ये तेजाबी नहीं होतीं, (5) इनमें, जीवांश (ह्यूम्स), नाइट्रोजन फास्फोरस और चूने की कमी पायी जाती है। इन मिट्टियों की परतों की गहराई और उपजाऊपन में काफी अधिक अंतर होता है। वर्षा तथा सिंचाई के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की फसलें इनसे ली जा सकती हैं।

लैटराइट और लैटराइट जैसी मिट्टियां : इस प्रकार की मिट्टियां भारत में लगभग 49,000 वर्ग मील में फैली हुई हैं। ये मिट्टियां विशेष रूप से दक्षिण, मध्यप्रदेश की राजमहल पहाड़ियां, पूर्वी घाट और उड़ीसा, असम, मैसूर और मलाबार के कुछ भागों में पायी जाती हैं। वर्षा के बाद सूखा और सूखे के बाद वर्षा होने के कारण लैटराइट मिट्टी बनती है। ये मिट्टियां भूमि कटाव और मूल चट्टान से बनने वाले [illegible]का से बनती हैं। मद्रास और उड़ीसा की विशेष लेटराइट मिट्टी का भौतिक विवरण **सारणी** 11 में दिया गया है।

लोहा आक्साइड का गठीले रूप में अलग होकर धीरे-धीरे सीमेंट जैसा कठोर और मधुमक्खी के छत्ते के समान सख्त बन

जाना ही इस मिट्टी का विशेष गुण है । विस्तृत जांच से पता चला है कि अन्य पदार्थों के साथ मिला सिलिका और मुक्त लोहा भारतीय लैटराइट पपड़ियों में होता है । इनका चिपक गुण सैसक्वी-आक्साइड के कारण होता है ।

कुछ समय तक निरंतर धूप पड़ने के कारण मधुमक्खी के छत्ते जैसी लाल लैटराइट चट्टानें काली पड़ जाती हैं । भिन्न-भिन्न जगहों में लैटराइट मुरम की परतों की गहराई भिन्न-भिन्न होती है । ज्यों-ज्यों ऊपर की तरफ चलते हैं त्यों-त्यों इसकी परत पतली होती जाती है । लेकिन निचली सतहों और घाटियों में ये काफी मोटी होती हैं और इनमें भारी दुमट मिट्टी से लेकर चिकनी मिट्टी तक पाई जाती है । लैटराइट मिट्टियों में प्रायः नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश, चूना और मैगनेशियम की कमी होती है । यों तो साधारणतया ये कम उपजाऊ होती हैं पर अच्छी खाद, अच्छी जुताई से शीघ्र ही अच्छी पैदावार देने लगती हैं । घाटियों की लैटराइट मिटिट्यों से धान और गन्ने की अच्छी फसलें पैदा की जा सकती हैं ।

मिट्टियों के भौतिक गुण

मिट्टियों के भौतिक गुण जैसे लोच, चिपक, पानी रोकने की क्षमता, पानी का रिसना, मिट्टी के कणों की बीच की खाली जगह, वायु का आवागमन, आदि मिट्टी को बनाने वाले कणों के आकार और उनकी रचना पर निर्भर करते हैं ।

किस मिट्टी में विभिन्न आकार वाले कण किस अनुपात में हैं यह बात यांत्रिक विश्लेषण द्वारा जानी जाती है । यांत्रिक विश्लेषण

की अन्तर्राष्ट्रीय विधि काफी जटिल है। इसको आसान करने के लिये कुछ देशों में एक विशेष प्रकार का हाइड्रोमीटर काम में लाया जाता है। यह यंत्र घनत्व नापने के काम आता है। इसके लिए मिट्टी को पानी में घोल लिया जाता है और एक सिलिन्डर या कांच के लम्बे और बेलनाकार पात्र में इस घोल को डाला जाता है। अब उसमें हाइड्रोमीटर डाल दिया जाता है। यह यंत्र अंशों में चिन्हांकित होता है और कुछ निश्चित अवधि के बाद प्रत्येक बार इसको पढ़ा जाता है। इस तरह जो अंश प्राप्त होते हैं उनसे विभिन्न आकार वाले कणों का प्रतिशत मालूम हो जाता है।

कण और आकार : मिट्टी के कण गोल, कोणीय और लम्बे आदि विभिन्न आकार के होते हैं। मिट्टी-वैज्ञानिकों की अन्तर्राष्ट्रीय समिति द्वारा विभिन्न वर्गों के कणों की आकार सीमायें आगे दी जा रही हैं।

विभिन्न मिट्टियों के कणों की आकार सीमायें

कणों के वर्ग	व्यास सीमायें (मिलीमीटर)
बजरी	2.0 और अधिक
मोटा रेत	2.0 — 0.2
महीन रेत	0.2 — 0.02
तलछट	0.02—0.002
चिकनी मिट्टी	0.002 और कम

कणाकार के अनुसार वर्गीकरण : मिट्टियों को उसमें मौजूद विभिन्न आकार के कणों के अनुपात के अनुसार वर्गीकृत किया जाता है। खेतों की मिट्टियां आमतौर पर रेत, तलछट, चिकनी मिट्टी आदि के विभिन्न अनुपात में होती हैं और ऐसी मिट्टियों को संरचना

की दृष्टि से माध्यामिक वर्ग की मिट्टी (इन्टरमीडिएट-सौइल-टैक्सचर क्लास) कहा जाता है। महीन-कण-अंश के अनुसार मिट्टियो के आगे लिखे वर्ग होते हैं : रेत, दुमट रेतीली, बलुई दुमट, तलछटी दुमट, तलछट, चिकनी दुमट और चिकनी मिट्टी। मिटि्टयों में उपस्थित रेत, तलछट और चिकनी मिट्टी के प्रतिशत के आधार पर मिट्टियों को वर्गीकृत किया जा सकता है किन्तु इनके प्रतिशत मालूम करने की विधि बड़ी जटिल है।

मिट्टियों के भौतिक गुण

मिट्टियों के भौतिक गुणों में घनत्व, झीनापन, भार, लोच और चिपक, रंग, मिट्टी का ताप और गर्मी, मिट्टी में उपस्थित हवा, और पानी, उसके विभिन्न मिट्टी अंश और उसकी संरचना आदि आते हैं जिनका विवरण आगे दिया जा रहा है :

घनत्व : जिन मिट्टियों में बड़े कण होते हैं वे आमतौर पर छोटे कण वाली मिट्टियों की अपेक्षा प्रति इकाई आयतन में भारी होती हैं। किसी भी मिट्टी का वास्तविक घनत्व उस में स्थित विभिन्न मिट्टी-रचकों के घनत्व पर आधारित होता है।

झीनापन : मिट्टियों के बीच की खाली जगह अलग अलग मिट्टी के अनुसार अलग अलग होती है। रेत में झीनापन, 30 प्रतिशत; हल्की व दुमट में; 35 प्रतिशत; बीच के दर्जे की दुमट में, 40 प्रतिशत; भारी दुमट में, 45 प्रतिशत; चिकनी दुमट में, 47 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक; मटियार मिट्टी में, 50 और भारी चिकनी मटियार मिट्टियों में 66 प्रतिशत तक होता है। यद्यपि चिकनी मिट्टी रेत के मुकाबले अधिक झीनी होती है लेकिन रेत

के कणों के बीच में अधिक अन्तर होता है जिसके कारण उसमें पानी का निकास और हवा का आवागमन अधिक होता है। जिन मिट्टियों की रचना कणदार होती है और जिनमें जैविक पदार्थ मौजूद होते हैं उनमें भी झीनी जगह काफी होती है।

भार : मिट्टियों का निरपेक्ष भार 50 से 120 पौंड प्रति घनफुट होता है जबकि शुद्ध (स्रवित) पानी के एक घनफुट का भार 62.5 पौंड होता है। किसी बाग की अच्छी उपजाऊ मिट्टी के एक वर्गफुट का भार 70 पौंड होता है। एक मामूली मिट्टी का भार, जिसमें हवा का आवागमन अच्छी तरह होता है, 80-90 पौंड और सूखे रेत का भार 110 पौंड प्रति वर्गफुट होता है।

लोच और चिपक : लोच मिट्टी का वह गुण है जो किसी बाहरी बल को लगाने पर नम मिट्टी को रूप बदलने की क्षमता प्रदान करता है और इस रूप को बाह्य बल के हटने के बाद भी बनाये रखने की क्षमता देता है। जिन मिट्टियों में कम लोच (जैसे रेत या दुमट रेत) होता है, यदि उनके नम दशा में सांचे ढाले जाते हैं तो वे छूते ही टूट जाते हैं। इसका कारण उनमें लोच का कम होना है।

चिपक मिट्टी का वह गुण है जिससे कण आपस में एक दूसरे से चिपके रहते हैं। लोचदार मिट्टियां चिपकशील होती है। चिकनी मिट्टियाँ सूखने पर तड़क जाती हैं अथवा जुताई के बाद खेत में ढेले बन जाते हैं। इसका कारण चिकनी मिट्टी के कणों का चिपक गुण ही है।

रंग : मिट्टी का रंग आमतौर पर मिट्टी के अन्य गुण धर्मों के बारे में भी कुछ बताता है। धरातली मिट्टी आमतौर पर

नीचे तल वाली मिट्टियों से अधिक गहरे रंग की होती हैं। मिट्टियां काले, गहरे कत्थई, लाल, ललाई लिए कत्थई, पीली, नीलाई लिये हरी, हरापन लिये भूरी और भूरी रंगों की होती हैं। आमतौर पर जिन मिट्टियों का रंग कत्थई से लेकर काला तक होता है उनमें जीवांश की मात्रा अधिक होती है। उनकी मिट्टी-संरचना अच्छी होती है और उनमें कैल्शियम और नाइट्रोजन पर्याप्त अंश में होते हैं। ऐसी मिट्टियां आमतौर पर अधिक उपजाऊ होती हैं।

घाटियों की गहराइयों में और नीचे स्थलों में तो आमतौर पर नमीदार क्षेत्रों की मिट्टियों का रंग भी काला होता है। लाल या कत्थई रंग की लैटेराइट (Laterite) मिट्टी आमतौर पर पानी के निकास के लिए उपयुक्त होती है और उसमें हवा का आना जाना अच्छी तरह होता है। पानी-निकास की अच्छी व्यवस्था वाली मिट्टी में लोहे के संयुक्त बन जाते हैं जिसके कारण ऐसी मिट्टी का लाल या कत्थई रंग हो जाता है। दूसरी ओर जिन मिट्टियों में आंशिक रूप से पानी रुक जाता है उनमें लौह आक्साइड बन जाता है जो मिट्टी को पीला रंग दे देता है। नम इलाकों में लाल या पीली मिट्टियों में जैविक पदार्थ की भारी मात्रा मिला कर उनका रंग कत्थई बनाया जा सकता है। रेगिस्तानों का रंग उन चट्टानों की तरह ही भूरा होता है जिनसे कि वे बने हैं। लोहे के अपचयन (Reduction) के कारण मिट्टियों का रंग भूरा या भूरापन लिए नीला हो जाता है। इन संयुक्तों की उपस्थिति पौधों की जड़ की बढ़त के लिये हानिकर होती है। नम इलाकों में घुलनशील लवणों के कारण मिट्टी में से जैविक पदार्थ और लौह संयुक्त बह जाते हैं जिससे मिट्टियों का रंग भूरा हो जाता है। मिट्टियों में क्षारधारी लवणों के इकट्ठे हो जाने से उनका रंग सफेद

या काला (जो क्षार की प्रकृति पर निर्भर करता है) हो जाता है। ऐसी मिट्टियां सबसे कम उपजाऊ होती हैं।

मिट्टी का ताप और गर्मी (**उष्मा**) : मिट्टी में कुछ अंश तक गर्मी रहनी जरूरी होती है क्योंकि बीजों के अंकुरण, जड़ों के विकास और जीवाणु प्रक्रिया के लिये कुछ न कुछ गर्मी आवश्यक होती है। पौधों के विकास की यह सभी प्रक्रियाएं पानी के जमने के ताप पर लगभग बन्द हो जाती हैं। किन्तु भारत में केवल जाड़ों के दिनों में ही उत्तरी भारत के कुछ भागों में या ऊंचे पर्वतीय क्षेत्रों में पानी जमता है।

बीजों के अंकुरण और जड़ों के विकास के लिये अलग-अलग फसलों और उनकी किस्मों के अनुसार ही ताप की भी अलग अलग आवश्यकता होती है। यह सभी जानते हैं कि गेहूँ, जौ, मटर जैसी रबी की फसलों के बीज मक्का, कपास जैसी खरीफ की फसलों के मुकाबले में कम ताप पर अंकुरित हो जाते हैं। यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि कम ताप पर जीवाणु प्रक्रिया मन्द पड़ जाती है। इसके कारण मिट्टी में नाइट्रोजन के स्थिरिकरण की क्रिया भी धीमी हो जाती है जिससे पौधों के पोषण और बढ़त पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मिट्टी को आमतौर पर सूरज से, जैविक पदार्थों के विघटन से और भूगर्भ से गर्मी प्राप्त होती है। इनमें भी सूरज से प्राप्त गर्मी सबसे महत्वपूर्ण है।

मिट्टी का ताप उसके रंग, रचना, ढलान और जलांश से प्रभावित होता है। गहरे रंग की मिट्टियां हल्के रंग की मिट्टियों की अपेक्षा गर्मी को अधिक सोखती हैं। रेतीली मिट्टियां महीन कण वाली तलछट और चिकनी मिटटी की अपेक्षा दिन में गर्मी को

जल्दी सोखती हैं और रात में उसको जल्दी छोड़ देती हैं। इसका कारण यह है कि चिकनी मिट्टी और तलछट में पानी को रोकने की अपेक्षाकृत अधिक क्षमता होती है। अच्छी जुताई धरातल से पानी के उड़ने की गति को कम कर देती है। वाष्पीकरण की क्रिया ताप को घटाती है इसलिये जुताई मिट्टी को गर्म करने में मदद करती है।

मिट्टी में उपस्थित हवा : पौधों की पत्तियां धूप की उपस्थिति में हवा के कार्बन-डाइआक्साइड और नमी से संयोग करके उनको कार्बोहाइड्रेट में बदल देती हैं। यह क्रिया प्रकाश-संश्लेषण कहलाती है। ये संश्लेषित पदार्थ जब पौधों की पत्तियों द्वारा इस्तेमाल किये जाते हैं तो कार्बन-डाइआक्साइड बाहर निकलती है। गहरी जुताई और गर्मियों में मिट्टी का तड़कना हवा के आवागमन के लिये सहायक होते हैं।

मिट्टी में आयतन के 30 से 66 प्रतिशत तक झीनी खाली जगह या छिद्र होते हैं जिनमें से कुछ में पानी भरा होता है और कुछ में हवा। छिद्रों का पानी मिट्टी के घुलनशील खाद्य पदार्थों को घोलता है और जड़ें इस घोल को पौधे के प्रत्येक अंग में पहुँचाती हैं। इस क्रिया को रसाकर्षण कहते हैं। जिन झीने छिद्रों में पानी नहीं भरा रहता, उनमें हवा भरी रहती है। पौधों की अच्छी बढ़त और विकास के लिए यह पाया गया है कि मिट्टी के कुल झीने छिद्रों में एक तिहाई हवा भरी होनी चाहिए और दो तिहाई में पानी रहना चाहिए।

मिट्टी में उपस्थित हवा में वायुमण्डलीय हवा की अपेक्षा नमी और कार्बन-डाइआक्साइड अधिक होती है और आक्सीजन

कुछ कम होती है। फसली मौसमों में कार्बन-डाइ-ग्राक्साइड का वास्तविक अंश घटता बढ़ता रहता है। यह फसल की बढ़त की गति पर ग्रौर भूगर्भी जैविक प्रक्रियाग्रों के ऊपर निर्भर करता है। ग्राठ विभिन्न प्रकार की मिट्टियों के ग्रन्दर वायु की रचना ग्रागे सारिणी में दी गयी है :

मिट्टियों में उपस्थित वायु की रचना

मिट्टी की किस्म	प्रतिशत रचना		
	कार्बन डाइ ग्राक्साइड	ग्रौक्सीजन	नाइट्रोजन
1. वन मिट्टी	0.87	19.61	79.52
2. चिकनी मिट्टी	0.66	19.61	79.35
3. एस्पैरेगस तल जिसको एक वर्ष तक खाद नहीं दिया गया	0.74	19.02	80.24
4. एस्पैरेगस तल जिसको ग्रभी खाद दिया गया है।	1.54	18.80	79.66
5. वनस्पति-फफूंद ग्रादि से बना कम्पोस्ट	3.64	16.45	79.91
6. दलदली धान वाला क्षेत्र	4.23 से 4.69	0.31 से 0.99	84.35 से 86.60
7. सन की जड़ों के पास की मिट्टी	12.12 से 16.99	2·23 से 4.67	79·77 से 81.63
8. मक्का की जड़ों के पास की मिट्टी	3.34 से 12.30	7.25 से 13.82	74.47 से 81.59

मिट्टी में मुक्त वायु के अतिरिक्त कलिल पदार्थों या मिट्टी के घोल में हवा घुली रहती है। इस वायु में 90 प्रतिशत कार्बन-डाइ-आक्साइड, 10 प्रतिशत नाइट्रोजन और लेशमात्र औक्सीजन होती है।

मिट्टी की हवा में उपस्थित नाइट्रोजन मिट्टी में नाइट्रोजन को स्थिर करने वाले जीवाणुओं द्वारा इस्तेमाल की जाती है। ये जीवाणु आमतौर पर फलीदार फसलों की जड़ों में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त मिट्टी में उपस्थित दूसरे जीवाणुओं द्वारा यह उपस्थित नाइट्रोजन नाइट्रोजनधारी संयुक्त बनाने में इस्तेमाल की जाती है जो बाद में फसल के पौधों द्वारा इस्तेमाल हो जाती है।

मिट्टी में उपस्थित पानी : फसल की उपज और पौधे के पोषण पर सबसे अधिक प्रभाव सम्भवतः पानी का पड़ता है। पानी पौधाई खुराक का एक अंश होता है। यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में (हाइड्रोजन और आक्सीजन नाम के अपने रचक तत्वों में विश्लेषित होकर) इस्तेमाल किया जाता है। पौधाई ऊतकों (टिश्यू) के 90 प्रतिशत भाग में पानी होता है। यह पौधे के पोषक तत्वों को पौधे तक ले जाने के लिए घोलक का काम करता है। यह पौधे के कोषों को फूला हुआ रखता है और उनमें ताप का नियमन करता है।

पानी मिट्टी में आगे लिखे रूपों में रहता है :-(1) मिट्टी के कणों या जैविक पदार्थों के चारों ओर पानी की पतली परत रहती है या (2) पानी मिट्टी द्वारा वायुमण्डल के वाष्प को सोख कर प्राप्त किया जाता है।

केषिका नलीधारी पानी मिट्टी-कणों के चारों ओर एक नियमित परत के रूप में छिद्रों में रहता है। रसाकर्षण और जलकणों के एक दूसरे के आकर्षण के कारण पानी इन छिद्रों में

रुका रहता है। केषिका-नली-पानी के अतिरिक्त कुछ मुक्त जल भी होता है जो मिट्टी को संतृप्त कर देता है और गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में नीचे की ओर जाता है।

इसके अतिरिक्त संरचना से मुक्त पानी भी मिट्टी में होता है जो रासायनिक रूप में मिट्टी में रुका रहता है। मिट्टी में से यदि इसको निकाला जाय तो इसको इतना गर्म करना पड़ता है कि वह लाल हो जाती है। पानी की ऊपरी सतह, मिट्टी की निचली गहराइयों में या उसके नीचे उपस्थित रेत या बजरी को संतृप्त करने वाले पानी को 'वाटर टेबिल' या जल तालिका कहा जाता है। यह इकट्ठा हुआ पानी छिछले कुओं और झरनों का स्रोत होता है।

कलिल चिकनी मिट्टी : जिन मिट्टियों के कणों का व्यास .002 मि० मी० या उससे कम होता है ऐसी मिट्टियां चिकनी मिट्टियां कही जाती हैं और मिट्टी अंश के सबसे छोटे कण (1 माइक्रोन अर्थात् .001 मि०मी० या इससे कम व्यास वाले कण) कलिल मिट्टी कहलाते हैं।

कलिल मिट्टी के गुण : पृथ्वी पर पायी जाने वाली मिट्टियों के अनेक रासायनिक और भौतिक गुण उनमें उपस्थित कलिल-मिट्टी अंश की प्रकृति के अनुसार होते हैं। मिट्टी में मोटे कणों के चारों ओर एक पतली झीनी तह की तरह कलिल सामग्री उपस्थित होती है अथवा यह बड़े कणों के बीच की खाली जगह के काफी भाग में रहती है। इस तरह यह कणों को आपस में जोड़ने वाली सामग्री का काम करती है। कलिल मिट्टी, मिट्टी के जैविक पदार्थों के साथ भी पायी जाती है।

कलिल मिट्टी की पानी को सोखने की क्षमता काफी ऊँची होती है। सूखने पर कलिल कणों के सोखे हुए पानी का कुछ अंश वाष्प के रूप में उड़ जाता है जिससे मिट्टी सिकुड़ जाती है और इसी सिकुड़न के कारण मिट्टी तड़कती है। कलिल कण में चिपक और चिकट के गुण भी होते हैं। जिन मिट्टियों में कलिल कणों का प्रतिशत अधिक होता है उनके कारण पौधों की जड़ें पानी और मिट्टी के घोल से घुले खनिज पोषक तत्वों को लेने में रुकावट डालती हैं।

मिट्टी की रचना : मिट्टी के एक निश्चित बोझ में मिट्टी कणों की सजावट को मिट्टी संरचना कहते हैं। सूखे मोटे रेत में यह रचना विलग-कण-रचना (सैपेरेट ग्रेन स्ट्रक्चर) कहलाती है। अन्य मिट्टियों में मिट्टी कण एक दूसरे के ऊपर पड़े होते हैं। ये संयुक्त मिट्टी कण समूह, आकार और रूप में मिट्टी में पाये जाने वाले खनिजों और मिट्टी की बनावट के अनुसार अलग-अलग होते हैं। जिन मिट्टियों में खेती की जाती है उनकी बनावट सिंचाई, जुताई, जड़ों की मिट्टी में घुस कर खुराक लेने की क्षमता, सामान्य उपज और पानी तथा वायु द्वारा भू-क्षरण की रोकथाम में बहुत महत्वपूर्ण भाग अदा करती है। दानेदार और कणाकार बनावटें पौधाई विकास के लिए अनुकूलतम पायी गई हैं।

भूमि रचना को प्रभावित करने वाली बातें

• संरचना पर बनावट (टैक्सचर) का प्रभाव पड़ता है। मिट्टियों के उपजाऊपन और उनकी संरचना पर जैविक सामग्री के लाभकारी प्रभावों को सभी जानते है। मिट्टी की संरचना आगे लिखी बातों से भी प्रभावित होती है।

(1) **भूमि की जुताई और व्यवस्था :** यदि खेत की जुताई या मिट्टी को अनुकूलतम नमी की दशाओं में तोड़ा जाता है तो उसका अच्छा असर होता है। इसलिए फसल चक्र की एक विधिवत् प्रणाली को अपनाने से ही मिट्टी ठीक दशा में रह सकती है।

(2) **मिट्टी जीवाणुओं की प्रक्रिया :** मिट्टी में मौजूद फफूंद और जीवाणुओं व अन्य शाकाणुओं के उपजातों आदि उनकी प्रकृति के अनुसार मिट्टी के कणों को स्थायी या अस्थायी रूप से आपस में बांधने का काम करते हैं। कैंचुओं की उगली हुई मिट्टी तथा कुछ अन्य कीड़ों की अपने को मिट्टी में दबा देने की प्रवृत्ति सम्बन्धी प्रक्रियायें मिट्टी की संरचना में पर्याप्त परिवर्तन कर देती हैं।

(3) **मिट्टी में नमी की विभिन्नता :** गर्मी द्वारा सूखने अथवा वायु द्वारा तड़कने के कारण मिट्टी में ढेले या गांठें पड़ जाती हैं जिनके कारण पानी के निकास में बाधा पड़ती है। जिन मिट्टियों में पानी निकास का गुण कम होता है वे आमतौर पर अनु-उपजाऊ होती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक उपयुक्त मिट्टी व्यवस्था प्रणाली को अपनाकर और जैविक सामग्री की खाद दे कर कम उपजाऊ मिट्टी की संरचना और उसके भौतिक गुणों को सुधारा जा सकता है। अभी हाल में अमरीका में क्रीलियम नाम का एक रासायनिक पदार्थ तैयार किया गया है जो भूमि की उर्वरता को बढ़ाने वाला और उसकी दशा को सुधारने वाला है। दूसरे आधुनिक देशों में भी इसी प्रकार के कुछ विशेष रासायनिक पदार्थ तैयार किये गये हैं। इनसे मिट्टी का उपजाऊपन बढ़ा है। लेकिन यह अभी बहुत मंहगे पड़ते हैं। इसलिए बड़े पैमाने पर इनका उपयोग नहीं हो सकता।

मिट्टी संरचना का पौधा विकास से सम्बन्ध : मिट्टियों के कण-वर्ग कणों के आकार में अलग अलग होते हैं और उनका पौधों की बढ़त पर प्रभाव डालने वाली बातों पर भी असर पड़ सकता है, जैसे पानी की उपलब्धि और उसकी गति, मिट्टी में हवा का आवागमन और पौधों के पोषक तत्वों की मात्रा ।

रेतीली मिट्टियां झीनी होती हैं और इनमें पानी का निकास खूब होता है । लेकिन यह पानी को कम रोक पाती हैं इसलिए चिकनी मिटिट्यों की अपेक्षा इनकी सिंचाई अधिक करनी पड़ती है । चिकनी मिट्टी के कण मिट्टियों को पानी रोकने की अधिक क्षमता दे देते हैं लेकिन वे पानी को इतनी कंजूसी से रोकते हैं कि चिकनी मिट्टियों में रेतीली मिटिट्यों की अपेक्षा पौधा जल्दी मुर्झा जाता है । चिकनी मिट्टियों में रेतीली मिट्टियों की अपेक्षा हवा का आवागमन कम गति से होता है और इसके कारण उनकी जललग्नता बढ़ जाती है । रेतीली मिट्टियों में, जिनको हम हल्की मिट्टियां कहते हैं, काम करना आसान होता है । चिकनी मिट्टियों की जुताई कठिन होती है किंतु रेतीली मिट्टियों से पौधाई पोषक तत्व चिकनी मिट्टी या तलछट मिट्टी की अपेक्षा जल्दी निकल जाते हैं । इसलिए चिकनी और तलछट मिट्टियां अधिक उपजाऊ होती हैं । धान, पटसन और ढेंचा चिकनी या चिकनी जलोढ़ मिट्टियों के लिए अधिक उपयुक्त हैं जबकि गेहूं, चना, कपास जलोढ़ और रेतीली जलोढ़ मिट्टियों में सबसे अधिक पैदा होते हैं । इसी तरह मूँगफली, ज्वार, आलू और हल्दी रेतीली मिट्टियों में अधिक अच्छी तरह पनपते हैं ।

मिट्टी के रासायनिक गुण : अलग-अलग चट्टानों से बनी मिट्टियों की खनिज और रासायनिक रचना अलग-अलग होती है ।

पृथ्वी की पपड़ी में पाये जाने वाले प्रमुख खनिज आगे दिये जा रहे हैं :

पृथ्वी की पपड़ी में खनिज पदार्थ

सं०	खनिज	प्रतिशत
1.	फैल्स्पार	48
2.	क्वार्ट्ज	36
3.	अभ्रक	10
4.	चूना और मैगनीशियम धारी चूना ...	2
5.	होर्नब्लैंड और औगाइट	1
6.	औलीवाइन और सर्पनटाइटन	1
7.	चिकनी मिट्टियां	1
8.	दूसरे खनिज	1

फैल्स्पार में मुख्यतः अल्यूमिनियम सिलीकेट तथा पोटेशियम, सोडियम और कैल्शियम के सिलीकेट विभिन्न मात्रा में होते हैं।

क्वार्ट्ज सिलीकन-डाइआक्साइड होता है। यह रेत के रूप में भी मिलता है। चूने और मैगनीशियम-धारी चूने में कैल्शियम कार्बोनेट होता है। यह मैगनीशियम के साथ डोलोमाइट में मिलता है।

हौर्नब्लैंड और औगाइट दोनों में कैल्शियम, मैगनीशियम और लोहे के सिलीकेट के साथ सोडियम सिलिकेट मिला होता है।

औलीवाइन फैरोमैगनीशियम का सिलिकेट है और सर्पनटाइन निर्जल मैगनीशियम सिलीकेट है।

चिकनी मिट्टियां आग्नेय चट्टानों से बनी मिट्टियां हैं। इनमें लौह आक्साइड और जैविक सामग्री मिली होती है। साथ ही इनमें क्वार्ट्‌स, फैल्सपार और अभ्रक के भी कुछ अंश होते है।

भूमि में पाये जाने वाले अन्य खनिजों में एल्यूमिनियम-बोरो-सिलीकेट के साथ-साथ सोडियम, पोटेशियम, लोहा, और मैगनीशियम जैसे धातुधारी खनिज होते हैं, टाइटेनियम आक्साइड, ज़िरकोनियम सिलीकेट और निर्जल पोटेशियम सिलीकेट होते हैं तथा लोहे के आक्साइड होते हैं।

हवा और पानी के कारण जब चट्टानों की कटन-छटन होती है तो जल्दी घुलने वाले पदार्थ बहते हुए पानी के साथ चले जाते हैं और अपेक्षाकृत अघुलनशील पदार्थ वहीं रह जाते हैं। इनसे ही मिट्टी बनती है। इस प्रकार की प्रक्रिया विशेष रूप से नम जलवायु में होती है और इसीलिए अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों की मिट्टी में सिलिकन, एल्यूमीनियम और आयरन आक्साइड जैसे पदार्थों की बहुलता होती है। बारानी या सूखे इलाकों की मिट्टी के घुलनशील पदार्थ कम वर्षा होने के कारण अधिक नहीं बह पाते और इसीलिए इन सभी मिट्टियों की रासायनिक रचना लगभग उन चट्टानों जैसी ही होती है जिससे वे बनी हैं।

रासायनिक अंश : इस तरह मिट्टियों के प्रमुख रासायनिक रचक सिलिकन, कैल्शियम, मैगनीशियम, लोहा, पोटेशियम, सोडियम और अल्युमीनियम के संयुक्त होते हैं। इनके अलावा मिट्टियों में बोरोन, मैगनीज़, मौलिबैडनम, जस्ता, तांबा, कोबाल्ट, आयोडीन और फ्लोरीन जैसे तत्व होते हैं जो पौधों के पोषण के लिए सूक्ष्म मात्राओं में आवश्यक होते हैं। इन्हें हम लेश-तत्व कहते हैं।

किसी मिट्टी में कुल कितने तत्व विद्यमान हैं यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनको बनाने वाली जननी-चट्टानों की प्रकृति कैसी है ? इन मिट्टियों को बने हुए कितने दिन हुए हैं और उनसे कौन-कौन से घुलनशील पदार्थ निकल गये हैं ? आमतौर पर पौधों को उन्हीं घुलनशील तत्वों की अधिक जरूरत होती है जो मिट्टी से निकल चुके हैं। पृष्ठ 53 पर दी गई **सारिणी** में आठ भारतीय मिट्टियों की रासायनिक रचना दी गयी हैं।

मिट्टी की जैविक सामग्री : मिट्टी में रासायनिक तत्वों के अलावा जैविक पदार्थ बारानी बलुई मिट्टी में 1 प्रतिशत से पीट भूमि में 90 प्रतिशत तक पाए जाते हैं। मिट्टी और चट्टानों के चूरे में अन्तर यही है कि मिट्टी में जैविक पदार्थ होता है।

मिट्टी-परख

यह सभी जानते हैं कि सन्तोषजनक उपज के लिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि मिट्टी में आवश्यक पोषक तत्व पर्याप्त मात्रा में और तुरन्त उपयोग होने वाले रूप में उपस्थित हों। यदि हमें अपनी जमीन से अधिकतम उपज प्राप्त करनी है तो मिट्टी का प्रबन्ध, उसके उपजाऊ स्तर का ज्ञान और उसके भौतिक गुणों सम्बन्धी बातें जानना आवश्यक है। सच तो यह है कि मिट्टी-परख का किसी भी खेत के वैज्ञानिक विवरण में एक महत्वपूर्ण भाग होता है। यही कारण है कि लगभग सभी राज्यों में किसानों को मिट्टी-परख सम्बन्धी सुविधा वहाँ के कृषि विभागों और भारतीय कृषि अनुसंधान-शाला, नयी दिल्ली द्वारा उपलब्ध करायी गयी है। कुछ राज्यों में तो ऐसा भी प्रबन्ध किया गया है कि बहुत जल्दी ही मिट्टी की

कुछ भारतीय मिट्टियों की रासायनिक रचना

किस्म	प्रदेश	सिलिकन डाई श्रा.	अल्यूमीनियम श्रा.	लोहा श्रा.	मैगनीज़ श्रा.	कैल्शियम श्रा.	मैगनीशियम श्रा.	पोटेशियम श्रा.	सोडियम श्रा.	फास्फोरस श्रा.	सल्फाइट श्रा.
बालू	राजस्थान	91.72	2.92	2.36	—	0.35	0.78	0.33	0.08	0.08	0.04
बलुई दुमट	उत्तर प्रदेश	84.84	5.30	4.52	—	0.91	0.52	0.16	0.03	0.10	—
,,	पंजाब	—	10.89		—	0.06	0.29	0.71	—	0.34	—
दुमट	मद्रास	82.11	5.19	5.70	2.12	1.10	1.27	0.24	0.86	0.06	3.04
दुमट	उत्तर प्रदेश	86.98	4.10	3.52	—	0.42	1.29	0.56	—	0.06	—
तलछटी दुमट	श्रासाम	86.49	9.16	7.00	0.21	0.14	0.90	1.85	—	0.24	—
चिकनी मिट्टी	मद्रास	65.16	13.76	9.27	0.25	2.18	2.47	0.14	0.01	—	—
,,	बम्बई	63.80	अप्राप्य		—	1.90	1.60	1.60	—	0.23	—

नोट : श्रा. श्राक्साइड का संकेत चिन्ह है ।

रासायनिक परख की जा सके जिससे किसान को उर्वरक-उपचार सम्बन्धी सलाह तुरन्त ही दी जा सके ।

मिट्टी का नमूना लेना : मिट्टी की परख रासायनिक या विश्लेषणात्मक तरीकों से मिट्टी में पौधा-पोषक पदार्थों की मात्रा मालूम करने का वैज्ञानिक तरीका है । इस परख से मिट्टी की वे बातें भी मालूम हो जाती हैं जो उपज की घटत या बढ़त को प्रभावित करती हैं । इसलिए मिट्टी का नमूना सावधानी से लेना चाहिए । इसके लिए आगे लिखे तरीकों की सिफारिश की जाती है ।

विधि 1 : मिट्टी में 12 इंच की गहराई पर गड्ढा खोदा जाय । 2 इंच बड़ा लोहे का नल लिया जाय जिसका एक सिरा धार-दार हो । इसको मिट्टी में धरातली मिट्टी की गहराई तक घुमाया जाय और फिर निकाल लिया जाय । नली द्वारा लायी गयी मिट्टी को इकट्ठा कर लिया जाय । इस तरह एक एकड़ मिट्टी में 12 विभिन्न स्थानों में यही विधि दोहराई जाय । इन नमूनों को अच्छी तरह मिला दिया जाय और इस ढेर को चार भागों में विकर्णों के अनुसार तिरछे बांट दिया जाय । सामने के दोनों भागों को छोड़ कर बचे भागों को फिर मिलाया जाय और फिर इसको उसी तरह चार भागों में बांटा और मिलाया जाय जब तक 2 पौंड मिट्टी न रह जाय । अब इस सघन नमूने वाली मिट्टी को किसी शीशी में बन्द करो । इसमें एक नम्बर लगाओ, खाद देने आदि बातें लिखो । साथ ही उस पर नमूना लेने की तिथि अंकित हो । इसी तरह मिट्टी के नमूने लिये जायं ।

मिट्टी परखशालाओं को दी जाने वाली सूचना : किसान को आमतौर पर अपनी मिट्टी की परख करने के लिए नमूना भेजते समय आगे लिखी सूचना देनी चाहिए ।

(1) जिला (2) तहसील (3) परगना (4) गांव (5) किसान व खेत के मालिक का नाम (6) जमीन की किस्म (सिंचित या बारानी), यदि सिंचित है तो सिंचाई का क्या साधन है (7) ऊंचान या ढलान (8) जमीन की प्राकृतिक दशा (सपाट है, घुमावदार है, सीधी ढलान है, या टेढ़ी मेढ़ी है) (9) फसल की प्रकृति (फसलें जो आमतौर पर ली जाती हैं) (10) खाद सम्बन्धी जानकारी (कौन-कौन से खाद दिये गये और उनका क्या प्रभाव पड़ा) (11) मिट्टी में उपस्थित पानी की दशायें (जल तालिका और प्राकृतिक निकास) (12) क्या बाढ़ से बह जाने का खतरा है ? (13) मिट्टी की बनावट (रेत, दुमट रेत, दुमट, बलुई दुमट, चिकनी मिट्टी या महीन तलछट) (14) मिट्टी का रंग, (15) मालगुजारी के अनुसार मिट्टी का वर्गीकरण (16) फसल कटने के नतीजे और (17) नमूना लेने की तिथि,

यदि नमूना किसी पर्यवेक्षक ने उठाया है तो उसे आकृति-विज्ञान सम्बन्धी नीचे लिखा विवरण भी देना चाहिये ।

1. **रंग**

   (अ) खेत (ब) सूखी हवा (स) नमी ।

2. **बनावट**

   (अ) खेत (ब) सूखी हवा (स) नमी ।

3. **संरचना**

   (अ) खेत (ब) सूखी हवा (स) नमी ; चिपक और ठोसपन ।

4. **जैविक पदार्थ**

5. **जड़ें**
6. **सघनता**
7. **कुछ असामान्य विशेषतायें**
8. **सामान्य बातें**

मिट्टी विश्लेषण : प्रयोगशाला में मिट्टी-परख खेत की परख के पूरक रूप में होती है और उससे आमतौर पर मिट्टियों के वर्गीकरण का आधार, उनके खाद तत्व और संरचना आदि के बारे में पता चल जाता है साथ ही उससे मिट्टी के पौधा-पोषक-अंश का भी निश्चय होता है। यदि मिट्टी में किसी पोषक तत्व की कमी है तो वह उर्वरक-उपचार द्वारा पूरी की जा सकती है।

उपलब्ध पोषक पदार्थ का पता लगाने के लिए मिट्टी को गंधक या शोरे के तेजाब अथवा कार्बोनिक एसिड या आक्सीजलिक एसिड आदि के हल्के घोल में डाला जाता है और उसके निसार को प्राप्त किया जाता है। अब इस निसार की रासायनिक परखें की जाती हैं।

विधि 2 : मिट्टी की परख के इस तरीके में गमलों में मिट्टी के नमूने डाल कर पौधे उगाये जाते हैं और उनका विश्लेषण किया जाता है। अनुकूलतम दशाओं में प्रति नमूने में खनिज तत्वों का एक निश्चित अनुपात प्राप्त होता है। यदि यह अनुपात सामान्य नहीं होता तो मिट्टी में खनिजों की अधिकता या न्यूनता होती है। यह तरीका मंहगा है और इसमें बहुत समय लगता है। साथ ही जो नतीजा एक फसल से प्राप्त हो, जरूरी नहीं कि वह अन्य फसलों पर भी लागू हो।

अन्य विधियां : अभी हाल में पौधाई-ऊतक-परखों (प्लान्ट टिश्यू) पर काफी काम हुआ है और पौधों के भूख-लक्षणों को देख कर मिट्टी में पोषक पदार्थों की कमी को जांनने की कोशिश की गयी है।

मिट्टी-परख के नतीजे : अलग-अलग मिट्टी परखशालायें किसानों को उनकी मिट्टी की परख के नतीजे अलग-अलग ढंग से देती हैं। इन नतीजों की रिपोर्ट में न केवल मिट्टी में उपस्थित प्रमुख पोषक तत्वों की मात्रायें ही दी जाती हैं वरन् जैविक खाद और उर्वरकों को देने की विशिष्ट सिफारिशें भी की जाती हैं।

उतरप्रदेश की एक मिट्टी परखशाला ने मिट्टी के एक नमूने की जो परख-रिपोर्ट दी है उसके आंकड़े इस प्रकार हैं :

पी-एच मान	...	8.5 (क्षारीय)
घुलनशील लवण	...	0.121 प्रतिशत (मध्यम)
जैविक पदार्थ	...	0.8 प्रतिशत (निम्न)
उपलब्ध नाइट्रोजन	...	5 भाग प्रति दस लाख (बहुत नीचा)
फास्फोरस	...	0.1 भाग प्रति दस लाख (बहुत नीचा)
पोटेशियम	...	1000 भाग प्रति दस लाख (ऊंचा)
किस्म (बनावट)	...	चिकनी दुमट

परख-रिपोर्टों की व्याख्या : मिट्टी-परख के नतीजों की व्याख्या स्थानीय अनुभव के आधार पर की जाती है और यह प्रदेश के कृषि विभाग के मिट्टी-व्याख्या-विभाग के प्रशिक्षण प्राप्त कर्मचारी ही अच्छी तरह कर सकते हैं। इस प्रकार प्राप्त आंकड़े केवल गुणात्मक ही होते है और वे बहुत ठीक भी नहीं होते। लेकिन फिर भी यदि नमूने ठीक तरह से लिये गये हैं तो उनके आधार पर भूमि के सुधार के लिए आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं। इनसे यह पता

चल सकता है कि किस जमीन को किस उर्वरक की कब आवश्यकता है। अब यदि रिपोर्ट में यह कहा गया है कि किसी मिट्टी में फास्फोरस 5 भाग प्रति दस लाख भाग है तो इसके मतलब यह होते हैं कि उस मिट्टी में 10 पौंड फास्फोरस प्रति एकड़ उपलब्ध है जो वास्तव में बहुत कम है। इसलिए ऐसी मिट्टी में फास्फोरस की पूरी खुराक ही दी जानी चाहिए। यहां पर यह भी बता देना जरूरी है कि किसी मिट्टी में एक पोषक तत्व की कमी हो सकती है और दूसरे का बाहुल्य। इसलिए इस कमी की जानकारी मिट्टी की परख से भली-भांति चल जाती है।

यद्यपि पौधे अपनी खुराक का अधिकांश भाग और विशेष रूप से नाइट्रोजन धरातली-मिट्टी से प्राप्त करते हैं किन्तु खुराक की कुछ न कुछ मात्राएं वे मिट्टी की निचली तहों से भी पाते हैं। पौधों की जड़ें आमतौर पर मिट्टी में तीन से चार फीट तक की गहराई तक जाती हैं लेकिन सूखी और अधसूखी दशाओं में और जल निकास वाली मिट्टियों में ये जड़ें आठ से दस फीट की गहराई तक चली जाती हैं। मिट्टी में गहराई तक उपस्थित पोषक तत्वों को यह जड़ें या तो सीधे ही प्राप्त कर लेती हैं या धरती के अंदर मिट्टी-घोलों की जो धाराएं प्रवाहित होती रहती हैं, उनसे प्राप्त करती हैं। नाइट्रोजन सदैव ही धरातली-मिट्टी की अपेक्षा भूगर्भी-मिट्टी में कम पाया जाता है। अन्य खनिज पोषक तत्व कम या अधिक हो सकते हैं। मिट्टी का उपजाऊपन उसमें उपस्थित कुल पौधाई पोषक तत्वों की मात्रा के प्रत्यक्ष अनुपात में नहीं होता। मिट्टी में उपलब्ध पौधाई खुराक पर ही उसका उपजाऊपन निर्भर करता है (अर्थात् वह सामग्री जो पौधों को जल्दी ही अपनी बढ़त के लिए मिट्टी से प्राप्त हो सकती है)। पोषक तत्वों की उपलब्धि बहुत कुछ मिट्टी की

विभिन्न भौतिक और जैविक दशाओं और उसमें खड़ी फसल पर निर्भर करती है।

किसी मिट्टी का उपजाऊपन उनमें पौधाई पोषक तत्वों की उपस्थित मात्रा के अनुपात में नहीं होता, बल्कि यह इस पर निर्भर करता है कि इन पोषक तत्वों की मात्रा में से कितना अंश ऐसी दशा में है जिनको पौधे तुरंत काम में ला सकते हैं पोषक तत्वों की पौधों को तुरंत प्राप्त होने वाली यह मात्रा मिट्टी के विभिन्न भौतिक और जैविक दशाओं पर और इस पर उगने वाले पौधों पर निर्भर करती है। जब मिट्टी के जैविक और अजैविक अंशों के विघटन और पौधों के विकास के अनुकूल दशाएं पैदा हो जाती हैं तभी भूमि में उपस्थित खाद्य पदार्थ ऐसे रूप को अधिक प्राप्त हो सकते हैं जिनको पौधे तुरंत ही पचा सकें। किसी मिट्टी का उपजाऊपन इस बात पर भी निर्भर करता है कि पौधों की जड़ों या क्षरण द्वारा जो पोषक पदार्थ मिट्टी से निकल गये हैं उनकी किस सीमा तक पूर्ति हुई है।

मिट्टी-घोल के रचक: आमतौर पर मिट्टी में उपस्थित रचकों को मालूम करने के लिए उसको पानी में घोला जाता है और उससे जो निसार प्राप्त होता है उसी से मिट्टी के घोल की संरचना और उसकी सघनता का पता लगाया जाता है।

अभी तक इस बारे में कुछ निश्चित जानकारी प्राप्त नहीं है कि अलग अलग फसलों के लिए या मिट्टी और जलवायु की विशेष दशाओं के लिए इन रचकों की अनुकूलतम सघनता क्या होनी चाहिए। लेकिन फिर भी यह पता चला है कि यदि मिट्टी में नाइट्रेट, फास्फेट, पोटेशियम और लोहे की कमी होती है तो फसल कम बढ़ती है। लेकिन बहुत कम मिट्टियां ऐसी होती हैं जिनमें इन पोषक पदार्थों की इतनी कमी

होती है कि वे पौधों को बढ़ाने के लिए बिल्कुल ही अयोग्य हों। यह बात भी जानकार लोग जानते हैं कि मिट्टी में सोडियम के क्लोराइड, सल्फेट, कार्बोनेट जैसे पदार्थों की बहुलता पौधाई विकास को पूरी तरह रोक देती हैं किन्तु यदि मिट्टी के घोल में कैल्शियम और मैगनीशियम उपस्थित होते हैं तो वे लाभकर पाये गये हैं क्योंकि उनसे वायु का आवागमन और उर्वरता बढ़ती है।

तेजाबी मिट्टियां : नम क्षेत्रों में जहां वर्षा बहुत पड़ती है वहां की मिट्टी के घुलनशील क्षारों को बहने वाला पानी अपने साथ ले जाता है। इन घुलनशील पदार्थो के निरंतर निकल जाने से कैल्शियम, मैगनीशियम, पोटेशियम और सोडियम कणों की कमी हो जाती है और आमतौर पर अघुलनशील तेजाबी अवशेष, जो मुख्य रूप से सिलीकन, एल्युमीनियम और लोहे आक्साइड या सिलिकेट के रूप में होते हैं, मिट्टी में जमा हो जाते हैं। ऐसी मिट्टियों की प्रकृति तेजाबी हो जाती है और उन्हीं को तेजाबी मिट्टी कहते हैं। चूने और दूसरे क्षारीय तत्त्वों का फसलों द्वारा मिट्टी से ले लेना और अमोनियम सल्फेट जैसे उर्वरकों का अतिरिक्त मात्रा में मिट्टी में रहना भी मिट्टी को तेजाबी प्रकृति प्रदान कर देता है। इसके अतिरिक्त मिट्टी में उपस्थित जैविक पदार्थ हाइड्रोजन से संयुक्त हो जाते हैं तो इनसे ह्यूमिक एसिडें बन जाती हैं जिनके कारण मिट्टी की तेजाबियत बढ़ जाती है। यदि मिट्टी किसी तेजाबी चट्टान से बनी है तो भी वह तेजाबी होती है।

यदि मिट्टी में अम्लता एक निश्चित सीमा से अधिक होती है तो वह पौधाई विकास के लिए हानिकर होती है। पौधाई पोषक तत्त्वों, विशेषकर फास्फोरस, कैल्शियम, मैगनीशियम, लोहा

और मैंगनीज़ की उपलब्धि तेजाबी मिट्टियों में कम हो जाती है। इसी तरह एज़ेटोबैक्टर और अनेक फलीदार फसलों के गांठदार जीवाणुओं द्वारा जो मिट्टी का उपजाऊपन बढ़ाते हैं, मिट्टी में होने वाली अणु-जैविक-प्रक्रिया पर तेजाबी मिट्टियों का बुरा प्रभाव पड़ता है।

मिट्टी की अम्लता या क्षारीयता को जानने के लिए पी-एच मान काम में लाया जाता है। जब पी-एच मान "7" होता है तो इसके अर्थ होते हैं कि घोल उदासीन है ; यह न क्षारीय है और न अम्लीय है। यदि घोल का पी-एच मान "7" से कम होता है तो मिट्टी में अम्लीयता होती है। आगे की तालिका से यह स्पष्ट है।

पी-एच मान और मिट्टी की अम्लता

पी-एच मान	मिट्टी की अम्लता
7	उदासीन
7 से 6	हल्की तेजाबी
6 से 5·5	मध्यम तेजाबी
5·5 से 5	तीव्र तेजाबी
5 से 4·5	अत्यधिक तीव्र तेजाबी
4·5 से 4·0	अधिकतम तेजाबी

पी-एच मान से यह पता नहीं चल पाता कि मिट्टी में कुल कितनी तेजाबियत है। इसलिए मिट्टी में उपस्थित अम्लीयता को सुधारने में केवल यही मान आवश्यक नहीं होता।

मिट्टी से तेजाबियत को दूर करने के लिए चूना काम में लाया जाता है। कैल्शियम नाइट्रेट, बेसिक स्लेग और कैल्शियम साइनामाइड जैसे उर्वरक भी मिट्टी की अम्लीयता को कम कर देते हैं क्योंकि वे चूना अवशेष के रूप में छोड़ते हैं। चूना देने से न केवल मिटटी की अम्लीयता सुधरती है वरन् इसकी उपस्थिति में उर्वरक भी अधिक कारगर होते हैं। वे जीवाणु प्रक्रिया को बढ़ावा देते हैं, मिट्टी के रचकों को सुधारते हैं और हरी खाद तथा फलीदार फसलों की बढ़त को प्रोत्साहन देते हैं।

मिट्टी की तेजाबियत को सुधारने के लिए पृष्ठ 63 की सारणी से सहायता मिल सकती है।

फसलों में अम्लीय सहनशीलता : अनेक प्रमुख फसलों और सब्जियों के लिए तेजाबी मिट्टियाँ अनुकूल नहीं होतीं। इसलिए जब वे उनमें बोई जाती हैं तो वे अच्छी तरह नहीं पनपतीं। गेहूँ, जौ, ज्वार, तम्बाकू, लूसर्न घास, चुकन्दर, गोभी, भिंडी इन सबके लिए तेजाबी मिट्टी उपयुक्त नहीं रहती। किन्तु दूसरी ओर चावल, जई, राई, मक्का, कपास, मटर, सेम, लोबिया जैसी फलियां; मूँगफली, सोयाबीन, अन्डी, आलू, टमाटर, शलजम, मूली, स्ट्राबैरी, अंगूर, और तरबूज आदि तेजाबी मिट्टी में अच्छे पनपते हैं। इस सूची में जो फलीदार और दलहनी फसल दी गई हैं वे तेजाबी मिट्टियों को सुधारने का अपेक्षाकृत सस्ता तरीका है। इसकी अपेक्षा खेत में चूना• देने कि विधि मंहगी पड़ती है।

मिट्टी की लवणता : कम वर्षा वाले सूखे और अर्ध सूखे क्षेत्रों में, यदि उसमें पानी के निकास की व्यवस्था ठीक नही होती तो घुलनशील लवण मिट्टी में बैठ जाते हैं अथवा भू-गर्भी पानी के साथ उस दिशा में

भूमि के पी-एच मान को 6·5 करने के लिए
पिसे चूने की मात्रा

मिट्टी क्षेत्र और बनावट	चूने की आवश्यक मात्रा टन प्रति एकड़		
	4 पी-एच मान से 6·5 पी-एच मान करने के लिए	4·5 पी-एच मान से 6·5 पी-एच मान करने के लिए	5·5 पी-एच मान से 6·5 पी-एच मान करने के लिए
गर्म नम मैदान			
(क) रेत और दुमट रेत ।	$1\frac{1}{2}$	1	$\frac{1}{2}$
(ख) बलुई दुमट	—	2	1
(ग) दुमट और तलछटी दुमट	—	$3\frac{1}{2}$	2
(घ) चिकनी दुमट	—	5	3
ठंडी शीतोष्ण पहाड़ियां			
(क) रेत और दुमट रेत	3	2	1
(ख) बलुई दुमट	—	3	2
(ग) दुमट और तलछटी दुमट	—	$4\frac{1}{2}$	3
(घ) चिकनी दुमट	—	6	$3\frac{1}{2}$
घाटी की मिट्टियाँ			
जैविक और जललग्न	9	7	$4\frac{1}{2}$

बहते चले जाते हैं जहाँ पर रिसाव का पानी इकट्ठा होता रहता है। मिट्टी में भूमिगत केशिका नली से आने वाले लवणीय पानी के कारण भी मिट्टी नमकीन हो जाती है। नमकीन झीलों के किनारे की मिट्टी भी इसीलिए लवणीय होती है और समुद्री तट की मिट्टी के खारापन का कारण भी यही है। कच्ची मिट्टी के निम्न स्तरों में नमक इकट्ठा होने की प्रक्रिया को मिट्टी की लवणता कहते हैं और जब बहुत सारे लवण मिट्टी में इकट्ठे हो जाते हैं तो यह मिट्टी खारी कहलाती है क्योंकि इन लवणों की मिली जुली प्रक्रिया क्षारीय होती है।

यदि किसी मिट्टी की भूगर्भी स्तरों में लवण मौजूद होते हैं तो उनका असर मिट्टी के उपजाऊपन पर तभी पड़ता है जबकि ऐसी मिट्टी की सिंचाई की जाती है क्योंकि तभी घुलनशील लवण पानी के साथ घुलकर ऊपर आ जाते हैं। यह प्रक्रिया वहाँ भी पायी जाती है जहां पर भूगर्भी जल सतह पर आकर वाष्प में परिवर्तित होता रहता है और अपने पीछे घुलनशील लवणों का सघन संग्रह छोड़ जाता है। इस प्रकार की प्रक्रिया पंजाब, उत्तर प्रदेश, बम्बई की नीरा घाटी की मिट्टियों में दिखाई पड़ती है। यहां पिछले 50 वर्षों में नहरों द्वारा सिंचाई के कारण खारी या लोनी मिट्टी का क्षेत्रफल बहुत अधिक बढ़ गया है।

दो तरह की खारी मिट्टियां होती हैं—काली और सफेद। सफेद मिट्टी आमतौर पर उत्तर प्रदेश और पंजाब में पायी जाती है जिसे रेह भी कहते हैं। इस मिट्टी में उपरोक्त लवणों के अतिरिक्त सोडियम या पोटाशियम कार्बोनेट भी होता है। किन्तु इसकी मात्रा बहुत नहीं होती। काली खारी मिट्टियों में सोडियम और पोटेशियम
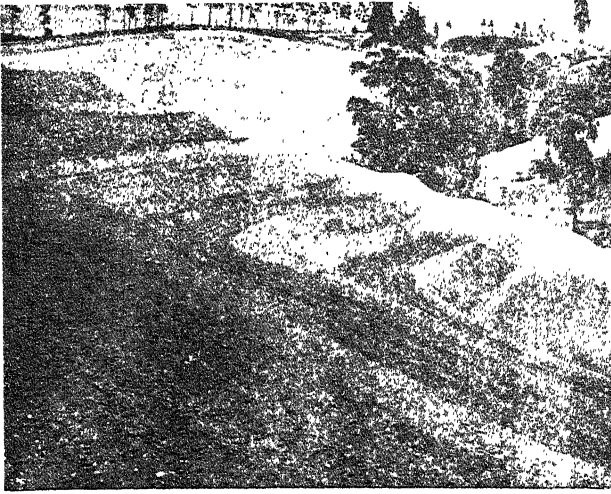
कंटूर जुताई और सीढ़ीदार खेत भूमि को कटन से बचाने में
मदद करते हैं
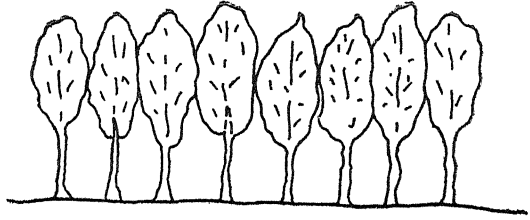
मिट्टी को कटने से बचाने के लिए तथा पौधों को तेज हवाओं से बचाने के लिए एक ही तरह के वृक्षों की कतारें (ऊपर) और विभिन्न प्रकार के पेड़ों की मिलीजुली कतारें (नीचे) वात रोक की तरह काम में लाई जाती हैं
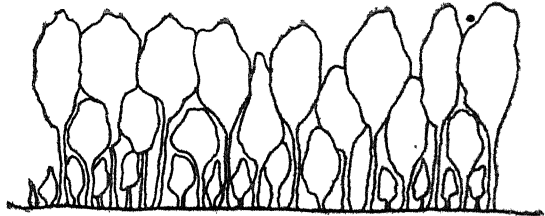
की काफी मात्रा होती है। यह क्षारीय काली मिट्टी इसलिए कहलाती हैं क्योंकि यह मिट्टी में जैविक पदार्थ को छितरा देती है और घोल लेती है। इसी कारण इसको काला या गहरा कत्थई रंग मिल जाता है।

लवणीय और क्षारीय मिट्टियों की किस्में

लवणीय और क्षारीय मिट्टियों को आमतौर पर नीचे लिखी तीन मुख्य किस्मों में विभाजित किया जाता है : (1) लवणीय मिट्टियां, (2) लवण-क्षारीय मिट्टियां और (3) क्षारीय मिट्टियां।

लवणीय मिट्टियों में झीनी भूमिगत तह (पारगम्य अधोभूमि) होती है और इसमें वर्ष के कुछ भागों में पानी काफी मात्रा में मौजूद होता है। सूखे मौसम में सफेद या राख के से रंग का लवण इस मिट्टी की सतह पर जम जाता है।

लवण-क्षारीय मिट्टियों की भूमिगत तहों में कंकर या कठोर चिकनी मिट्टी होती है जो बड़ी सख्त और अपारगम्य होती है। इस मिट्टी में पानी चाहे कम मात्रा में मौजूद हो चाहे अधिक मात्रा में, फिर भी इस मिट्टी की सतह पर पानी जमा होकर सड़ता जरूर है। ऐसी मिट्टियों में कांटेदार मरुस्थलीय झाड़ियों के झुन्ड पैदा होते हैं।

क्षारीय मिट्टियां बहुत सख्त और सघन होती है। इनकी भूमिगत तहों में सुघट्य और गोंद-जैसी मिट्टी होती है और इनमें कंकर की अभेद्य कठोर परत होती है। इनमें किसी तरह की वनस्पति पैदा नहीं हो सकती।

भारत की लवणीय और क्षारीय मिटि्टयां—उत्तर प्रदेश के लगभग 21 लाख एकड़ क्षेत्र में लवणीय और क्षारीय मिट्टियां पाई

जाती हैं। इन मिट्टियों को ऊसर या रेह कहा जाता है और इन के गुणों की परख निम्नलिखित बातों से की जाती है: (1) सूखे मौसम में सफेद या इससे मिलते रंग की लवणीय परत का मिट्टी पर जमना (2) सतह का बहुत सख्त होना और वनस्पति लगभग नहीं के बराबर होना (3) सतह पर या भूमिगत तहों में भिन्न भिन्न मोटाई की सख्त कंकरीली परतों का होना और (4) वर्षा में पानी के निकास का रुक जाना और कीचड़ बनकर सड़ना।

इस तरह की बहुत सी जमीन पंजाब में भी पाई जाती है। पंजाब में लवणीय जमीन कल्लर या थुर कहलाती है और क्षारीय जमीन को बारा कहते हैं। जिन जमीनों में क्षारीय बनने की प्रक्रिया होती है उन्हें बारी कहते हैं। इन मिट्टियों के गुण-धर्म करीब-करीब वैसे ही होते हैं जैसे उत्तर प्रदेश में पाई जाने वाली इसी प्रकार की मिट्टियों के।

लवणीय या क्षारीय मिट्टियां उन जगहों में पाई जाती हैं जहां नहरों द्वारा सिंचाई की जाती है। बम्बई, आन्ध्र प्रदेश, मद्रास और मैसूर की भारी काली कपासी मिट्टी वाले क्षेत्रों में भी इस प्रकार की मिट्टियां मिलती हैं। मैसूर के कुछ असिंचित क्षेत्रों में भी यह पाई जाती हैं। यहां इन मिट्टियों को कार्ल, खल्याल या चोपान कहा जाता है। काली मिट्टी के अन्तर्गत तीन प्रकार की मिट्टियां पाई जाती हैं, सावी या मीठी कार्ल, सोल लवणीय कार्ल और कोटक या सख्त कार्ल।

भूमि सुधार के तरीके : बहुत अधिक लवण का इकट्ठा हो जाना फसलों के लिए हानिकारक है इसलिए इसे मिट्टी से निकालना जरूरी होता है। भिन्न भिन्न वर्ग की क्षारीय और लवणीय मिट्टियों के सुधार के भिन्न भिन्न तरीके हैं। इनको आगे लिखे भागों में बाँटा जा सकता है :—

(1) रासायनिक तरीके, इनमें चूने की मदद से लवणों को मिट्टी से निकाला जाता है।

(2) यांत्रिक तरीके जैसे मिट्टी में उपस्थित पानी की सतह को कम करना, नाली बनाकर लवणों को बहाना।

(3) लवण और क्षार-सह्य फसलों का बोना।

लवणीय मिट्टियों के सुधार के लिए यह आवश्यक है कि उनमें उपस्थित पानी की सतह धरातल के स्थायी तल से पांच या छः फीट नीचे रहे। इसके लिए भूमि की ढलान की ओर समकोण बनाती हुई गहरी खाइयां खोदी जाती हैं। अब इनमें साफ पानी भर दिया जाता है। जब पानी में मिट्टी के लवण घुल जाते हैं तब पानी को निकाल दिया जाता है। यदि यह क्रिया दो तीन बार दोहराई जाय तो मिट्टी से सारे हानिकारक लवण दूर हो जाते हैं। लवण-सह्य फसलें जैसे धान, जौ, गन्ना और अरंडी बोने से मिट्टी में लवण की सघनता कम हो जाती है।

क्षारीय-लवणीय मिट्टियों में इस समस्या के दो पहलू हैं। पहली बात यह है कि इन में लवण बहुत इकट्ठा हो जाता है और दूसरी बात यह है कि उपस्थित सख्त चिकनी मिट्टी के कारण पानी का निकास कम हो पाता है और सोडियम-धारी चिकनी मिट्टी सारे में फैली सी रहती है। ऐसी मिट्टियों में यंत्रों द्वारा उपस्थित चिकनी मिट्टी को फैलाने से पानी का निकास बढ़ जाता है। यदि उपरोक्त मिट्टी में कंकड़ और ढेले भी हों तो उनमें जिप्सम दिया जाना चाहिए और उनकी काफी सिंचाई करनी चाहिए। इसके बाद इनमें ढैंचा जैसी हरी खाद बोनी चाहिए। ऐसा करने से मिट्टी में क्षार और लवण कम हो जाते हैं तथा खरीफ में धान की

पौध लगा कर और रबी में जौ और जई की फसल पैदा की जा सकती हैं।

जो मिट्टियाँ क्षारीय होती हैं उनका सुधार जिप्सम (कैल्शियम सल्फेट) से किया जा सकता है। जिप्सम घुलनशील कार्बोनेट के साथ संयोग करके अघुलनशील कैल्शियम कार्बोनेट और सोडियम तथा पोटेशियम सल्फेट बना लेता है। ये सल्फेट घुलनशील होते हैं। इसलिए जब खेती की काफी सिंचाई की जाती है तो वे पानी में घुल जाते हैं। इस पानी को निकाल दिया जाता है और धीरे-धीरे गोबर की खाद देने से अघुलनशील कैल्शियम कार्बोनेट खत्म होता रहता है। मिट्टी की क्षारीयता को गन्धक जैसे अम्ल बनाने वाले पदार्थों से उदासीन बनाया जा सकता है।

क्षारीय मिट्टी की ऊपर जमी पपड़ी को कभी कभी खुरच कर और कभी कभी बहते पानी की तेज धार की बौछार डाल कर हटाया जाता है। या फिर गहरी जुताई करने वाले खासतौर से बने हुए हलों से मिट्टी को जोता जाता है। किन्तु इन तरीकों में से कोई भी बहुत कारगर नहीं पाया गया है क्योंकि इनमें मिट्टी की क्षारीयता स्थायी रूप से दूर नहीं हो पाती।

क्षारीयता दूर करने के लिए क्षार-सह्य फसलों और पौधों को उगाने का तरीका भी सुझाया गया है। चुकन्दर, चावल, लुसर्न, पटसन, जंगली नील और बबूल आदि कुछ इसी तरह की फसलें और पौधे हैं।

सुधरी हुई मिट्टियों के लिए फसलें : लवणीय और क्षारीय मिट्टियों के लिए सभी फसलें एक जैसी उपयुक्त नहीं होती है। हाल में किए परीक्षणों से प्राप्त नतीजों के आधार पर फसलों को उपयो-

गिता और लवण-सहनशीलता के हिसाब से निम्नलिखित क्रम में रखा जा सकता है :

खरीफ	रबी
(अ) मिट्टी सुधार के बाद पहले तीन सालों में आगे लिखी फसलें उगाई जानी चाहिएँ।	
ढेंचा	जई
धान	जौ
शेवरी	
गन्ना	
अरंडी	
(ब) अगर उपरोक्त फसलें लगातार तीन साल तक अच्छी तरह उगी है तो इसके बाद नीचे लिखी फसलें उगाई जानी चाहिए।	
कपास	बरसीम
बाजरा	गेहूँ
ज्वार	सरसों
मक्का	
ग्वार	
(स) जो फसलें कम से कम तीन साल तक न उगाई जाने वाली फसलें नीचे दी जा रही हैं।	
मूँग	मटर
उड़द	चना
अरहर या तूर, सनई	आलू

कार्बनिक जैविक पदार्थ : मिट्टी के उपजाऊपन में कार्बनिक पदार्थ का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। मिट्टी के उन जीवाणुओं और फफूँदों के लिए कार्बनिक या जैविक पदार्थ भोजन के मुख्य स्रोत हैं जो जटिल जैविक पदार्थों को ऐसे सरल पदार्थों के रूप में परिवर्तित कर देते है जिन को पौधे तुरन्त काम में ला सकते हैं। बिना सड़े कार्बनिक पदार्थ भारी चिकनी मिट्टी को खोल देते हैं और हवा पानी के आने जाने के मार्गों की रुकावटें दूर करने में मदद करते हैं। अध सूखे इलाकों की हल्की चिकनी मिट्टी में इनके प्रयोग से मिट्टी का भीनापन बढ़ जाता है जिससे अनेक हानिकारक परिणाम होते हैं। मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ के मिलाने से भुरभुरेपन में वृद्धि होती है। कलिलधारी सड़े हुए जैविक पदार्थ खेत में बिखेरने से मिट्टी का गहरा रंग हो जाता है। यह ठंडे प्रदेश में मिट्टी को गर्मी सोखने में सहायता करता है और पौधों की बढ़वार और बीजों के अंकुरण में सहायक होता है पर गर्म प्रदेशों में अधिक गर्मी सोखने के कारण यह छोटे छोटे पौधों को झुलसा भी देता है।

ह्यूम्स (अगलित जीवांश) : मिट्टी के कार्बनिक या जैविक पदार्थ का अधिकतर भाग पौधों के अवशेष, इन पर पलने वाले अणु-जीवों के अवशेष और उनके सड़ने से पैदा होने वाले पदार्थों का बना होता है। पौधों की जरूरतें और उनमें पाये जाने वाले अधिकांश खनिज पदार्थ इसमें मौजूद होते हैं। पौधों के अवशेष प्रायः गहरे रंग के समरूप, अनाकार, गंधहीन, जटिल कलिलधारी पदार्थ होते हैं। इनको ही हम ह्यूम्स या अगलित जीवांश कहते हैं। रासायनिक दृष्टि से ह्यूम्स कार्बोहाइड्रेटस, प्रोटीन, चिकनाई (फैट), रेजिन, मोम और दूसरे इसी तरह के पदार्थों का मिश्रण होता है। ह्यूमस में ये मिश्रित संयुक्त पदार्थ धीरे-धीरे मिट्टी के अणु-जीवों द्वारा खनिज

लवणों, कार्बन-डाइ-ग्राक्साइड, पानी, ग्रमोनिया, मिथेन, मुक्त नाइट्रोजन रहित जैविक ग्रम्लों में परिवर्तित होते कहते हैं। ह्यूम्स के विघटन से जो पदार्थ मुक्त होते हैं उनके मूल्यों में इसकी ग्रौसत सरंचना ग्रागे दी गई है।

युक्त होने वाले तत्वों के मूल्यांकों में ह्यूम्स की संरचना

तत्व	प्रतिशत
कार्बन	50
ग्रौक्सीजन	35
नाइट्रोजन	5
हाइड्रोजन	5
राख (फास्फोरस, पोटाश, गंधक ग्रादि)।	5

ह्यूम्स पानी में बहुत कम घुलनशील होता है परन्तु यह गैस और पानी को सोख लेता है। जब यह पानी सोखता है तो इसका ग्रायतन बढ़ जाता है। ह्यूम्स ग्रम्ल ग्रौर क्षारों से संयोग करके लवण बन सकता है। ग्रम्लों और क्षारों से इसको लगभग कोई हानि नहीं पहुंचती।

मिट्टी में जैविक ग्रंश : किसी मिट्टी में कितनी मात्रा में जैविक अंश है, यह मिट्टी की किस्म, जुताई, इसके प्रबन्ध में खाद डालने का क्रम, जलवायु की स्थिति, तापमान, पानी की सप्लाई और जैविक दबाव पर निर्भर करता है। जलवायु मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों के सड़ने का समय और गति का नियमन करती है जबकि मिट्टी में प्राकृतिक रूप से उगने वाली वनस्पितियों पर उसमें उपस्थिति जैविक पदार्थ की मात्रा और गुणधर्म निर्भर करते हैं। मुख्य वर्गों

की भारतीय मिट्टियों की धरातलीय परतों के कार्बनिक अंशों में कितना अन्तर है, यह बात नीचे की सारणी से स्पष्ट है :—

भारतीय मिट्टियों में कार्बनिक पदाथ प्रतिशत

मिट्टी वर्ग	**कार्बनिक पदार्थ प्रतिशत**
काली कपास मिट्टी	0.34—0.77
लाल और लैटराइट मिट्टी	0.68—1.53
दुमट मिट्टी	0.28—1.10

मिट्टी में ह्यूमस का फैलाव या तो यांत्रिक होता है या फिर कणाकार होता है। आमतौर पर ज्यों-ज्यों हम धरातल से नीचे की ओर जाते हैं त्यों-त्यों मिट्टी में कार्बनिक पदार्थों की मात्रा कम होती चली जाती है और एक ऐसा स्थान भी आता है जहां मिट्टी में ह्यूमस बिलकुल नहीं पाया जाता। जंगल की मिट्टियों में ह्यूमस की यह कमी मिट्टी की निचली परतों में तुरन्त हो जाती है। जबकि घास वाले मैदानों में ह्यूमस की कमी धीरे-धीरे होती है। जंगलों में पेड़ों की सूखी पत्तियों के गिरने से धरातलीय मिट्टी के कार्बनिक पदार्थ में अधिक वृद्धि होती है। अगर मिट्टी की अम्लता बढ़ जाती है तो वहां का ह्यूमस बिखर कर मिट्टी की निचली परतों में पहुंच जाता है, जहां यह पीट के रूप में एक कठोर परत का रूप धारण कर लेता है।

कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात : हाइड्रोजन, ऑक्सीजन और कुछ अन्य तत्वों के साथ नाइट्रोजन पौधों को उगाने और उनकी बढ़वार में विशेष भाग अदा करता है। नाइट्रोजन और कार्बनिक पदार्थों के

संयोग से बने पदार्थ मिट्टी का वह भंडार घर हैं जहां से पौधों को धीरे-धीरे नाइट्रोजन प्राप्त होता है। इसलिए यह बात विशेष महत्वपूर्ण है कि कार्बनिक पदार्थों का नाइट्रोजन से क्या सम्बन्ध है। खोजबीन से पता चला है कि जुती हुई मिट्टी में नाइट्रोजन, कार्बन, और कार्बनिक पदार्थों का अनुपात लगभग स्थिर रहता है। ऊपर ह्यूम्स की औसत रचना दी गई है। इससे यह स्पष्ट है कि कार्बनिक पदार्थ का कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात 10 : 1 है कार्बनिक पदार्थ और कार्बन का अनुपात 2 : 1 है और कार्बनिक पदार्थ और नाइट्रोजन का अनुपात 20 : 1 है। इस प्रकार मिट्टी में कार्बनिक पदार्थ की मात्रा मोटे रूप में कितनी है यह मिट्टी में पायी जाने वाली नाइट्रोजन की मात्रा को 20 से गुणा करने पर मिल सकती है।

भारत की अधिकांश मिट्टियों में आमतौर पर कार्बन और नाइट्रोजन की मात्रा कम है और कार्बन और नाइट्रोजन का अनुपात (5 से 25 तक) अक्सर बदलता रहता है बलुई दुमट तलछटी दुमट और दुमट मिट्टियों का यह अनुपात औसतन 10 है और चिकनी दुमट का 14.4 के लगभग है। अर्ध-शुष्क क्षेत्रों की चिकनी दुटम काली मिट्टी में कार्बन और नाइट्रोजन का अनुपात 17. 3 है और नम क्षेत्रों में यह अनुपात औसतन 12 है।

मिट्टी के अणु जीव

मिट्टी में मौजूद कच्ची जैविक सामग्री पौधों द्वारा सीधे ही खुराक की तरह इस्तेमाल नहीं की जाती, इसको पहले ह्यूम्स या जीवांश में विघटित करना होता है और फिर उससे भी सरल रचकों में यह रूपान्तरित की जाती है सभी पौधे इसको इस्तेमाल कर सकते हैं। यह काम मिट्टी में उपस्थित अरबों-खरबों विभिन्न

प्रकार के जीवाणुओं द्वारा किया जाता है। ये अणुजीव (प्राणी और वनस्पति) अपनी खुराक प्राप्त करने और अपने वंश को बढ़ाने की प्रक्रिया में मिट्टी में उपस्थित जीवांश का विघटन करते हैं। इस जीवांश में से पहले शकर और मांड का विघटन किया जाता है इसके बाद सैल्यूलोज़ और फिर चिकने पदार्थ ; सबसे अन्त में रेशा या लकड़ी-धारी लिगनीन का विघटन होता है। जब जैविक सामग्री रासायनिक और जैविक दृष्टि से निष्क्रिय हो जाती है तो भले ही यह कितनी ही मात्रा में उपस्थित क्यों न हो मिट्टी अनुपजाऊ हो जाती है। सभी अणुजीव लाभकारी नहीं होते। कुछ ऐसे जीवाणु भी होते हैं जो जललग्न मिट्टियों में वायु रहित स्थिति में मिट्टी की नाइट्रोजन बढ़ाने की अपेक्षा उसे कम कर देते हैं। इसके लिए वे जीवांश सामग्री से नाइट्रोजन को मुक्त कर देते हैं जो हवा में मिल जाती है। कुछ ऐसे अणुजीव पौधाई रोगों को पैदा करते हैं। यह भी कहा गया है कि मिट्टी में अणुजीवों द्वारा संश्लेषित कुछ जैविक पदार्थ पौधा संरक्षण को बढ़ाने का गुण रखते हैं।

अणु जीवों की किस्में : अणु जीवों को मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया जाता है—"माइक्रोफ्लोरा" या अणु-वनस्पति तथा "माइक्रोफोना" या अणु-प्राणी।

अणु-वनस्पति में जीवाणु, फफूंद, शैवाल और एक्टीनोमाइसेट्स आते हैं। अणु-प्राणी में प्रोटोज़ोआ और नैमटोड्ज़ जैसे सूक्ष्म कीड़े आते हैं। इनके अतिरिक्त मिट्टी में बड़ी संख्या में भाँति-भाँति के कीड़े मकोड़े होते हैं।

मिट्टी में अणु जीवों की आबादी : इन विभिन्न अणुजीवों की आबादी मिट्टी में कुछ प्रति एकड़ से लेकर करोड़ों प्रति ग्राम मिट्टी तक

होती है। इन अणुजीवों की आबादी मिट्टी से प्राप्त होने वाली खुराक, नमी, ताप, भौतिक दशायें और उनके प्रति मिट्टी की प्रतिक्रिया पर निर्भर करती हैं। कम या अधिक उदासीन मिट्टियों की अणुजीवी आबादी में जीवाणु सबसे अधिक पाये जाते हैं। यदि मिट्टी में अम्लीय और जैविक पदार्थों का बाहुल्य होता है तो ऐसी मिट्टी में सबसे अधिक फफूंदी पायी जाती है। लगातार नम रहने वाले और छायादार क्षेत्रों की मिट्टी की सतह सदैव ही शैवालों से घिरी रहती है।

अनुकूलतम दशाओं में—जैसी कि किसी खड़ी हरी खाद वाली फसल को खेत में जुताई के बाद प्राप्त होती है—जीवाणु बहुत तेजी के साथ बढ़ते हैं। किन्तु रेतीली रेगिस्तानी मिट्टियों या जलमग्न धरतियों में जीवाणुओं की संख्या बहुत कम होती है। एक अनुमान के अनुसार मिट्टी के अणु-वनस्पति की कुल आबादी में 90 प्रतिशत जीवाणु, 9·0 प्रतिशत एक्टोनोमाइसेट्स और एक प्रतिशत फफूंद और शैवाल होते हैं। मिट्टी के अणु-प्राणियों में प्रोटोज़ोआ सबसे अधिक होते हैं, जिसके बाद इसमें नैमटोड्ज़, केंचुये जैसे कीड़े और मकोड़े पाये जाते हैं।

जीवाणु प्रक्रिया : जीवाणुओं की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण किस्म मिट्टी में उपस्थित जैविक संयुक्तों को अमोनिया में बदल देती है। एक और जीवाणु, जिन्हें नाइट्रोसोमोन्स कहते हैं, अमोनिया को नाइट्राइट में और तीसरी प्रकार के जीवाणु नाइट्रोबैक्टर नाइट्राइट को नाइट्रेट में बदल देते हैं। नाइट्रोसोमोन्स और नाइट्रोबैक्टर जीवाणुओं को मिलाकर एक नाम से नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया या नाइट्रोजन में बदलने वाले जीवाणु कहा जाता है और इस सारी प्रक्रिया को

नाइट्रोजन परिवर्तन की प्रक्रिया या नाइट्रीफिकेशन कहते हैं। यद्यपि यह सभी ऐसी मिट्टियों में मिलते हैं जिनमें खेती की जाती है. किन्तु नाइट्रीफाइंग बैक्टीरिया की प्रक्रिया मिट्टी के 10 से 12 इंच तक की ऊपरी सतह तक ही जारी रहती है। ये जीवाणु 25-38° सैं० ताप के बीच में सबसे अच्छे काम करते हैं। इसके साथ ही यदि अच्छी जुताई होती है, हवा का आवागमन अच्छा होता है, मिट्टी न क्षारीय होती है और न तेजाबी और मिट्टी के पानी को रोकने की क्षमता की 60 प्रतिशत नमी मिट्टी में होती है तो ये जीवाणु बहुत तेजी से काम करते हैं। ये जीवाणु जब मिट्टी का पी-एच मान 5 से नीचे गिर जाता है तो निष्क्रिय हो जाते हैं। किन्तु चूना मिलाने पर जब पी-एच मान फिर 6 हो जाता है तो ये फिर सक्रिय हो उठते हैं। यदि कच्चे जैविक पदार्थ में कार्बन अंश अधिक होता है तो जीवाणुओं की आबादी अत्यधिक बढ़ जाती है। इससे मिट्टी में उपस्थित ये सारे नाइट्रोजन को खा जाते हैं और मिट्टी में अल्पकाल के लिए नाइट्रेट नहीं रहते। यदि खेत को भारी हरी खाद दी जाती है तो भी ऐसा ही प्रभाव मिट्टी पर पड़ता है। मिट्टी में नाइट्रोजन की इस कमी को दूर करने के लिए मिट्टी में काफी नाइट्रोजन उर्वरक दिये जाते हैं जिससे जीवाणुओं और फसलों की नाइट्रोजन-आवश्यकता को वे पूरा कर सकें अथवा मिट्टी में इतना जैविक पदार्थ मिलायें जो विघटन प्रक्रिया को फसल उगने से पहले ही पूरा कर सकें, या ऐसी फलीदार फसल बोयें जो बाद में अत्यधिक कार्बनधारी अन्नों के भूसे के साथ मिलाकर खेत में जोती जा सके। इसलिए सैंजी और इसी प्रकार की दूसरी खरपतवार को, जो पंजाब के सिंचाई वाले गेहूँ क्षेत्रों में खड़ी रहती है, जोतने से लाभ रहता है।

जीवाणुओं के दो वर्ग और भी हैं जो मिट्टी की नाइट्रोजन समस्या से सम्बन्धित है । ये मुक्त नाइट्रोजन वायु से लेते हैं और इस को नाइट्रोजनधारी उन पदार्थों में बदल देते हैं जिनको पौधों की फसल. इस्तेमाल कर सके । इस प्रकार का पहला वर्ग सहजीवी के रूप में (राइज़ोबियम प्रजाति) फलीदार फसलों के साथ काम करता है और दूसरा वर्ग (एज़ेटोबैक्टर प्रजाति) फलीदार फसलों के अलावा नाइट्रोजन को स्वतन्त्र रूप से मिट्टी में स्थिर करता है । सहजीवी जीवाणु जड़-छिद्रों में प्रवेश कर जाते है और प्रवेश द्वार पर वे पौधों को गांठें पैदा करने के लिए उत्तेजित करते हैं । ये जीवाणु इन गांठों में बढ़ते हैं और अपनी आबादी को बढ़ाते हैं । अपनी खुराक के लिए कार्बोहाइड्रेट और भोजन पौधे से लेते हैं और नाइट्रोजन हवा से लेकर प्रोटीन जैसे नाइट्रोजनधारी जैविक पदार्थ बनाते हैं जो बाद में पौधे को खुराक के रूप में उपलब्ध होते हैं । इनसे मिट्टी में 50 से 150 पौंड प्रति एकड़ नाइट्रोजन बढ़ जाती है। नाइट्रोजन स्थिर करने वाले जीवाणुओं की अनुपस्थिति में फलीदार फसलों की जड़ों में भी नाइट्रोजनधारी गांठें नहीं बनती और इस तरह आकाश की नाइट्रोजन मिट्टी में नहीं आ पाती । यह भी पता चला है कि जड़ों में गांठ बनाने वाले जीवाणुओं की अनेक किस्में होती हैं । इनमें से प्रत्येक किस्म केवल कुछ विशिष्ट वर्ग की फलीदार फसलों में ही गांठें पैदा करने के योग्य होती हैं । खोज-बीन करने पर यह पाया गया है कि यदि फलीदार फसल में हम इस प्रकार के जीवाणु की काफी मात्रा उसकी जड़ों में रखना चाहते हैं तो इसके लिये हमें इस फसल को बोने से पहले उसके बीजों में उपरोक्त जीवाणु-समूह का टीका लगाना होगा । इसके लिए यह जीवाणु-समूह प्रयोगशालाओं में पाले जाते हैं ।

ऐज़ेटोबेक्टर और मिट्टी में नाइट्रोजन स्थिर करने करने वाले दूसरे असहजीवी जीवाणु खेत में खड़ी बिना किसी विशेष .फसल के भी अपना काम करते रहते हैं। प्रयोगशाला की अनुकूलतम दशाओं में ऐज़ेटोबेक्टर जीवाणुओं द्वारा तीन सप्ताह में 20 लाख पौंड मिट्टी में 200 पौंड नाइट्रोजन के तुल्यांक खाद स्थिर करने में सफल हुए हैं।

एक्टीनोमाइसेट्स : यह भी आकार में जीवाणुओं जितने ही होते हैं। किन्तु शरीर शास्त्र और पालन-पोषण की दृष्टि से फंफूदों के समान होते हैं। यह मिट्टी की गहनतम स्तरों और सूखी दशाओं में भी पनप जाते हैं और इनकी खुराक के लिए कम नाइट्रोजन की जरूरत पड़ती है। कहा जाता है कि ये उन रासायनिक पदार्थों का भी निर्माण करते हैं जिनकी सुपरिचित गन्ध हमें धूप लगे और अच्छी तरह जुते खेतों से पहली वर्षा पड़ने पर आती है।

फंफूदें : फंफूदें आँखों से भी दिखाई न पड़ने वाले सूक्ष्म रेशे पैदा करती हैं जो माइसीलिया कहलाते हैं। ये रेशे या तो मिट्टी की सतह पर पाये गये विघटित जैविक पदार्थ में मिलते हैं या सतह के नीचे मिट्टी के उन स्तरों में जिनमें पौधों की जड़ें होती हैं। अनेक फंफूदें हानिकर नहीं होतीं और वे मृत जैविक पदार्थों पर जीवित रहती हैं। कुछ फंफूदें परजीवी होती हैं जो जिन्दा पौधों पर हमला करती हैं और अनुकूलतम दशाओं में लम्बे-चौड़े क्षेत्रों में पौधों को फंफूदी महामारियाँ फैलाती हैं। लेकिन कुछ ऐसी परजीवी फंफूदें भी होती हैं जो पौधों की अनुपस्थिति में भी रह सकती हैं।

शैवाल : यह सूक्ष्म और बड़े पौधे होते हैं जिनमें क्लोरोफिल या पर्णहरित पाई जाती है। यही वह पदार्थ है जो धूप की उपस्थिति

में वायु की कार्बन-डाई-आक्साइड से मिलकर कार्बोहाइड्रेट आदि आवश्यक खाद्यान्न बनाते हैं। शैवाल बड़ी संख्या में नम मिट्टियों जैसे धान की खेतों में मिलते हैं। इनमें से कुछ शैवाल वायुमण्डल से नाइट्रोजन लेकर मिट्टी में स्थिर करने का गुण भी रखते हैं।

प्रोटोज़ोआ : मिट्टी के प्रोटोज़ोआ एक कोष वाले प्राणी होते हैं। यह या तो जीवाणुओं को खाकर जिन्दा रहते हैं या मिट्टी में उपस्थित जैविक सामग्री पर। इस तरह यह मिट्टी के जीवाणुओं की संख्या को नियंत्रण में रखते हैं। बड़े प्रोटोज़ोआ दलदली या नम स्थानों में पाये जाते हैं।

कीड़े-मकोड़े : मिट्टी में भिन्न-भिन्न प्रकार के कीड़े-मकोड़े भी पाये जाते हैं। वे पौधाई अवशेष खाकर रहते हैं जिनको वे मिट्टी के साथ अपने शरीर में ले जाते हैं। मल के रूप में उनसे निकली हुई मिट्टी धरती में इधर-उधर जमी हुई मिलती है। कीड़े और उससे कुछ बड़े प्राणी मिट्टी में हवा और पानी के आवागमन में सहायक होते हैं। वे मिट्टी में नन्हीं-नन्हीं नालियाँ बनाते हैं और उनमें अपने जीवन रक्षा के लिए या अपने खाद्य पदार्थ के लिए छिपे रहते हैं।

मिट्टी का प्रबन्ध

सफल खेती के लिये मिट्टी के भौतिक, रासायनिक और जैविक गुणों का ही होना जरूरी नहीं होता, दरअसल इसके लिए उचित प्रबन्ध की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए मिट्टी और उसमें उगने वाली फसलों के सम्बन्ध को ठीक तरह से इस्तेमाल में लाना जरूरी होता है। भूमि का प्रबन्ध मिट्टी की प्रकृति, जलवायु की

दशाओं और उनमें उगने वाली फसलों की किस्मों पर निर्भर करता है। अच्छी मिट्टी के प्रबन्ध के लिए आगे लिखी बातें जानता जरूरी हैं :

(1) किसी निश्चित मिट्टी के लिए किसी ठीक फसल का चुनाव अथवा किसी निश्चित फसल के लिए ठीक मिट्टी का चुनाव।

(2) मिट्टी के रखरखाव का प्रबन्ध इस तरह करना कि जिससे छांटी गई फसलों को सफलतापूर्वक उगाने के लिए उपयुक्त दशायें मौजूद हो सकें।

(3) मिट्टी की उर्वरक क्षमता में सुधार करना।

(4) ऐसी ही कृषि क्रियाओं की सिफारिश करना जो आर्थिक रूप से लाभकर हों।

विभिन्न जलवायु वाले प्रदेशों में फसल विशेष को उगाने के लिए कौनसी मिट्टी उपयुक्त रहेगी या कौनसी मिट्टी में फसल ठीक उगेगी, इसके लिए आगे लिखी बातें ध्यान में रखनी जरूरी हैं :—
(1) मिट्टी की भौतिक बनावट विशेष रूप से इसके कणों की रचना। (2) मिट्टी संगठन (3) भूगर्भी मिट्टी की दशा और (4) मिट्टी के नम अंश में होने वाले परिवर्तन। इसके साथ ही भूमि संरक्षण या पानी द्वारा मिट्टी की अत्यधिक कटान सम्बन्धी बातों का ज्ञान भी होना जरूरी है।

साथ ही यह भी जानना जरूरी है कि किस फसल के लिए कौन से उन्नत और उपयुक्त कृषि औजार तथा आधुनिक कृषि क्रियाएं काम में लाई जानी चाहिएं। फसलों में अपनाई जाने वाली कृषि क्रियाओं, फसल चक्र, भू-रक्षण, जल या हवा की निकासी
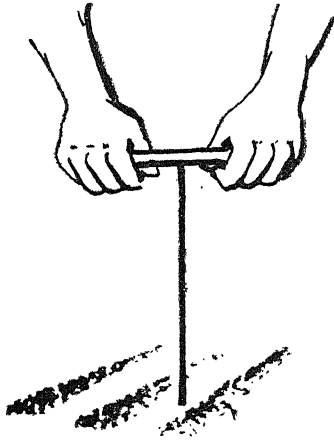
मिट्टी का नमूना लेने के लिए
सबसे पहले बर्मे से भूमि
में छेद कीजिए...

मिट्टी की भौतिक परख

और फिर थोड़ी-सी गहराई
की बर्मे द्वारा निकली मिट्टी
को हाथ में लेकर मिट्टी के
कणों के रंग, रूप, बनावट
आदि को परखिए
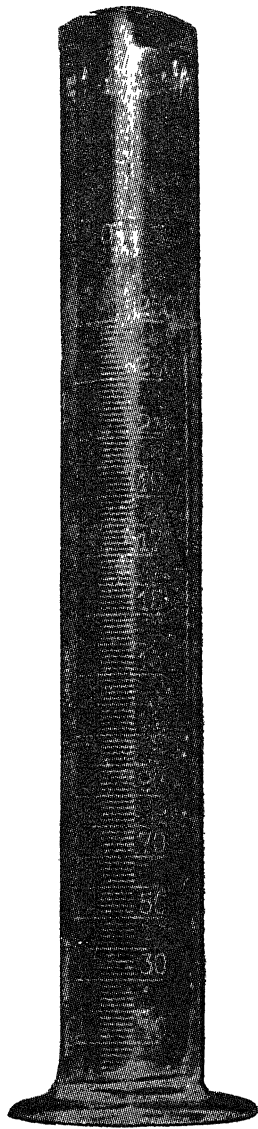
तरल पदार्थों के घनत्व की परख के लिए काम आने वाला यन्त्र, हाइड्रोमीटर

के उपयुक्त प्रबन्ध का अभाव, बड़ी मात्रा में मिट्टी का पानी में घुलकर बह जाना और गर्मी के कारण मिट्टी में उपस्थित नमी का उड़ जाना फसल पर भारी असर डालते हैं।

मिट्टी की उपज-क्षमता को सुधारने के लिए जैविक पदार्थों का मिट्टी में आवश्यक मात्रा में उपस्थित होना, अणु जीवों के लिए मिट्टी में काम करने की अनुकूलतम दशाओं का पाया जाना, उर्वरकों द्वारा पौधों को आवश्यक पोषक पदार्थ देते रहना, फलीदार फसलों को उगाना और खड़ी फसलों को हरी खाद देना, आदि आवश्यक हैं। इसी प्रकार विभिन्न विशेष परिस्थितियों में सूखे या अधसूखे क्षेत्रों में सिंचाई सुविधाओं का प्राप्त करना, मिट्टी में खारेपन, तेजाबियत या लवणता की सघनता को दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाना, पौधों में मिट्टी के असंतुलित पोषक तत्वों को पूरा करना और लेश तत्त्वों को आवश्यक मात्रा में देना भी मिट्टी के उपजाऊपन को कायम रखने के लिये जरूरी होते हैं।

भूमि के सफल प्रबन्ध के लिये उपरोक्त बातों की जानकारी जरूरी है। यह काम व्यक्तिगत रूप से नहीं हो सकता, क्योंकि इसके लिये खेतों में सर्वेक्षण, अनुभवी किसानों से पूछताछ, खेतों पर वास्तविक परीक्षण और प्रयोगशालाओं में खोजबीन की जरूरत पड़ती है। इस जटिल काम को सरकारी सहायता से किसानों की सहकारी समितियाँ ही उचित ढंग से पूरा कर सकती हैं।

3.

खाद और उर्वरक

पौधों के पोषक तत्व : पौधों के लिए आमतौर पर नीचे लिखे पोषक तत्वों की आवश्यकता होती है :

कार्बन, ग्राक्सीजन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटेशियम, कैल्शियम, मैगनेशियम, लोहा ग्रौर गंधक ।

कार्बन तत्व हवा को कार्बन-डाइ-ग्राक्साइड से प्राप्त होता है, ग्राक्सीजन तत्व हवा तथा पानी से, हाइड्रोजन पानी से, नाइट्रोजन हवा या मिट्टी से और पौधों के ग्रन्य सब पोषक तत्व, खनिज ग्रौर जैविक पदार्थों से प्राप्त होते हैं । बहुत ही कम पौधे नाइट्रोजन को उसके नाइट्राइट के शुद्ध रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं, वे मुख्य रूप से नाइट्रोजन को नाइट्रेट या ग्रमोनिया के रूप में इस्तेमाल करते है । नाइट्रोजन के ये रूप (ग्रमोनियम ग्रौर नाइट्रेट) मिट्टी में मौजूद जैविक पदार्थों पर जीवाणुओं की प्रक्रिया से बनते हैं या मिट्टी में एकत्र की गई वायुमण्डलीय नाइट्रोजन से बनते हैं जो भूमिगत सहजीवी ग्रौर ग्रसहजीवी जीवाणुग्रों द्वारा वायुमंडल से मिट्टी में सोख ली गई है ।

नाइट्रोजन : नाइट्रोजन से पौधों में वनस्पतिक विकास अधिक होता है । इसके कारण पौधों की पत्तियों का रंग गहरा हो जाता है । इसके ग्रतिरिक्त नाइट्रोजन तत्व पौधों के फास्फोरस ग्रौर पोटेशियम तत्वों के उपयोग की क्षमता को कुछ सीमा तक नियमित

करता है। नाइट्रोजन के अभाव से पौधों की बढ़ोत्तरी और जड़ों का विकास रुक जाता है, पौधों की पत्तियाँ पीली पड़ने लगती हैं, फसल जल्दी पक जाती है, दाने सिकुड़ जाते हैं और पैदावार कम हो जाती है। परन्तु इस प्रकार के लक्षण केवल नाइट्रोजन की कमी से ही दिखाई नहीं पड़ते वरन् लोहा, मैगनीशियम या किसी अन्य तत्व की कमी होने पर भी ऐसे ही लक्षण दिखाई देने लगते हैं। अर्थात् लोहे की कमी से भी पत्तियाँ पीली पड़ जाती हैं। नाइट्रोजन की मात्रा अधिक होने पर पौधों की पत्तियाँ बहुत बढ़ जाती हैं उनका रंग गहरा हरा हो जाता है और फसल पकने की अवधि बढ़ जाती है। जौ, आलू, तम्बाकू, गन्ना और फलों आदि से घटिया किस्म की उपज प्राप्त होती है, पौधों को रोग अधिक लगते हैं, तथा गेहूं, जौ और धान आदि खाद्यान्न फसलों के तने लम्बे हो जाते हैं, जिससे उनकी तेज हवा को सहन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है और तेज हवा चलने पर फसल गिर जाती है और उपज कम प्राप्त होती है।

फास्फोरस : यह पौधों की बढ़वार को प्रभावित करता है और फसल की किस्म को बढ़िया बनाता है। इससे पौधों में नवीन कोषों का निर्माण होता है, जड़ों की वृद्धि तेजी से होती है (विशेष रूप से तन्तुदार जड़ों का विकास होता है)। इसके कारण पत्तियों का विकास, बालों का निकलना, बीज और दानों का बनना और फसल के पकने की प्रक्रिया तेज हो जाती है। यह पौधों को रोगरोधी बनाता है और खाद्यान्न फसलों के पौधों के तनों को मजबूत करता है, जिससे उनके गिरने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। इसके कारण मिट्टी में उपस्थित नाइट्रोजन की अत्यधिक मात्रा पौधों को हानि

नहीं पहुंचा पाती। फलीदार फसलों में फास्फोरस देने से भूमि में उन जीवाणुओं के विकसित होने की प्रक्रिया तेज हो जाती है, जो वायु-मंडल की नाइट्रोजन को मिट्टी में स्थिर करने का काम करते हैं। भूमि में फास्फोरस की कमी होने पर पौधे जल्दी-जल्दी बढ़ नहीं पाते, उनकी जड़ों का संतोषजनक विकास नहीं हो पाता, वे बौने रह जाते हैं और कभी-कभी शर्करा अंश की असाधारण वृद्धि होने के कारण उनके तने ललाई या पीलाई लिए रंगहीन से हो जाते हैं।

फिर भी पौधों में फास्फोरस की कमी का उतनी आसानी से पता नहीं चल पाता, जितना कि नाइट्रोजन की कमी का चल जाता है। यह भी देखा गया है कि जिन पशुओं को फास्फोरस तत्व कमी वाली भूमि का चारा, घास इत्यादि खिलाई जाती है, उनका कद छोटा व जोड़ सख्त हो जाते हैं, और चमड़ी में चिकनाइट नहीं रहती। इसलिये ऐसे पशु हड्डियों और मिट्टी को खाने की बड़ी लालसा रखते हैं।

पोटाश : यह पौधों को बीमारियों, कीड़ों के आक्रमण, ठंड और अन्य विपरीत परिस्थितियों का प्रतिरोध करने में सहायक होता है। इसका स्टार्च और शकर निर्माण करने की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए पोटाश गन्ना,आलू और चुकन्दर जैसी फसलों के लिए महत्वपूर्ण है।

जब फलीदार फसलों में पोटाश की खाद दी जाती है। तब पौधों में शकर और स्टार्च निर्माण की प्रक्रिया बढ़ जाती है, इससे सहजीवी जीवाणुओं को लाभ होता है और भूमि में उपस्थित नाइट्रो-जन को स्थिर करने की गति तेज हो जाती है। इससे तम्बाकू और नींबू वर्ग की फसलों की किस्मों में भी सुधार होता है। यदि खेत

में पोटाश पर्याप्त मात्रा में मौजूद है तो खाद्यान्न के दाने मोटे होते हैं और उनका भूसा भी अच्छी किस्म का होता है। पोटाश की मात्रा अधिक होने पर फसल देर से पकती है परन्तु उतने विलम्ब से नहीं, जितनी नाइट्रोजन की अधिकता होने पर पकती है।

सामान्यतया पौधों को अपने उचित विकास के लिये जितने पोटेशियम की आवश्यकता होती है वे उससे अधिक पोटेशियम का संग्रह कर लेते हैं। परन्तु जैसे ही वे सूख जाते हैं या काट दिए जाते हैं, उसमें संग्रहित पोटाश तत्व पानी पड़ने पर आसानी से घुल कर बह जाता है। पोटेशियम की कमी से रिजका जैसी हरी खाद वाली फसलों की पत्तियों के इर्द-गिर्द छोटे सफेद दाग पड़ जाते हैं, कपास की पत्तियाँ लाल-भूरे रंग की हो जाती हैं। आलू की पत्तियां किनारे से सूखना, झुलसना और मुड़ना शुरू हो जाती हैं और मकई के पत्तों के किनारे पीले पड़ जाते हैं और मुरझा जाते हैं। इन पौधों में भी उनकी पुरानी पत्तियों पर पहले असर पड़ता है।

मैगनीशियम तत्व : यह क्लोरोफिल का एक अनिवार्य अंश होता है। क्लोरोफिल के कारण ही पत्तियों को हरा रंग प्राप्त होता है। इसलिए इसको पर्णहरित कहते हैं। पौधों में चिकनाई निर्माण की प्रक्रिया के लिए भी यह जरूरी होता है। पौधों को इसकी अपेक्षाकृत कम मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। अतः भूमि में इसकी कमी का पता पोटेशियम की अपेक्षा देर में लगता है। इस की कमी से पौधों की पत्तियां पीली पड़ जाती हैं। मैगनीशियम की कमी से मकई की पत्तियों की शिराओं के बीच-बीच में लाल सफेद दाग पड़ जाते हैं, परन्तु उनकी शिरायें गहरी हरी ही रहती हैं। सोयाबीन की पत्तियाँ

पीली हो जाती हैं और सेव के वृक्षों में पत्तों पर भूरे धब्बे पड़ जाते हैं। मैगनीशियम की कमी के कारण समय से पूर्व ही पत्ते झड़ जाते हैं।

कैल्शियम : कैल्शियम पौधों में उपस्थित पैक्टीन के साथ संयोग करके कैल्शियम पैक्टेट बनाता है। पैक्टीन एक रासायनिक तत्व होता है जो फलों और पौधों में पाया जाता है। पैक्टीन में जमाकर जैली जैसी मुलायम झिल्ली बनाने का गुण होता है। इसके कारण ही फलों को लप्सी जैसा बनाने का गुण प्राप्त होता है। पौधों की कोष-दीवारों के रचकों में कैल्शियम का मुख्य स्थान है। कैल्शियम उन भूमिगत जीवाणुओं की प्रक्रिया बढ़ाने में मदद करता है, जो वायुमण्डल की मुक्त नाइट्रोजन को मिट्टी में स्थिर करने का काम करते हैं या जो भूमि में उपस्थित नाइट्रोजन के जैविक पदार्थों से नाइट्रेट बनाने का काम करते हैं। इसके अतिरिक्त जड़ प्रणाली के भली-भांति विकसित होने के लिए भी उसकी उपस्थिति आवश्यक है। यह भूमि में उपस्थित अन्य पोषक तत्वों के अघुलनशील पदार्थों को घुलनशील बनाने में सहायता पहुंचाता है। कैल्शियम के अधिक उपस्थित होने पर पौधों के कुछ रोग भी दूर हो जाते हैं। परन्तु आलू की फसलों में कैल्शियम की अधिकता से स्केब रोग पैदा हो जाता है। इसके विपरीत यदि पौधों को कैल्शियम की मात्रा कम मिले तो उनकी जड़ें सिरों पर सूखने लगती हैं और ठूँठ जैसी छोटी हो जाती हैं। इस प्रकार मुख्य रूप से फलीदार फसलों की बढ़वार पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

पत्तियों के चितकबरे रंग का होना और ऊतकों (टिशुओं) का नष्ट होना इत्यादि कैल्शियम की कमी के लक्षण हैं। क्योंकि

कैल्शियम की कमी आमतौर से अम्लता की सहगामिनी होती है, इसके कारण लोहा, एल्यूमिनियम और मैंगनीज के घुलनशील विषैले पदार्थ धरती में जमा हो जाते हैं। इसलिए कैल्शियम की कमी का पौधों में जो बुरा प्रभाव दिखायी पड़ता है, वह या तो अम्लता के कारण होता है अथवा उपरोक्त तत्वों में से किसी पदार्थ के विषैलेपन के उपयोग से भूमि की अम्लता उदासीन हो जाती है और भारी मिट्टी वाली भूमि को सुधार कर उसे भुरभुरा और आसानी से खेती करने योग्य बना देती है।

लोहा : फसलों को लोहे की जरूरत होती है, और पौधों के लिए यह एक आवश्यक तत्व है। यद्यपि क्लोरोफिल की संरचना में इसका कोई स्थान नहीं है। फिर भी क्लोरोफिल संश्लेषण की क्रिया के लिए यह आवश्यक है। जिन पौधों को लोहे का अंश नहीं मिल पाता, वे क्लोरोफिल का निर्माण नहीं कर पाते और उनमें क्लोरोसीस (शून्यता आ जाती है) पैदा हो जाती है। क्लोरोसिस के पैदा होने का कारण विशेष रूप से क्षारीय मिट्टियों में यह है कि लौह अंश इन मिट्टियों में अघुलनशील लौह फास्फेट के रूप में निर्मित हो जाता है। इस बीमारी को घुलनशील लौह पदार्थों का उपयोग करके दूर किया जा सकता है। इसका निवारण घुलनशील लौह लवण दे कर भी किया जा सकता है।

गंधक : यह भूसा और पौधों के डण्ठलों का महत्वपूर्ण अवयव होता है। प्याज, लहसन, बन्दगोभी, मूली, शलजम और फलीदार फसलें जैसे मूँगफली, चना और रिजका आदि में गंधक की प्रतिशत मात्रा अधिक होती है। इसलिए इन फसलों की खेती गंधक से भरपूर भूमि पर ही अच्छी होती है। गंधक की कमी से

कोपलें (नयी पत्तियां) पीली पड़ जाती हैं, जड़ें और तने असाधारण रूप से लम्बे हो जाते हैं और उनमें लकड़ी अंश अधिक बढ़ जाता है। फलों के वृक्षों में गंधक की कमी के कारण फल हरे रंग के, मोटे छिलके वाले और कम रसदार हो जाते हैं। गन्धक, कैल्शियम सल्फेट या गन्धक तत्व के रूप में क्षारीय मिट्टियों का सुधार करने में उपयोगी पाया गया है।

सोडियम : यह सभी पौधों के लिए आवश्यक नहीं है, परन्तु चुकन्दर, सेलरी, बन्दगोभी, मूली, सरसों, शलजम आदि कुछ फसलों में इसे घुलनशील सोडियम के रूप में देने पर, विशेषकर उन मिट्टियों में जिनमें पोटेशियम की कमी पाई जाती है, उपयोगी सिद्ध हुआ है। सोडियम ऐसे पौधों के लिए सीधे ही उपयोगी पाया गया है, जो समुद्रतट या शुष्क सिंचाई वाले क्षेत्रों में उगते हैं। कहा जाता है कि सोडियम तत्व के यौगिक मिट्टी में उपस्थित पोटेशियम को पौधों को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं और उनकी उपस्थिति के कारण मिट्टी का फास्फोरस अंश अधिक सुगमता से उपलब्ध होने वाले रूप में मौजूद रहता है।

भूमि के उपजाऊपन को स्थिर रखना : किन्हीं भी दो प्रकार की मिट्टियां न तो बनावट में एक जैसी होती हैं और न उनमें पोषक तत्वों की मात्रा समान पाई जाती है। अलग-अलग मिट्टियों में पोषक तत्वों की कमी या अधिकता हो सकती है। कुछ पोषक तत्व मिट्टी में उसके निर्माण काल से ही उपस्थित नहीं होते और कुछ पोषक तत्वों की कमी सापेक्षिक अघुलनशीलता के कारण हो सकती है। मिट्टी में मुख्यतः आगे लिखे तीन पोषक तत्व होते हैं, (1) नाइट्रोजन, (2) फास्फोरस और (3) पोटाश। आगे की

सारणी में उन तत्वों की मात्रा दी गई है जिसे कोई भी महत्वपूर्ण फसल एक बार में प्रति एकड़ भूमि से इस्तेमाल कर लेती है।

फसलों द्वारा उपयोग की गई मिट्टी में उपस्थित पोषक तत्वों का उपयोग

फसल	उपज (पौंड प्रति एकड़)	पोषक तत्वों की उपयोग की गई मात्रा पौंड प्रति एकड़		
		नाइट्रोजन	फास्फोरस	पोटाश
चावल	2,000	30	20	60
गेहूँ	1,400	50	21	60
ज्वार	1,600	50	13	130
बाजरा	1,000	32	20	59
मक्का	1,800	32	18	35
जौ	1,000	37	18	31
गन्ना	60,000	80	15	180
मूंगफली	1,700	70	20	40
सरसों	600	20	10	25
अलसी	900	17	11	29
कपास	400	27	15	40
पटसन	1,400	60	30	60
चाय	800	40	12	25
कौफी	800	30	10	30
तम्बाकू	13,00	84	51	81

यह अनुमान लगाया गया है कि भारत में कृषि की विभिन्न फसलों द्वारा भूमि में प्रतिवर्ष लगभग 42 लाख टन नाइट्रोजन, 21 लाख टन फास्फोरस (P_2O_5), 73 लाख टन पोटाश और 49 लाख

टन चूने का उपयोग कर लिया जाता है। उन्नत बीजों को उपयोग और उपज बढ़ाने के दूसरे तरीकों को अपनाने से अपेक्षाकृत और भी अधिक मात्रा में भूमि से पोषक तत्वों का उपयोग होगा। पानी में घुल कर बहने के कारण इन पोषक पदार्थों की और भी कमी होगी। इस देश में संश्लेषित नाइट्रोजन धारी उर्वरकों का वर्तमान उत्पादन 1 लाख टन नाइट्रोजन से अधिक नहीं है तथा जैविक खादों से प्रतिवर्ष 6.3 लाख टन नाइट्रोजन और मिल जाती है। भूमि को ऊपर से फास्फोरस और पोटाश बहुत कम मात्रा में प्राप्त होता है। अतः यह स्पष्ट है कि वर्तमान पोषक तत्वों की उस भारी कमी को यदि प्राकृतिक या मनुष्यकृत तरीकों द्वारा पूरा नहीं किया जायेगा तो भूमि की उपजाऊ शक्ति धीरे-धीरे पूरी तरह नष्ट हो जायगी। इसलिए मिट्टी के उपजाऊपन को कायम रखने और मिट्टी की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए आगे लिखे कदम उठाने जरूरी हैं :

(1) मिट्टी में जैविक पदार्थों की मात्रा को बढ़ाना ताकि न्यूनाधिक मात्रा में फसल को लगातार पोषक तत्व उपलब्ध होते रहें और (2) उर्वरकों के उपयोग द्वारा भूमि में पोषक तत्वों की कमी को पूरा करते रहना और उसको बढ़ाना।

प्रति एकड़ उपज बढ़ाने में खाद और उर्वरकों का सिंचाई के बाद दूसरा स्थान है। खाद देने से कम से कम 25 से 35 प्रतिशत तक उपज बढ़ाई जा सकती है। यदि सिंचाई वाले क्षेत्रों में उर्वरक या जैविक खाद दी जाए तो उपज और भी ज्यादा बढ़ सकती है। देश की बढ़ती हुई जनसंख्या और पशु-आबादी की खाद्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कृषि के अधिक उत्पादन में उर्वरकों और पोषक तत्वों ने अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है।

खाद और उर्वरक

भारत की मिट्टियों में आमतौर पर नाइट्रोजन और जैविक पदार्थों की भारी कमी पाई जाती है। यहाँ की मिट्टियों में फास्फोरस की कमी कम व्यापक है और पोटाश की कमी आमतौर से कुछ ही क्षेत्रों में है। अम्लीय मिट्टियों में चूना देने से उनकी उत्पादन-शक्ति को बढ़ाया जा सकता है।

भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने और उसे ज्यों की त्यों बनाये रखने के लिए आमतौर से जिन पदार्थों का प्रयोग किया जाता है उनको खाद और उर्वरक दो वर्गों में रखा जा सकता है। खाद और उर्वरक एक दूसरे के पूरक होते हैं और उनमें से एक को दूसरे के बदल के रूप इस्तेमाल नहीं किया जा सकता।

(1) **खाद :** इस वर्ग के अन्तर्गत गोबर की खाद और हरी खाद आती है। ये आमतौर पर भूमि की भौतिक स्थिति को सुधारने में, अगलित जीवांश को बनाए रखने में और उसे पूरा करने में भूमि के अणुजीवों की प्रक्रिया के लिए अनुकूलतम दशाएँ पैदा करने में और पौधों द्वारा पोषक तत्वों को खुराक के रूप में प्रयोग करने में तथा भू-क्षरण या बहाव के द्वारा पोषक तत्वों को, नष्ट होने पर उनकी पूर्ति करने, आदि कार्यों में मदद करते हैं। इन खादों से लगभग वे सभी पोषक तत्व मिट्टी को मिल जाते हैं, जो फसलों के लिए आवश्यक होते हैं। सामान्यतया खादों में पौधों के खाद्यांश अघुलनशीलरूप में मौजूद रहते हैं परन्तु जब खाद मिट्टी में दी जाती है तो मिट्टी में उपस्थित अणु-जीव इनको विश्लेषित करके घुलनशील रूप में पौधों द्वारा उपयोग करने योग्य बना देते हैं। इसी

प्रकार हरी खाद देने से केवल अधिक मात्रा में जैविक पदार्थ ही उपलब्ध नहीं होता, बल्कि उससे आगामी फसल की सम्पूर्ण आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नाइट्रोजन की पर्याप्त मात्रा भी मिल जाती है।

(2) **उर्वरक** : उर्वरक आमतौर पर ऐसे अकार्बनिक पदार्थ होते हैं, जो मिट्टी में नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश आदि अनिवार्य पोषक तत्वों की कमी को पूरा करने या बढ़ाने के लिए इस्तेमाल में लाये जाते हैं। उर्वरकों में ये तत्व घुलनशील या आसानी से उपलब्ध होने वाले रासायनिक यौगिकों के रूप में विद्यमान रहते हैं। उर्वरकों को "रासायनिक" "बनावटी" या "अकार्बनिक" खाद के नाम से भी पुकारा जाता है।

(3) **सघन जैविक खादें** : खल, हड्डियाँ, मूत्र और खून जैसी कुछ जैविक सघन खाद होती हैं जिनमें भूमि के पोषक तत्व सघन रूप में मौजूद रहते हैं।

(4) **ह्यूमस जैसी जैविक खादें** : इन खादों के गुण-धर्मों और तथा दूसरे कार्बनिक पदार्थों का स्थान आदि का वर्णन मिट्टियों के अध्याय में खुलासा रूप से किया गया है और सारिणी 12 में जैविक खादों में उपस्थित पोषक तत्वों की औसत मात्रा के आंकड़े दिए गए हैं।

(5) **गोबर की खाद** : मिट्टी को दिए जाने वाले जैविक खादों में सम्भवतया गोबर की खाद सबसे अधिक मूल्यवान होती है। भारत में यह खाद सबसे अधिक इस्तेमाल की जाती है। यह गोबर, घास, भूसा, कृषि छीजन, पौधों के डंठल और पशुओं के मूत्र आदि को मिलाकर तैयार की जाती है। यद्यपि खाद के रूप में

गोबर का महत्त्व भारतीय किसान जानते हैं फिर भी आज हमारे देश में गोबर के कुल वार्षिक उत्पादन का 50 प्रतिशत के लगभग ईंधन के रूप में जला दिया जाता है। यही नहीं, घूरे की खाद को बनाने और संग्रहित करने के प्रचलित तरीके बड़े दोषपूर्ण हैं। गोबर, पशुशाला की मिट्टी और घर के कूड़े-कचरे को मिलाकर घर के पिछवाड़े जमा करते रहते हैं। वह धूप में पड़ा-पड़ा सूखता रहता है, इस बिखरे ढेर के कच्चे कार्बनिक पदार्थ सूर्य की गर्मी से जल्दी सूख जाते हैं। इससे ढेर ठीक प्रकार से सड़ नहीं पाता। फिर इसे गाड़ी की मदद से गाँव के बाहर आम स्थान पर खुले गड्ढे में जमा कर दिया जाता है। इस ढेर का कुछ भाग हवा द्वारा उड़ जाता है और कुछ वर्षा के पानी द्वारा बह जाता है। पशु-मूत्र को खाद की तरह इस्तेमाल नहीं किया जाता और यदि कहीं किया भी जाता है तो गलत तरीके से। बाखड़ी गायों के गोबर और मूत्र में उपस्थित पोषक तत्वों के बारे में कुछ अध्ययन किये गये हैं। इनसे पता चलता है कि गाय के मूत्र में पोटाश, नाइट्रोजन और गंधक की मात्रा क्रमश : 95, 63, 50 होती है। पशु-मूत्र और गोबर से नाइट्रोजन अमोनिया के रूप में उड़ जाती है और गोबर की खाद में से घुलनशील खनिज तत्व वर्षा के पानी में घुलकर बह जाते हैं। इसके कारण मूत्र और गोबर का खाद मान बहुत कम रह जाता है।

भारतीय और योरोपीय परिस्थितियों के अन्तर्गत गोबर की खाद में पाये जाने वाले पोषक तत्वों का विवरण इस प्रकार है।

	नाइट्रोजन%	**फास्फोरस%**	**पोटाश%**
भारत	0·3	0·15	0·3
यूरोपीय देश	1·0	0·30	1·0

इसमें से नाइट्रोजन का लगभग आधा भाग, फास्फोरस का छठा भाग और पोटाश की आधी से अधिक मात्रा घुलनशील हो जाती है जो पानी में घुलकर बह जाती है। पशुओं के नीचे मिट्टी और कृषि छीजन बिछाकर, गोबर को पत्थर या पक्की ईंटों के बने गड्ढों में इकट्ठा करके, गोबर के साथ भूसा और अन्य कृषि छीजन बिछाकर घूरे को सघन तथा नम रखकर उनके पोषक तत्त्वों को सुरक्षित रखा जा सकता है। इस प्रकार से मूत्र उचित ढंग से संरक्षित होता है, घुलनशील तत्वों की कम से कम हानि होती है, अणु जीवों द्वारा सड़ने की गति बढ़ जाती है, पौधों के पोषक तत्व घुलनशील हो जाते हैं और नाइट्रोजन की हानि कम-से-कम होती है। पशु बिछाली के रूप में जो कृषि छीजन इस्तेमाल की जाती है उसकी आपेक्षिक क्षमता के आंकड़े नीचे दिये जा रहे हैं—

कृषि छीजन द्वारा अवशोषित जल की मात्रा

सामग्री	**२४ घण्टे अवशोषण के बाद 100 पौंड कृषि छीजन द्वारा सोखे गए पानी की मात्रा पौंडों में)**
गेहूँ का भूसा	220
मटर का भूसा	280
सूखी पत्तियाँ	200
पीट (Peat)	600
बुरादा	435
मिट्टी	50
रेत	25

यदि बिछाली के इस्तेमाल से मूत्र को संरक्षित नहीं किया जाए तो इसको ढके हुए पक्के हौज में जमा करके खाद के गड्ढे में गोबर के साथ मिला देना चाहिए। मूत्र में नाइट्रोजन मुख्य रूप से यूरिया के रूप में मौजूद रहती है जो कि जीवाणुओं की क्रिया द्वारा शीघ्र उड़ने वाले अमोनियम कार्बोनेट में बदल जाती है और इसके तुरन्त बाद ही कार्बोनेट में उपस्थित अमोनिया गैस तेजी से उड़ जाती है। यदि गोबर और मूत्र वाली बिछाली को खाद के गड्ढे में ठीक तरह से रखा जाए तो इस हानि को काफी हद तक कम किया जा सकता है। यह गड्ढा फार्म के पशुओं की संख्या के अनुसार तीन फुट गहरा, चार से पाँच फुट तक चौड़ा और पन्द्रह से बीस फुट लम्बा बनाया जा सकता है। गड्ढे को तीन या चार फुट लम्बे खंडों में बाँट लेते हैं और इन खंडों को गोबर और कूड़े-कचरे की खाद द्वारा धरातल से डेढ़ फुट की ऊँचाई तक भरते हैं और फिर इस पर गोबर और मिट्टी के बराबर मिश्रण की एक इंच मोटी तह से लीप देते हैं। लीपने से पहले खंड में चार या पाँच बाल्टी पानी डाल देना चाहिए। इन खंडों को लीपने से इनमें नमी और नाइट्रोजन सुरक्षित रहती है और गोबर के खुले न होने से मक्खियों का खतरा भी मिट जाता है। ऐसा करने से चार से पाँच माह में खाद तैयार हो जाती है। प्राय: देखा गया है कि वयस्क काम करने वाले पशुओं (बैल, भैंसा आदि) को खाने में जितनी नाइट्रोजन तथा अन्य खनिज पदार्थ दिये जाते हैं उनका लगभग 80 प्रतिशत भाग उनके मलमूत्र अथवा अन्य पशु उपजात पदार्थों द्वारा फिर से प्राप्त किया जा सकता है। भूसा तथा सूखी घास खाने वाले पशुओं की अपेक्षा फलीदार, घास, अनाज और दाना खाने वाले पशुओं के गोबर का खाद-मान अधिक होता है। इस तरह पशुओं को सकेंद्रिय चारा देने

से उनमें प्राप्त गोबर के खाद के गुणों में सुधार किया जा सकता है। बिनौला, बिनौले की खली, अलसी की खली, गेहूँ का चोकर, अन्नों की भूसी, मूंगफली की खली, चना, मूंग इत्यादि नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटेशियम, मैगनेशियम और गंधक से भरपूर पदार्थों को चारे दाने के रूप में देने से गोबर का खाद्यान्न बढ़ जाता है।

विदेशों में, खाद के परिरक्षण पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। अमोनिया गैस को उड़ने से रोकने के लिए कैल्शियम सल्फेट या जिप्सम और सुपरफास्फेट बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं। जिप्सम अमोनिया अवशोषक सहायक पदार्थ के रूप में विशेष रूप से प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। सुपरफास्फेट अमोनिया का अवशोषण करने के अलावा फास्फोरस भी देता है और इस प्रकार खाद की फसल की उत्पादन-क्षमता को भी बढ़ाता है।

आंशिक रूप से सड़ी हुई घूरे की खाद, फसल की बुवाई करने से तीन-चार सप्ताह पूर्व खेतों में डाल देनी चाहिए। यदि मिट्टी में काफी नमी मोजूद होती है तो खाद को सड़ने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। बुवाई के बहुत पहले खेत में खाद डाल देने से यदि ठीक समय पर वर्षा न हो तो खाद सूख जाती है और जल्दी वर्षा होने पर वह तेजी से सड़ जाती है। इन दोनों दिशाओं में अमोनिया और नाइट्रोजन की भारी क्षति होती है। यदि खाद भली-भाँति सड़ी हुई हो तो उसे बुवाई से कुछ ही पहले डालना चाहिए। यह हल्की मिट्टियों के लिए विशेष रूप से अनिवार्य है। प्रत्येक दशा में खाद को खेत में डाल देने के बाद सारे खेत में समान रूप में फैला देना चाहिए और फिर उसको मिट्टी के साथ मिला देना चाहिए ताकि नाइट्रोजन की हानि कम से कम हो। खेतों में खाद को बिखेरने
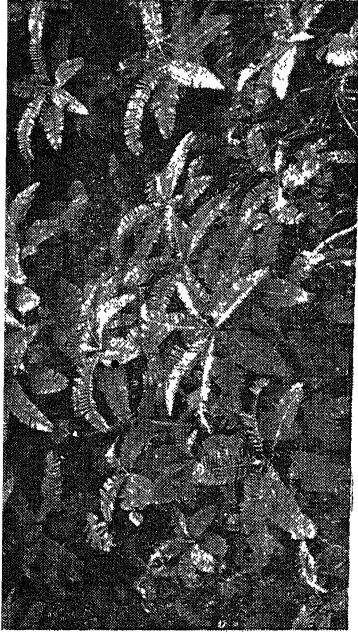
भूमि की उर्वरता बढ़ाने के लिए हरी खाद बहुत अच्छी पायी गयी है

उसे खेत में पलटकर मिट्टी में अच्छी तरह मिला दीजिए
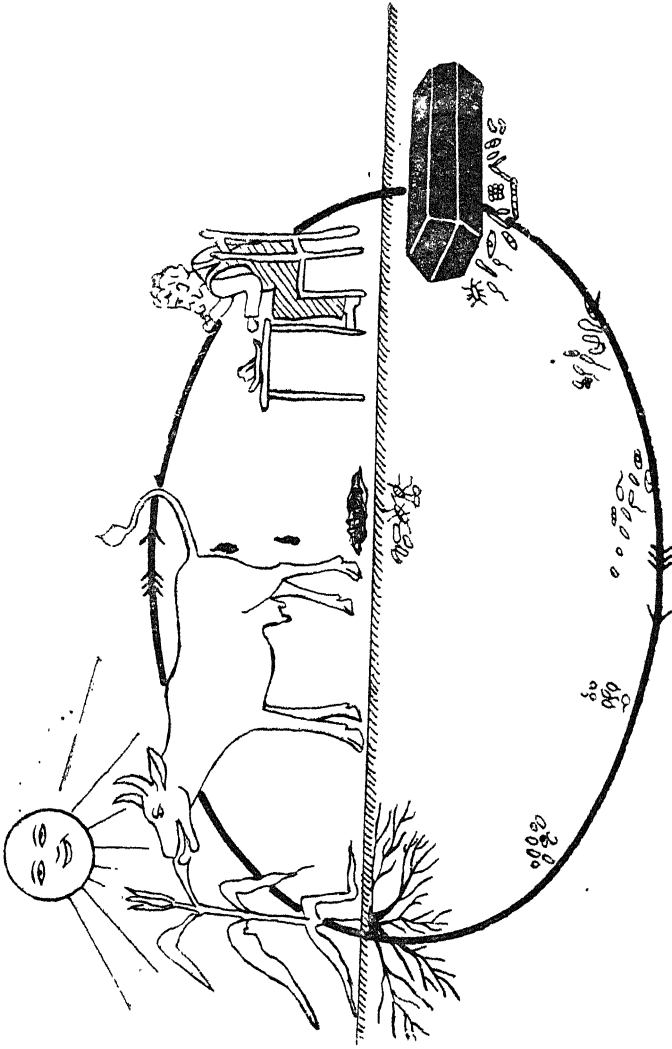
नाइट्रोजन चक्र

और मिट्टी में मिलाने से पहले कई दिन छोटे-छोटे ढेरों में रखने की जो परम्परा प्रचलित है, उससे खाद के मूल्यवान् अंशों को, विशेष रूप से जब तेज हवा चलती हो, भारी हानि होती है। सब्जी तथा फलों की खेती में अच्छी प्रकार सड़ी हुई खाद को उर्वरकों के साथ मिलाकर छोटी आयु के पौधों में अलग-अलग देने से बड़े लाभप्रद नतीजे प्राप्त हुए हैं। मिस्र में मेंड़ों पर बोई गई कपास की फसल में भी इसी प्रकार से खाद दी जाती है, वहाँ सिंचाई तथा गुड़ाई से पूर्व प्रत्येक पौधे की जड़ में मुट्ठी भर सड़ी हुई खाद डाली जाती है और उसे हाथ से चलने वाले गुड़ाई यंत्र द्वारा आसपास की मिट्टी में मिला दिया जाता है।

देश के कुछ भागों में गर्मी के मौसम में पशु, भेड़ और बकरियों को खेत में बिठाने की आम प्रथा है। कहा जाता है कि 1,000 भेड़ों को खेत में बिठाने पर एक रात में गोबर की खाद के तुल्यांक लगभग 400 मन खाद प्राप्त होती है। खेतों में पड़ी हुई यह खाद जल्दी ही सूख जाती है, जिससे इसमें उपस्थित नाइट्रोजन अमोनिया, गैस बनकर उड़ नहीं पाती। वर्षा की पहली बौछार के साथ ही इस खाद को मिट्टी में मिला दिया जाता है। इस प्रकार इसके उर्वरक तत्वों को अधिक क्षति नहीं हो पाती। पशुओं को खेत में बिठाने से मिट्टी की भौतिक रचना में सुधार होता तो है, लेकिन भेड़ों को खेत में बिठाने से खरपतवार अधिक पैदा होते हैं। कपास की छीजन तथा अन्य बेकार पदार्थों को खाद बना कर उनका उपयोग करने से भी मिट्टी उतनी ही उपजाऊ हो जाती है जितनी कि गोबर की खाद से होती है।

कार्बनिक पदार्थों को भली-भांति सड़ाने के लिए भूमि में पर्याप्त नमी होना जरूरी है। अतः घूरे की खाद सिंचाई वाले क्षेत्रों

में और वर्षा के मौसम में उगायी जाने वाली सभी फसलों में दी जा सकती है । जिन क्षेत्रों में 30 इंच से कम वर्षा होती है उन इलाकों के खेतों में प्रति एकड़ तीन से पांच गाड़ी खाद डालने की सिफारिश की गयी है । परन्तु इससे अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में 8 से 10 गाड़ी खाद डाली जानी चाहिए । यदि घूरे की खाद पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हो तो प्रति वर्ष खेत के तिहाई या चौथाई भाग में क्रमानुसार खाद डालनी चाहिए । इस तरह तीन या चार वर्ष में खेत के प्रत्येक भाग को खाद उपलब्ध हो जाती है । सिंचित क्षेत्रों में फसल के अनुसार प्रति एकड़ 10 से 20 गाड़ी खाद डाली जानी चाहिए । गन्ना, मक्का, आलू, हल्दी, अदरक, सब्जियों तथा फलों आदि बागवानी की फसलों को अधिक मात्रा में खाद देनी चाहिए जो 40 से 50 गाड़ी प्रति एकड़ तक हो सकती है । एक गाड़ी में 30 घनफुट खाद आती है जिस का वजन लगभग एक टन होता है ।

यहां यह बता देना जरूरी है कि भूमि को सुधारने में घूरे की खाद का महत्व उसमें उपस्थित पोषक तत्वों की मात्रा के कारण उतना नहीं होता जितना भूमि की जुताई और हवा के आवागमन को सुधारने, भूमि की जल धारण करने की क्षमता को बढ़ाने और पौधों के तत्वों को सुगमता से फसलों को उपलब्ध कराने के लिए अणुजीवों की प्रक्रियाओं को उत्तेजित करने में होता है । घूरे की खाद का सबसे बड़ा गुण है मिट्टी को जैविक पदार्थ प्रदान करना, जो बाद में गलित जीवांश (ह्यूमस) में बदल जाता है ।

एक अनुमान के अनुसार गाय के एक टन गोबर में पौधों के पोषक तत्वों की मात्रा इतनी होती है कि जिसको देने से खेत को साढ़े छः पौंड नाइट्रोजन, साढ़े तीन पौंड फास्फोरस और साढ़े छः पौंड पोटाश मिल सकता है ।

फास्फोरस अपेक्षाकृत कम होने के कारण गोबर पोषक तत्वों की दृष्टि से असंतुलित खाद है। फलतः इसकी खाद देते समय भूमि में खाद के पोषक तत्वों की इस ढंग से पूर्ति करनी चाहिए जिससे पौधों को आवश्यक सम्पूर्ण पोषक तत्व शीघ्र और घुलनशील अवस्था में प्राप्त हो सकें। इसके लिए यह जरूरी है कि सभी जैविक खादों को सुपरफास्फेट और अन्य ऐसे कृत्रिम उर्वरकों के साथ मिला कर देना चाहिए जिनकी भूमि में कमी हो अथवा जिनकी उगायी जाने वाली फसल के लिए विशेष रूप से आवश्यकता हो। सुपरफास्फेट देने से मिट्टी की भौतिक रचना में सुधार होता है। इस तरह अन्य उर्वरकों से पौधों को वांछित मात्रा में आवश्यक तत्व मिल जाते हैं जिससे अधिक उपज हो सकती है।

कम्पोस्ट : जैविक खाद बनाने का एक अधिक अच्छा तरीका कम्पोस्ट बनाना है जिसमें कृषि और पशुशाला की छीजन आदि को मिलाकर खाद बनायी जाती है। पिछले 25 वर्षों में इस प्रकार की खाद बनाने का काफी प्रचार हुआ है और इस विधि को काफी लोगों ने अपनाया है। कम्पोस्ट बनाने की विधि द्वारा देहात और नगरों के वनस्पति पदार्थों को गला सड़ाकर शीघ्र उपयोग करने योग्य बनाया जा सकता है और कम्पोस्ट खाद देकर धरती की उर्वरा शक्ति को कायम रखा और बढ़ाया जा सकता है। भारत तथा विदेशों में खोजबीन से पता चला है कि अन्न का भूसा, ठूंठ, कपास के डंठल, मूँगफली का भूसा, खेतों की घासपात, पत्तियाँ, पत्तियों के डंठल, घर का कूड़ा, बुरादा, पशु-बिछाली, लकड़ी की राख, खरपतवार, पशुशालाओं का मूत्रावशेष, मिट्टी और दूसरे इसी प्रकार के अन्य पदार्थों से भी गोबर की खाद जैसी ही कीमती खाद प्राप्त की जा

सकती है। इन वनस्पति पदार्थों में सैल्यूलोज और शीघ्र ही विघटित होने वाले कार्बोहाइड्रेट जैसे पदार्थों की काफी मात्रा होती है। इनमें कार्बन और नाइट्रोजन का अनुपात 40 : 9 होता है। उपरोक्त वनस्पति पदार्थों का कम्पोस्ट बनाने के तुरन्त बाद ही खाद की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। मिट्टी में खनिज पोषक तत्वों, विशेप रूप से अमोनिया और नाइट्रेट के यौगिकों की कमी हो जाती है। इस कमी का कारण यह है कि मिट्टी में इन पदार्थों की मदद से अणु-जीवों की संख्या में वृद्धि होती है और ये अणु-जीव पौधों से नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश तथा इसी प्रकार के अन्य पोषक तत्वों को लेने का प्रयत्न करते हैं। अतः इस प्रकार की खादों को प्रयोग करने से पूर्व पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से गलाना आवश्यक है। ऐसा करने से वनस्पति पदार्थों में कार्बन की मात्रा घट जाती है और कार्बन नाइट्रोजन का अनुपात 10 या 12 से 1 रह जाता है।

सामान्यतया बेकार जैविक पदार्थों से कम्पोस्ट बनाने के लिए दो तरीकों की सिफारिश की जाती है। कम्पोस्ट बनाने की एक विधि में बेकार पदार्थों का विघटन औक्सीजन की उपस्थिति में होता है। दूसरे तरीके में कम्पोस्ट वायु रहित वातावरण में तैयार किया जाता है। दोनों विधियों में ही बेकार पदार्थ पशुओं के नीचे बिछाली के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं ताकि वे पशु मूत्र के काफी भाग को सोख सकें। औक्सीजन की उपस्थिति में कम्पोस्ट बनाने की क्रिया में गोशालाओं में पशुओं के नीचे बिछाया गया कूड़ा-करकट एकत्रित कर लिया जाता है। कूड़ा-करकट और अस्तबलों की मूत्र से भीगी हुई मिट्टी, कुछ गोबर और दो तीन मुट्ठी राख मिला दी जाती है, फिर इसे कुछ ऊँचे सूखे स्थान पर 12-18 फुट ऊँचे, 16 फुट चौड़े तथा सुविधानसार लम्बाई के ढेर में

जमा किया जाता है। यह ढेर वर्षा ऋतु आरम्भ होने से पूर्व ही बना लिया जाता है। पहली बौछार के बाद इस गीले ढेर को अगल-बगल से चलाते हुए ऊपर ढेर की चोटी पर इस तरह से डालते हैं जिससे उसकी ऊँचाई डेढ़ फुट से चार फुट रह जाती है। ऐसा करने से नमी तेजी से नष्ट नहीं हो पाती और सड़न जल्दी ही शुरू हो जाती है। तीन—चार हफ्ते बाद जब यह ढेर कुछ छोटा हो जाता है तो इसको उलट-पुलट कर नया ढेर बना देते हैं। ऐसा करने से बाहर की तरफ की सामग्री बीच में और बीच की सामग्री बाहर की ओर आ जाती है। वर्षा के अनुसार एक या डेढ़ महीने बाद वर्षा वाले दिन इस ढेर की आखिरी बार अदल-बदल करके पहिले स्थान पर ही जमा कर देते हैं। इस प्रकार से कम्पोस्ट लगभग चार महीने में इस्तेमाल करने योग्य बन जाती है। यह प्रणाली वर्षा ऋतु में कम्पोस्ट बनाने के लिए उपयोगी है। कम्पोस्ट बनाने के लिये कृषि-सामग्री का निम्न अनुपात उपयुक्त पाया गया है :

सामग्री	अनुपात (वजन में)
कृषि और पशुशाला की मिली जुली छीजन	400 भाग
मूत्र मिश्रित मिट्टी	56 ,,
पशुओं का ताजा गोबर	60 ,,
राख	6 ,,

मद्रास में कम्पोस्ट बनाने के लिए आगे लिखे पदार्थों की सिफारिश की जाती है : 200 पौंड फफदे हुए गोबर का गाढ़ा घोल, 50 पौंड हड्डी का चूरा और एक टन सूखे पदार्थ।

यदि मूत्र-मिश्रित मिट्टी और गोबर उपलब्ध न हो तो केवल वनस्पति पदार्थों से भी कम्पोस्ट बनाया जा सकता है। परन्तु शर्त यही है कि इन बेकार पदार्थों जैसे सूखी या सड़ी पत्तियां, रसोई का कूड़ा-कचरा, घास का चूरा, हरी खरपतवार, पौधों की कतरन और बिना बालों के गेहूँ की लांक, जौ और अन्य अन्नों का भूसा इत्यादि। इन में से एक तिहाई सामग्री कोमल और महीन होनी चाहिए। इसके लिए साधारण मिट्टी, राख और चूने का उपयोग करना अति आवश्यक है।

कम्पोस्ट बनाने की निर्वात प्रणाली में वायु की अनुपस्थिति में कृषि छीजन को सुविधानुसार 15 फुट लम्बे, 5 फुट चौड़े और 3 फुट गहरे गड्ढे में इकट्ठा कर लेते हैं। प्रत्येक दिन जितनी कृषि छीजन इकट्ठी होती है उसको एक पतली तह में लगाकर गड्ढे में बिछा देते हैं। फिर इस परत पर गोबर (10 पौंड), राख (पाँच से छ: औंस) और पानी (चार से पाँच गैलन) को एक साथ मिलाकर ऊपर से छिड़क देते हैं और मिश्रित करके ठोस बना देते हैं। गड्ढे को तब तक भरते रहते हैं जब तक भरे जाने वाले पदार्थ इसके किनारों से बाहर 15-18 इंच तक ऊँचे नहीं हो जाते। अब गोबर में मिली मिट्टी की एक इंच मोटी परत इसके ऊपर चढ़ा कर गड्ढे को बन्द कर दिया जाता है। ऐसा करने से गड्ढे के अन्दर वायु रहित विघटन होता है और तापक्रम भी अधिक नहीं बढ़ता। अघुलनशील नाइट्रोजन यौगिक धीरे-धीरे घुलनशील हो जाते हैं और कार्बनिक पदार्थ कार्बन-डाइ-आक्साइड और पानी में परिवर्तित हो जाते हैं। कार्बन-डाइ-आक्साइड की अधिक मात्रा में अमोनियम कार्बोनेट स्थिर रहता है। अतः अमोनिया की हानि होती है। गड्ढों को लीप कर

ढक देने से मक्खियाँ भी नहीं भिनभिनातीं। सघन नम पदार्थों का स्वयं ही चार-पाँच महीने में अच्छी तरह विघटन हो जाता है। अच्छी तरह तैयार किये गये कम्पोस्ट में 0·8-1·0 प्रतिशत तक नाइट्रोजन होती है और वह अन्य गुण-धर्मों में भी घूरे की खाद के समान होती है। कम्पोस्ट बनाने की यह विधि शहर तथा कस्बों के नजदीक बागवानों के लिए विशेष रूप से लाभदायक हो सकती है।

मल कम्पोस्ट : हाल के कुछ वर्षों में बड़े तथा छोटे नगरों की नगरपालिकाओं द्वारा बस्ती से दूर ठीक प्रकार खोदी गई खाइयों में नगर के कूड़ा-करकट तथा मल-मूत्र को एकत्रित करके बड़े पैमाने पर कम्पोस्ट बनाने का काम किया जाने लगा है। तीन से चार फुट चौड़ी, दो फुट गहरी और सुविधानुसार लम्बी खाइयाँ खोद कर मल-मूत्र, नगर का कूड़ा-करकट और मिट्टी भर दी जाती है। इस विधि से कम्पोस्ट लगभग 3 महीने में तैयार हो जाता है। नीचे की सारणी में आयतन से भार परिवर्तन के आँकड़े दिये जा रहे हैं। ये कम्पोस्ट बनाने वालों के लिये लाभदायक सिद्ध हो सकते हैं।

आयतन	**भार (पौंडों में)**
एक घनफुट कूड़ा-कचरा	20
एक गैलन मल	10
एक घनफुट कम्पोस्ट	40
एक गाड़ी कूड़ा-करकट (30 घनफुट)	600

अब तक किसान मल-कम्पोस्ट को इस्तेमाल करना बुरा कार्य समझते थे किन्तु अब धीरे-धीरे उनके विचारों में परिवर्तन हो रहा

है। सारे देश में अब मल-कम्पोस्ट खाद तैयार की जाने लगी है। खाई और पाखानों का इस्तेमाल करके मल-कम्पोस्ट गांवों में भी बनाया जा सकता है। इस बारे में अधिक जानकारी अपने क्षेत्र के राष्ट्रीय प्रसार सेवा अधिकारी से प्राप्त की जा सकती है।

मल-तरल और स्लज : जिन नगरों में फ्लश के पाखाने इस्तेमाल किये जाते हैं वहाँ फ्लश पाखाने का मल पानी के साथ मिलकर तरल बन जाता है और उसको भूगत नालियों में बहा कर हौजों में इकट्ठा कर लिया जाता है। इस मल-तरल में अधिक मात्रा में पोषक-तत्त्व उपस्थित होते हैं। अतः इन शहरों के पास जिन फार्मों में गन्ने, तरकारियों और चारे की खेती की जाती है वहाँ पर मल-तरल का प्रयोग किया जाता है। कुछ स्थानों में बिना पानी मिलाया हुआ मल-तरल स्वस्थ पौधों के विकास के लिए अत्यधिक तीव्र पाया गया है और यदि इसमें तुरन्त ऑक्सीकृत होने वाला जैविक पदार्थ होता है तो भूमि में उपस्थित नाइट्रेट की मात्रा कम हो जाती है। यदि मल-तरल का प्रयोग उसे प्रारंभिक रूप से उपचारित करने से पूर्व ही कर लिया जाता है तो इससे लाभ के बजाय हानि होती है। इस प्रकार के मल-तरल को इस्तेमाल करने से मिट्टी जल्दी ही मल-तरल रोग से पीड़ित हो जाती है। यह रोग मल-तरल में उपस्थित कण-धारी पदार्थों के आपस में चिकट जाने और वायु रहित अणु-जीवों के विकसित होने के कारण पैदा होता है। यह भूमि में उपलब्ध नाइट्रेट्स को ही कम नहीं करता वरन् मिट्टी को क्षारीय भी बना देता है। साग-सब्जी के जिन खेतों में अनुपचारित मल-तरल डाला जाता है उनमें उगी हुई सब्जियों को मल-तरल द्वारा विकसित जीवाणु विषैला बना देते हैं और वे खाने योग्य नहीं रहतीं। इन कारणों से

मल-तरल को इकट्ठा करने के लिए सैपेटिक टंकियाँ बनाई जाती हैं जिनमें मल के भारी कण नीचे बैठ जाते हैं। इन टंकियों में से निकले तरल में भी कई प्रकार के हानिकारक पदार्थ चले जाते हैं। टंकी में जो तलछट रह जाती है उसकी खाद के रूप में कोई उपयोगिता नहीं होती। यदि टंकी में वायु के आने-जाने का प्रबन्ध कर दिया जाय तो तलछट का यह दोष दूर हो जाता है। इस प्रक्रिया के बाद जो गाद नीचे रह जाती है उसको सक्रिय स्लज कहते हैं। इसकी खास विशेषता यह है कि यह ताजे मल से कार्बनिक पदार्थों का शीघ्र औक्सीकरण करने में सहायता देती है। यह हानिकारक नहीं है और जब भूमि को खाद के रूप में दी जाती है तो इसमें सूखे भार पर 3 से 6 प्रतिशत नाइट्रोजन, लगभग 2 प्रतिशत फास्फोरस (P_2O_5) और एक प्रतिशत पोटाश (K_2O) तुरन्त उपलब्ध होने वाले रूप में मौजूद रहते हैं। इसी प्रकार टंकियों से निकला तरल-मल रंगहीन और साफ होता है, इसमें नाइट्रेट घुले होते हैं और रोग पैदा करने वाले जीवाणु बिलग जाते हैं। इस तरह उपचारित तरल-मल और तलछट बिना किसी आशंका के फसलों को खाद देने तथा सींचने के काम में लायी जा सकती है। *फिर भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी दशा में ऐसे फार्म पर उगाई गई कोई भी चीज बिना उबाले न खाई जाये।*

मल का सूखा खाद : भारत में बहुत ही कम ऐसे शहर हैं, जिनमें भूमिगत मल-नलों की व्यवस्थ। है। इस व्यवस्था के अभाव में गन्दी वायु और भिनभिनाती मक्खियाँ सभी नगरों में आमतौर पर पाई जाती हैं। देश भर के स्वास्थ्य के लिए यह भयंकर समस्या है। मल की खाद भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अतः कई शहरों में इसको इकट्ठा करने और खाद में बदलने का काम सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग करते हैं जिससे यह आसानी से खाद के रूप में प्रयोग में लाया जा सके। मल का निर्जलीकरण करके अथवा मिट्टी, लकड़ी के कोयले और बुरादे इत्यादि के साथ मिलाने से उसका सूखा खाद (पुडरेट) बनाया जाता है जिसे खाद के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। मल में बराबर मात्रा में राख और दस प्रतिशत लकड़ी के कोयले का चूरा मिला देने से एक गन्धहीन पदार्थ बन जाता है जिसमें 1·32 प्रतिशत नाइट्रोजन, 2·8 प्रतिशत फास्फोरस (P_2O_5), 4·1 प्रतिशत पोटाश और 24·2 प्रतिशत चूना होता है। मल में 40 से 50 प्रतिशत बुरादा मिला देने से बिना किसी दूसरे उपचार के सीधे ही एक अम्लीय शुष्क चूर्ण प्राप्त होता है जिसमें 2 से 3 प्रतिशत तक नाइट्रोजन होती है। आजकल भारत की आबादी 43 करोड़ के लगभग है। एक अनुमान के अनुसार इतने मनुष्यों के मल से प्रति वर्ष लगभग 49 लाख टन सूखा खाद प्राप्त किया जा सकता है जिसमें 2·34 लाख टन नाइट्रोजन, 1·47 लाख टन फास्फोरस (P_2O_5) और 98 हजार टन पोटाश (K_2O) मिल सकता है।

हरी खाद : घूरे की खाद और कम्पोस्ट की खाद को अधिक मात्रा में बढ़ाने के लिए जो विशेष कदम उठाए जा रहे हैं उनके बावजूद इस प्रकार की जैविक खादों की कमी दिन •प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और वे अधिक महंगी होती जा रही हैं। इस कमी को पूरा करने के लिए जहाँ कहीं सम्भव होता है हरी खाद दी जाती है और मिट्टी में जैविक पदार्थों की पूर्ति की जाती है। हरी खाद के लिए जल्दी से बढ़ने वाली फसल को बोकर उसे खेती

में खड़ी ही जोत देते हैं। हरी खाद से विशेषकर फलीदार फसल से कार्बनिक पदार्थ के अतिरिक्त नाइट्रोजन भी प्राप्त होती है, क्योंकि फलीदार पौधों में अपनी गांठदार जड़ों में उपस्थित जीवाणुओं द्वारा वायु से नाइट्रोजन लेने की क्षमता भी होती है। एक फलीदार फसल से प्रति एकड़ तीन से दस टन तक हरा पदार्थ प्राप्त होता है और इसे खेत में जोतने पर भूमि को 50 से 80 पौंड नाइट्रोजन मिलती है। जैविक पदार्थों के आधार पर हरी खाद की यह मात्रा घूरे की खाद के तुल्यांकों में तीन से पाँच टन और नाइट्रोजन तत्त्व देने की दृष्टि से यह घूरे की खाद के पाँच से आठ टन के बराबर होती है। हरी खाद की फसल कटाव और बहाव द्वारा होने वाली हानि से भी भूमि की रक्षा करती है।

आमतौर से सन (क्रोटोलेरिया जुनसिया), ढैंचा (सेसीबेनिया ऐकुलिटा), ग्वार (साएमोप्सिस टेटरागोनोलोबा), सैंजी (मैलीलोटस पर्वीफ्लोरा) लोबिया (विगना कैटजंग) हौर्सग्राम या कुल्थी (डोलीकोस बाईफ्लोरस), पिलीपैसरा (फेज्योलस ट्राई लोबस), बरसीम (इजिपशियन क्लोवर) की और कश्मीर में धान के लिए मसूर की हरी खाद देने की सिफारिश की गई है।

हरी खाद के लिए सनई की फसल सबसे अच्छी रहती है। यह देश के सभी भागों के लिए बहुत उपयुक्त पाई गई है। यह गन्ना, आलू, बागवानी की फसलों, दक्षिणी भारत में धान की फसल तथा उत्तर में गेहूँ की सिंचित फसल के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है।

कहा जाता है कि इसे यदि शरद काल में पछेती फसल के रूप में बोया जाय तो शीतकाल में भूमि के लिए आवरण का काम करती है और वसन्त के शुरू में ही तेजी से उगती हुई बढ़ जाती है।

यह खड़ी फसल धान बोने के पूर्व यदि खेत में जोत दी जाय तो धान की फसल को बड़ा लाभ होता है। असम, बंगाल, बिहार और मद्रास में अक्तूबर— नवम्बर के महीनों में बोई जाने वाली गन्ना और आलू की फसलों में अधिकतर ढेंचा की हरी खाद का प्रयोग किया जाता है। क्षारीय तथा जललग्न भूमियों में भी इसकी अच्छी फसल होती है। ग्वार, बरसीम और सेंजी की हरी खाद पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली और मध्य प्रदेश के कुछ भागों के लिए अधिक उपयुक्त है। बरसीम की हरी खाद फल-वाटिका तथा पंजाब और उत्तर प्रदेश में वसंत या ग्रीष्म ऋतु के शुरू में बोई जाने वाली कपास तथा गन्ने की सिंचित फसलों के लिए बहुत ही लाभ-दायक है। मैसूर में सिंचित भूमि पर उगायी जाने वाली अमेरिकन कपास की फसल के लिए लोबिया तथा कुल्थी की हरी खाद दी जाती है। किसी भी क्षेत्र विशेष में हरी खाद के लिए उसी दलहनी फसल का उपयोग किया जाना चाहिए जो वहां की मिट्टी और जलवायु के अनुकूल हो।

अक्सर बरसीम, सेंजी, रिजका और कभी-कभी सनई की फसलें हरी खाद और चारा दोनों ही प्राप्त करने के लिए उगायी जाती हैं। सेंजी और बरसीम जैसी वार्षिक फसलों की पहली और दूसरी कटाई चारे के लिए प्रयोग की जाती है। रिजके की हरे चारे के लिये सात या आठ कटाई की जाती हैं। सनई के पौधे के ऊपरी भाग को पशुओं को खिलाया जाता है। इन सभी फसलों के तने, जड़ें, और ठूंठ मिट्टी में दबा दिये जाते हैं। पौधों के दबाये गये इन सभी अंगों में कार्ब-निक पदार्थों के अलावा नाइट्रोजन और फास्फोरस होते हैं और पोटे-शियम और अन्य खनिज पोषक तत्वों की भी काफी मात्रा होती है।

फलोद्यान में हरी खाद एवं चारे की फसलें एक ही समय में उगायी जानी चाहिएं जिससे पेड़ों तथा फलों के विकास में कोई बाधा न पड़े।

आमतौर से वर्षा पर आधारित रबी की फसलों में हरी खाद नहीं दी जाती। क्योंकि हरी खाद बोने से न केवल खरीफ में बोई जाने वाली नकदी फसल की ही हानि होती है परन्तु साथ ही साथ रबी के मौसम में इसकी खाद देने योग्य आवश्यक नमी भी भूमि में नहीं होती। इसके कारण यह अच्छी तरह से सड़ भी नहीं पाती। ऐसी अवस्था में भूमि-उर्वरता तथा फसल उत्पादन बढ़ाने के लिए हरी खाद की अपेक्षा फसल-चक्र में फलीदार फसलें उगाना अच्छा रहता है। दालें भारतीय आहार का एक मुख्य अंश हैं और खाद्यान्न, तिलहन तथा रेशेदार फसलों के साथ मिला कर उगाई जाती हैं। दाल की इन फलीदार फसलों की जड़ों तथा अवशेष पदार्थों से भूमि को नाइट्रोजन अधिक और कार्बनिक पदार्थ कम मात्रा में प्राप्त होते हैं। मध्य, दक्षिणी और पश्चिमी भारत में कपास-ज्वार के फसल-चक्र में मूँगफली उगाना, उत्तर प्रदेश में गेहूं से पूर्व जल्दी पकने वाली मूँग की किस्मों की उगाना, महाराष्ट्र के मराठवाड़ा डिवीजन में गेहूं तथा ज्वार की फसल उगाना, उत्तर प्रदेश में सिंचित भूमि पर उगायी जाने वाली कपास की खड़ी फसल में मटर उगाना और आंध्र प्रदेश, मद्रास तथा मैसूर राज्य में धान की खड़ी फसल के मध्य में सनई की बुवाई करने या महाराष्ट्र के तटीय धान के क्षेत्रों में वल (डोलीकोस लबलब) उगाना, आदि भूमि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के कुछ महत्वपूर्ण तरीके हैं। ये सब फलीदार फसलें भूमि की भौतिक स्थिति में सुधार करने के अलावा मिट्टी को नाइट्रोजन तत्व भी काफी मात्रा में प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण भारत में दाल वाली फसलों को अन्न वाली फसलों के साथ मिलाकर उगाने की

प्रथा है। देश के केन्द्रीय और दक्षिणी भागों में कपास, मूँगफली या तूर (कजानस इंडिकस) के साथ बोई जाती है, पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में ग्वार के साथ उगाई जाती है और मध्य भारत में गेहूं, मटर तथा चने के साथ उगाई जाती है। मद्रास के कुछ भागों में चारे के लिए ज्वार को डोलिकोस लबलब के साथ बोने से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है।

मद्रास, मैसूर और आन्ध्र प्रदेश के वनों के समीपस्थ इलाकों में धान की फसल में खाद के रूप में जंगल की हरी पत्तियाँ दी जाती हैं। ये गीली जुताई के समय ही मिट्टी में दाब दी जाती हैं। हाल के कुछ वर्षों में इन राज्यों द्वारा ग्लीरिसिडिया मैक्यूलेटा और ससबेनिया स्पेसिओसा धान के खेतों के चारों तरफ और अन्य खाली स्थानों में उगाकर इस फसल को हरी खाद देने का प्रयत्न किया गया है। ग्लीरिसिडिया पौध लगाकर बोई जाती है या गांठों द्वारा उगायी जाती है। इसके पौधे 5 या 6 फुट के अन्तर पर लगाये जाते हैं। इसे साल में दो बार काटने से हर बार हरेक पौधे से लगभग 15 से 30 पौंड तक हरी पत्तियां उपलब्ध होती हैं। यह लाल तथा काली दोनों प्रकार की मिट्टियों के लिए उपयोगी है। इसी प्रकार से ससबेनिया स्पेसिओसा की पौध मेड़ों पर धान के पौधों से चार इंच की दूरी पर लगाने से 2,000 से 5,000 पौंड तक हरी पत्तियां पैदा की जा सकती हैं जो एक एकड़ धान की फसल के लिए पर्याप्त होती हैं। एक एकड़ धान के खेत की मेड़ों पर चारों तरफ इसकी पौध उगाने के लिए 4 औंस (आधा पाव) बीज की आवश्यकता होती है। मुख्य रूप से अन्य धान उगाने वाले क्षेत्रों में करंज (पोंगेमिया पिनाटा), टेफरोसिया, टरमिनालिया और

अन्य वृक्षों से हरी खाद के लिए काफी पत्तियां मिल जाती हैं। केरल के मालाबार जिले में, मद्रास राज्य के तंजौर और पुट्टकोटई जिलों में धान की खेती को पत्तियोंदार टहनियों की हरी खाद देने के लिए इंडिगोफेरा टेसमेनी को उगाया जाता है।

हरी खाद को ठीक प्रकार से सड़ाने के लिए यह आवश्यक है कि हरा पदार्थ रसदार हो और भूमि में काफी नमी हो। कभी-कभी फूल आने के समय अपरिपक्व पौधों में कार्बनिक पदार्थ रसेदार होता है परन्तु ऐसी स्थिति में कार्बन-नाइट्रोजन का अनुपात कम होता है। फूल आने के समय भूमि में हरी खाद देने से उसमें उपस्थित नाइट्रोजन जल्दी ही मुक्त होकर ऐसे रूप को प्राप्त कर लेता है, जिसे पौधे आसानी से पचा सकते हैं। जैसे-जैसे पौधों की आयु बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उनमें कार्बनयुक्त पदार्थ बढ़ते जाते हैं और नाइट्रोजन का ह्रास होता जाता है। यदि हरी खाद के रूप में दिए जाने वाले पदार्थों का कार्बन-नाइट्रोजन अनुपात अधिक है तो उसको भूमि में दबाने से अणु-जीव नाइट्रोजन तथा खनिज पोषक तत्वों को खा जाते हैं, जिसके कारण अस्थायी रूप से मिट्टी में पोषक तत्वों की कमी हो जाती है। जहां तक नमी का सम्बन्ध है, हरी खाद को ठीक प्रकार से सड़ाने के लिए भूमि की अनुकूलतम नमी क्षमता काफी समझी जाती है। मिट्टी में अधिक नमी होने पर वायु रहित विघटन शुरू हो जाता है, जिसके कारण नाइट्रोजन तथा अन्य खाद्य पदार्थों की आंशिक रूप से हानि होती है। आगामी फसल को उगाने से पूर्व हल से दाबे गये कार्बनिक पदार्थों को सड़ने के लिए पर्याप्त समय देना चाहिए।

कभी-कभी मेथी या ढेंचा गन्ने की नयी फसल (पेड़ी नहीं) में कतारों के बीच में बोया जाता है या सिंचित भूमि पर अमरीकन कपास के बीच में ग्वार की फसल उगाई जाती है। जब ये फलीदार पौधे पांच छः सप्ताह के हो जाते हैं तो इन्हें मिट्टी में दाब दिया जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन फसलों से गन्ना तथा कपास की फसल को लाभ होता है। इस प्रकार खाद देने से हरा पदार्थ उसी समय सड़ता है जबकि फसल को खाद की जरूरत पड़ती है।

सामान्यतया हरी खाद देने से 30 से 50 प्रतिशत तक उपज बढ़ती है, परन्तु यह कभी-कभी कम भी होती है। फलीदार फसलों को यदि सुपरफास्फेट के साथ मिला कर प्रयोग किया जाय तो उनका उर्वरक मान काफी बढ़ जाता है। इससे न केवल हरी खाद वाले पौधों में फास्फोरस अंश ही बढ़ता जाता है परन्तु पौधों के विकास में भी सहायता मिलती है। इस प्रकार फास्फेट जैसा उर्वरक जैविक खाद में बदल जाता है। बहुत सी हरी खाद वाली फलीदार फसलों का असर एक फसल के बाद भी मिट्टी में रहता है। इसका कारण शायद यह है कि भूमि की भौतिक दशा में अधिक सुधार हो जाता है।

उर्वरक : यद्यपि हाल के कुछ वर्षों में गोबर की खाद तथा अन्य इसी प्रकार की जैविक खाद अधिक मात्रा में उपलब्ध करने के लिए काफी प्रयत्न किये गये हैं। फिर भी देश में इनका वार्षिक उत्पादन इतना नहीं है कि इनसे देश की वर्तमान और भविष्य की खाद सम्बन्धी आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। यही कारण है कि मिट्टी का उपजाऊपन और फसलों की उपज बढ़ाने के लिए ऐसे रासायनिक पदार्थ काम में लाये जा रहे हैं जिनमें वनस्पतिधारी चीजें नहीं होतीं। इनको उर्वरक

कहते हैं और इनको बड़े पैमाने पर कारखानों में तैयार किया जा सकता है।

उर्वरकों की विशेषता : (1) ये कम जगह घेरते हैं, जिससे एक जगह से दूसरी जगह लाने व ले जाने में आसानी रहती है, (2) पौधों को पोषक-तत्व शीघ्र प्राप्त हो जाते हैं, और (3) विभिन्न फसलों तथा भूमि की आवश्यकता के अनुसार कम या अधिक मात्रा में इनका प्रयोग किया जा सकता है। आमतौर पर उर्वरकों का वर्गीकरण उनमें उपस्थित प्रमुख पोषक तत्वों के आधार पर किया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार **उर्वरकों** को नाइट्रोजन-धारी उर्वरक, फास्फोरसधारी उर्वरक, पोटाशधारी उर्वरक और इस प्रकार के अन्य वर्गों में बांटा जा सकता है। कुछ उर्वरकों में उपरोक्त मुख्य तीन तत्वों के अलावा भी कुछ और तत्व होते हैं, अतः उन्हें एक से अधिक वर्गों में रखा जा सकता है।

नाइट्रोजनधारी उर्वरक : नाइट्रोजनधारी उर्वरकों को वर्गीकृत करने का आधार यह माना गया है कि अन्य तत्वों के साथ नाइट्रोजन का संयोग किस प्रकार से हुआ हैं। इसके अनुसार नाइट्रोजनधारी उर्वरकों को आगे दी गई चार श्रेणियों में बांटा जाता है :

(1) नाइट्रेट, (2) अमोनिया और अमोनियम संयुक्त, (3) नाइट्रोजनधारी रासायनिक पदार्थ और (4) वनस्पति तथा उपजात।

कुछ मुख्य नाइट्रोजनधारी उर्वरकों में विभिन्न नाइट्रोजन प्रतिशत इस प्रकार हैं :

नाइट्रोजनधारी उर्वरकों में नाइट्रोजन प्रतिशत

उर्वरक	नाइट्रेट	अमोनियाधारी	एमाइडधारी	कार्बनिक
सोडियम नाइट्रेट	15-16	...	...	...
अमोनियम सल्फेट	...	20-21	...	...
अमोनियम नाइट्रेट	17-18	17-18	...	...
अमोनियम-सल्फेट-नाइट्रेट	6.5	19.5	...	...
अमोनियम क्लोराइड	...	25-26	...	...
अमोनिया	...	80	...	...
यूरिया	...	...	46	...
कैल्शियम अमोनियम नाइट्रेट	10	10	...	...
मूंगफली की खली	...	...	...	6-7
अरण्डी की खली	...	...	...	4-5
अलसी की खली	...	...	...	5-6
नीम की खली	...	...	...	4-5
महुवा की खली	...	...	...	2-3
करंज की खली	...	...	...	4
शुष्क रक्त	...	...	...	10-12
मछली की खाद	...	...	...	7-10

सोडियम नाइट्रेट : इसे चिलियन नाइट्रेट भी कहते हैं। नाइट्रोजनधारी उर्वरकों में इसका प्रमुख स्थान है। यह उत्तरी चिली में प्राकृतिक खनिज के रूप में पाया जाता है और विदेशों को

निर्यात करने से पूर्व इसका शोधन किया जाता है। इसमें नाइट्रेट के रूप में लगभग 16 प्रतिशत नाइट्रोजन होता है जो सीधे ही पौधों को प्राप्त हो सकता है। इसी कारण यह नाइट्रोजन का बहुत ही मूल्यवान स्रोत है। विशेष रूप से इसे हाल की उगी फसलों में भुरका जाता है या पौधों की जड़ों के आस-पास बिखेरा जाता है। उस समय पौधों की शीघ्र बढ़वार के लिए घुलनशील नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है जो इससे तुरन्त प्राप्त हो जाती है।

यह उर्वरक जल्दी ही पानी में घुल जाता है और जल्दी ही बह जाता है। अतः इसका प्रयोग धान की फसल में नहीं करना चाहिए। गेहूँ, मकई, जौ, कपास, गन्ना आदि की फसलों के लिए यह अमोनियम सल्फेट जैसा ही लाभकारी सिद्ध हुआ है।

सोडियम नाइट्रेट उर्वरक भूमि की अम्लता को सुधारता है। अतः अम्लीय मिट्टियों के लिए विशेष रूप से उपयोगी पाया गया है। उर्वरक के रूप में यदि इसका अधिक प्रयोग किया जाता है, तो साथ ही साथ यह भी कहा जाता है कि यह भूमि की भौतिक स्थिति को बिगाड़ देता है। इसको नमी रहित गोदामों में भंडारित करना चाहिए।

अमोनियम सल्फेट : देश में यह उर्वरक सबसे ज्यादा इस्तेमाल किया जाता है। यह श्वेत रवेदार पदार्थ है जिसमें 20 से 21 प्रतिशत अमोनियाधारी नाइट्रोजन होती है। इसका रख-रखाव आसान है और यह नमी रहित दशाओं में अच्छी तरह भंडारित किया जा सकता है। वर्षा ऋतु में कभी-कभी इसके ढेले बन जाते हैं। इस्तेमाल करने से पहले इन ढेलों का चूर्ण वना लेना जरूरी है। यह पानी में जल्दी घुल जाता है और तेजी के साथ काम करता

है। लेकिन अधिक घुलनशील होते हुए भी इसकी नाइट्रोजन पानी के साथ मिलकर जल्दी नहीं बह जाती क्योंकि जब अमोनियम सल्फेट मिट्टी में मिलता है तो मिट्टी में उपस्थित रहने वाले कैल्शियम कण अमोनियम सल्फेट के अमोनियम कणों का स्थान ले लेते हैं और अमोनियम कण मिट्टी के कणों में उलझ जाते हैं। यह गीली भूमि पर उगाई जाने वाली धान और पटसन जैसी फसलों की खेती के लिए बहुत ही उपयुक्त है। यह गेहूँ, कपास, गन्ना, आलू और विभिन्न किस्म की भूमि पर उगाई जाने वाली भूमि में फसलो के लिए उपयोगी पाया गया है। इस का प्रयोग करने से भूमि में अम्लीय प्रभाव बढ़ता है। अमोनियम सल्फेट का ज्यादा दिनों तक लगातार इस्तेमाल करने से भूमि में अम्लता बढ़ जाती है और उपज घट जाती है। इसका अपवाद केवल असम में पाया गया है जहाँ अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में इस उर्वरक का प्रयोग अम्लीय भूमियों में चाय की उपज बढ़ाने के लिए किया जाता है। अतः अमोनियम सल्फेट के लगातार प्रयोग के दुष्प्रभावों से बचने के लिए यह जरूरी है कि इसको जैविक खादों के साथ प्रयोग किया जाय।

अमोनियम सल्फेट बुवाई से पूर्व, बुवाई के समय तथा खड़ी फसल में दिया जाता है। इसे बीजों के साथ मिलाकर या उनके बहुत पास न डाला जाय क्योंकि ऐसा करने से बीजों के अंकुरण पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है।

अमोनियम नाइट्रेट : यह एक सफेद रवेदार पदार्थ है। इसमें 33 से 35 प्रतिशत तक नाइट्रोजन होती है, जिसमें आधी नाइट्रोजन नाइट्रेट के रूप में और आधी अमोनियम के रूप में रहती है। अमोनिया के रूप में रहने वाली नाइट्रोजन मिट्टी से जल्दी नहीं बह

पाती । यह उर्वरक पौधों पर तेजी से क्रिया करता है। लेकिन इसमें नमी को सोखने की बड़ी क्षमता होती है। इसलिए इसको भंडारित नहीं किया जा सकता । यदि इसको रवे के रूप में तेल का हल्का लेप करके रखा जाता है तो इसका नमी सोखने का गुण कुछ हद तक कम हो जाता है । यह मिट्टी में अम्लता बढ़ाता है । कुछ विशेष दशाओं में यह विस्फोटक सिद्ध हुआ है । इसलिए इसे हाथ से इस्तेमाल करते समय आवश्यक सावधानी बरतनी चाहिए ।

अमोनियम नाइट्रेट के साथ 40 प्रतिशत चूने का पत्थर (डोलोमाइट) मिलाकर एक विशेष पदार्थ बनाया जाता है, जिसको नाइट्रोचौक कहते हैं । यह दानेदार होता है । यह अधिक विस्फोटक नहीं होता और नमी भी अपेक्षाकृत कम सोखता है । इसमें 20·5 प्रतिशत नाइट्रोज़न होती है जिसमें से आधी अमोनिया के रूप से और आधी नाइट्रेट के रूप में रहती है । चूने की उपस्थिति से इसमें पौधों के पोषक तत्त्व बढ़ जाते हैं और अम्लीय मिट्टियों के लिए विशेष रूप से इसकी उपयोगिता बढ़ जाती है ।

अमोनियम सल्फेट नाइट्रेट : यह अमोनियम नाइट्रेट और अमोनियम सल्फेट का मिश्रण है । रवो के रूप में इसका रंग सफेद होता है और कणों के रूप में मटमैला सफेद होता है । इस उर्वरक में 26 प्रतिशत नाइट्रोजन होती है, इसमें से तीन चौथाई अमोनिया के रूप में और शेष (6·5 प्रतिशत) नाइट्रेट के रूप में होती है । यह विस्फोटक नहीं होता और न ही अमोनियम नाइट्रेट की तरह अधिक नमी सोखता है । यह पानी में घुल जाता है और तेजी से क्रिया करता है । भंडारण करने पर यह खराब नहीं होता । यह सभी फसलों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है । मिट्टियों पर इसका

अम्लीय प्रभाव अमोनियम सल्फेट की तुलना में कम पड़ता है। अम्लीय मिट्टियों में इसको 50 प्रतिशत कैल्शियम कार्बोनेट या पिसे हुए चूने के साथ मिलाकर इस्तेमाल करना जरूरी होता है। यह बुवाई के पूर्व, बुवाई के समय या पौधे उग जाने के बाद खड़ी फसल में डाला जा सकता है। लेकिन इसको बीज के साथ मिलाकर नहीं डालना चाहिए।

अमोनियम क्लोराइड : यह सफेद रवेदार पदार्थ है। इसमें 26 प्रतिशत नाइट्रोजन अमोनिया के रूप वे बड़े पैमाने पर धान की फसल में इस्तेमाल किया जाता है। भारत में, औद्योगिक क्षेत्र में इसका बड़े पैमाने पर इस्तेमाल होता है। गुण-धर्मों में यह आमतौर पर अमोनियम सल्फेट के समान ही है, लेकिन भूमि में अपेक्षाकृत कम अम्लता पैदा करता है। टमाटर, तम्बाकू और इसी प्रकार की दूसरी फसलों के लिए, जिनको क्लोरीन से हानि होती है, इसको देने की सिफारिश नहीं की जाती।

यूरिया : यह एक सफेद रवेदार जैविक-रासायनिक पदार्थ है। इसमें 45 से 46 प्रतिशत तक जैविक नाइट्रोजन होती है। इसलिए नाइट्रोजनधारी उर्वरकों में यह सबसे शक्तिशाली है। इसमें नमी सोखने की अधिक क्षमता होती है, इसलिए इसके भंडारण में, विशेष रूप से नमी वाले क्षेत्रों में, बड़ी कठिनाई होती है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए यह उर्वरक छोटी-छोटी गोलियों के रूप में बनाया जाता हैं और इस पर किसी ऐसे पदार्थ का लेप कर दिया जाता है जिस पर नमी का असर नहीं होता। यह पानी में बहुत घुलनशील है इसलिए मिट्टी में बह जाने का डर बराबर रहता है। यह बड़ी तेजी से क्रिया करता है। जब इसको मिट्टी में डाला जाता है तो

इसकी नाइट्रोजन अमोनिया में बदल जाती है। इसलिए यह अमोनियम सल्फेट के समान ही उपयोगी होता है और साथ ही यह भूमि को अम्लीय भी बनाता है। अमोनियम नाइट्रेट की तरह यूरिया से भी नाइट्रोजन के अलावा अन्य कोई और पोषक तत्त्व प्राप्त नहीं होता।

यह बोने के समय या पौध लगाने के बाद फसल में दिया जा सकता है। इसको बीजों के साथ मिलाकर प्रयोग नहीं करना चाहिए। अत्यधिक संयुक्त और तेज होने के कारण इसको फसल में डालने से पहले मिट्टी के साथ मिला देना चाहिए। यह सभी फसलों के लिए उपयुक्त है और सभी प्रकार की भूमियों में दिया जा सकता है। इसे केवल उस समय नहीं देना जाहिए, जब खेत में पानी या नमी हो या खाद देने के 3-4 दिन बाद तक खेत के गीले रहने की आशंका हो।

अमोनिया : यह एक गैस है और इसमें 80 प्रतिशत नाइट्रोजन होती है। ताप और दाब की उपयुक्त दशाओं में यह तरल भी बन जाती है जो "एनहाइड्रस अमोनिया" कहलाती है। जब अमोनिया गैस को पानी में मिलाते हैं तो वह उसमें घुल जाती है और यह घोल "एक्वेस अमोनिया" कहलाता है। अमोनिया इन दोनों रूपों में ही उर्वरक की तरह इस्तेमाल की जाती है। "एनहाइड्रस अमोनिया" को सिंचाई करते समय पानी में मिला देते हैं। यह जिन डिब्बों में आती है, उनमें से इसे सीधे ही मिट्टी में डाल दिया जाता है। किन्तु इस तरह प्रयोग करने से यह महंगी पड़ती है। मैसूर राज्य के बंगलौर क्षेत्र में धान, गन्ना और कपास की फसलों पर इसको उर्वरक की तरह इस्तेमाल करने की सम्भावनाओं पर खोजबीन की जा रही

है। महाराष्ट्र में कपास की फसल पर "एक्वेस अमोनिया" अमोनिया सल्फेट जितनी ही लाभकारी पायी गयी है।

जैविक नाइट्रोजनधारी उर्वरक

इनमें वनस्पति और पशुजात पदार्थ, जैसे मल, मछली की खाद, सुखाया हुआ खून आदि होते हैं। इनकी जैविक नाइट्रोजन पौधों द्वारा इस्तेमाल करने से पहले ही जीवाणुओं की क्रिया द्वारा शीघ्र पचने वाली अमोनिया और अमोनिया नाइट्रेट के रूप में बदल जाती है। इसलिए ये उर्वरक धीमी गति से काम करते हैं लेकिन इनसे काफी लम्बे समय तक फसल को नाइट्रोजन मिलती रहती है। इसके अतिरिक्त यदि इनमें पौधों को बढ़ाने वाले जैविक उत्तेजक और वे अल्प तत्त्व भी उपस्थित होते हैं जिनकी फसलों को आवश्यकता होती है तो उनका भी कुछ अंश फसल को प्राप्त हो जाता है।

भिन्न-भिन्न तिलहनों की लगभग 20 लाख टन खली प्रति वर्ष भारत में पैदा होती है। इन खलों में नाइट्रोजन तो होती ही है, साथ ही फास्फोरस (P_2O_5) और पोटाश भी होते हैं। इनमें जैविक पदार्थ अधिक मात्रा में होते हैं। भारत में उपलब्ध मुख्य खलों की रासायनिक रचना **सारणी** 13 में दी गई है। इन खलियों में नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश के अलावा 2—15 प्रतिशत तेल भी होता है। यदि तिलहन से तेल घोलक विधि द्वारा निकाला जाता है तो उनमें घानी और एक्सपैलर द्वारा निकाले गये तेल की अपेक्षा तेल-अंश कम रहता है। खलियों में अवशिष्ट तेल इनके खाद के मूल्य को कम नहीं करता। खाद्य-खलियाँ बड़े पैमाने पर पशुओं के खिलाने के लिए इस्तेमाल की जाती हैं इसलिए देश में इनका उर्वरकों के रूप

में इस्तेमाल नहीं हो पाता। हाँ, पशुओं को खिलाने से उनके गोबर में इनका जो अंश आ जाता है वह खाद की तरह इस्तेमाल हो जाता है। अखाद्य खली, जैसे अंडी, नीम, महुआ और करंज की खली रासायनिक उर्वरकों के साथ मिला कर देने से फसल पर उनका अच्छा असर होता है।

कसाईखानों में काफी रक्त बेकार चला जाता है। इसका खाद की तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। शुष्क रक्त या रक्त चूरे में 10 से 12 प्रतिशत शीघ्र उपलब्ध होने वाली नाइट्रोजन और 1 से 2 प्रतिशत फास्फोरस (P_2O_5) होता है। यह फसल पर तेजी से काम करता है और सभी तरह की मिट्टियों में यह प्रभावकारी होता है। इसको भी खलियों की तरह से प्रयोग करना चाहिए।

मछली की खाद सूखी मछली या मछली के चूर्ण के रूप में मिलती है। जिन क्षेत्रों में मछली का तेल निकाला जाता है, वहाँ मछली की खली को खाद की तरह काम में ला सकते है। मछली की जातियों के अनुसार इसके उर्वरक रचकों में पाँच से आठ प्रतिशत तक जैविक नाइट्रोजन और 4 से 6 प्रतिशत तक फास्फोरस होता है। यह तेजी से क्रिया करती है और सभी प्रकार की मिट्टियों तथा सभी फसलों के लिए उपयुक्त है। मछली की खाद को इस्तेमाल करने से पहले उसको बारीक पीस लेना चाहिए।

फास्फेटधारी उर्वरक

फास्फेटधारी उर्वरकों को भी चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है: (1) प्राकृतिक फास्फेट, (2) उपचारित फास्फेट, (3) उपजात फास्फेट और (4) रासायनिक फास्फेट।

रौक फास्फेट : यह प्राकृतिक खनिज के रूप में हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में तथा मोरक्को, अमरीका, पोलैंड, रूस, ट्यूनीशिया, अल्जीरिया, ब्राजील, मिस्र आदि देशों में पाया जाता है। इसमें 25 से 35 प्रतिशत फास्फोरस (P_2O_5) होता है लेकिन यह फास्फोरस जल में अघुलनशील होता है। हमारे देश में रौक फास्फेट आमतौर पर उर्वरक की तरह अधिक इस्तेमाल नहीं किया जाता। दक्षिण में इसकी कुछ मात्रा अवश्य उपयोग की जाती है। अन्य देशों में महीन कणिकाओं के रूप में उसे इस्तेमाल करने पर, उन भूमियों से सन्तोषजनक नतीजे प्राप्त हुए हैं, जिनमें फास्फोरस की कमी होती है या जो अम्लीय होती हैं। अधिक वर्षा में और लम्बे समय तक उगने वाली फसलों में इसका प्रभाव अधिक अच्छा रहता है। फिर भी इन्हें सीधे ही उर्वरक की तरह बहुत कम इस्तेमाल किया जाता है। इसका अधिकांश भाग सुपरफास्फेट नाम के उर्वरक को बनाने के काम में आता है। सुपरफास्फेट में उपस्थित फास्फोरिक एसिड पानी में घुलनशील होता है, जो पौधों को तुरन्त उपलब्ध हो सकता है।

सुपरफास्फेट : फास्फेटधारी उर्वरकों में सुपरफास्फेट हमारे देश में सबसे अधिक और व्यापक रूप में इस्तेमाल होता है। पहले इसे हड्डियों को गंधक के तेजाब द्वारा उपचारित करके बनाते थे। पर आजकल इसे, रौक फास्फेट को गंधक के तेजाब की समान मात्रा के साथ उपचारित करके बनाया जाता है। इस उपचार से मटमैले रंग का मौनो-कैल्शियम-फास्फेट और कैल्शियम सल्फेट का मिश्रण बराबर मात्रा में प्राप्त होता है। यह उर्वरक तीन नामों से बनाया जाता है : (1) सिंगिल सुपरफास्फेट, इसमें 16 से 20 प्रतिशत तक फास्फोरस

(P_2O_5) होता है, (2) डाइकैल्शियम फास्फेट, इसमें 35 से 38 प्रतिशत तक फास्फोरस (P_2O_5) होता है और (3) ट्रिपिल सुपर-फास्फेट, इसमें 44 से 49 प्रतिशत तक फास्फोरस (P_2O_5) होता है। भारत के बाजारों में आमतौर पर सिंगिल सुपरफास्फेट ही मिलता है। ट्रिपिल सुपरफास्फेट बनाने में गंधक के तेजाब के स्थान पर तरल फास्फोरिक एसिड इस्तेमाल किया जाता है इसलिए इसमें कैल्शियम सुपरफास्फेट प्रायः नहीं होता। ट्रिपिल सुपरफास्फेट आमतौर पर संयुक्त उर्वरक मिश्रण बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

सुपरफास्फेट का फास्फोरिक एसिड पानी में पूरी तरह से घुलनशील होता है। लेकिन जब इसे मिट्टी में डालते हैं तो तुरन्त ही घुलनशील फास्फेटों में बदल जाता है। भूमि के क्षारीय और अम्लीयपन के अनुसार यह कैल्शियम, लौह या एल्यूमीनियम फास्फेट का रूप धारण कर लेता है। इसलिए उर्वरक पानी के साथ बहता नहीं है, किन्तु धीरे-धीरे मिट्टी में घुलता रहता है। फास्फोरस की स्थिरीकरण की हानि को बीजण यंत्र द्वारा बीजों को कतारों में 4 से 6 इंच की गहराई पर डाल कर कम किया जा सकता है। ऐसा करने से फास्फेट का कुछ भाग सीधे मिट्टी के सम्पर्क में नहीं आता और उपलब्ध फास्फोरस पौधों की जड़ों द्वारा सोख लिया जाता है।

यह उर्वरक सभी फसलों और सभी मिट्टियों के लिए उपयुक्त पाया गया है। अम्लीय मिट्टियों में इसको जैविक खादों के साथ भली-भांति मिलाकर इस्तेमाल करना चाहिए। इसको बोने से पहले, बोते समय या पौध लगाते समय कभी भी इस्तेमाल किया जा सकता है।

बेसिक स्लेग (इस्पात की तलछट) : यह पदार्थ इस्पात के कारखानों में इस्पात बनाने वाली भट्टी की तलछट है। कारखानों में

लोहा बनाने के लिए जो खनिज इस्तेमाल किये जाते हैं, उनमें फास्फोरस अंश के अनुसार बेसिक स्लेग में 6 से 20 प्रतिशत तक फास्फोरिक एसिड होता है। भारतीय इस्पाती कारखानों के स्लेग में फास्फोरिक एसिड कम होता है इसलिए उन्हें बतौर उर्वरक इस्तेमाल नहीं किया जाता। यूरोप के इस्पाती कारखानों में उम्दा किस्म के बेसिक स्लेग में 15 से 18 प्रतिशत तक फास्फोरिक एसिड होता है। इसलिए केन्द्रीय यूरोप में यह एक लोकप्रिय फास्फेटधारी उर्वरक बन गया है। यह सुपरफास्फेट जैसा घुलनशील नहीं होता और अम्लीय मिट्टियों के लिए अच्छा पाया गया है। इसको इस्तेमाल करने से पहले पीस लेना चाहिए।

हड्डी की खाद : फल वाले वृक्षों में सूखी हड्डी की खाद देना हमारे देश की बहुत पुरानी प्रथा है। मरे हुए पशु को फल-वृक्ष के नीचे दबाना वृक्ष के विकास के लिए बड़ा उपयोगी पाया गया है। इतने पर भी अभी कुछ वर्ष पहले तक हमारे देश से बड़ी मात्रा में हड्डियों का निर्यात होता रहा है। अब यह निर्यात काफी घट गया है और हड्डी की खाद बड़े पैमाने पर फास्फोरिक उर्वरक की तरह देश में इस्तेमाल की जा रही है। आजकल यह दो रूपों में मिलती है : (1) कच्ची हड्डी के चूरे के रूप में और (2) भपाए गए चूरे के रूप में। हड्डियों को हवा के दबाव के नीचे भपाने पर उनसे चिकनाई, ग्रीस, नाइट्रोजन और सरेस आदि जैसे पदार्थ अलग हो जाते हैं। से कच्ची हड्डियों में केवल 4 प्रतिशत धीमी गति से काम करने वाले जैविक नाइट्रोजन और 20-25 प्रतिशत घुलन-शील फास्फोरिक एसिड मौजूद रहती है। जबकि उबली हुई हड्डी के चूरे में केवल एक-दो प्रतिशत नाइट्रोजन होती है और 25 से 30

प्रतिशत फास्फोरिक एसिड रहता है । भपाई गई हड्डियाँ जल्दी टूटने वाली होती हैं इसलिए उनको आसानी से पीसा जा सकता है । हड्डियों का चूरा जितना अधिक बारीक होता है उतना ही अधिक फास्फोरस पौधों को प्राप्त होता है । एक अनुमान के अनुसार हड्डियों का ऐसा चूरा जिसके कण 3/32 इंच के आकार से बड़े होते हैं, उर्वरक के रूप में इस्तेमाल करने योग्य नहीं होते । हड्डी के चूरे की खाद का असर बहुत धीरे-धीरे होता है इसलिए इसे खड़ी फसल में नहीं देना चाहिए, वरन् इसको मिट्टी में मिला देना चाहिए । इसको बोने के समय या बोने से पहले, बीजण यंत्र में रखकर या बिखेरकर इस्तेमाल किया जा सकता है । हड्डियों का चूरा उत्तम जल निकास वाली अम्लीय मिट्टियों के लिए अधिक उपयोगी रहता है । यह सभी फसलों के लिए उपयोगी पाया गया है ।

देश के कुछ भागों में जली और पिसी हुई हड्डियाँ खाद के रूप में इस्तेमाल की जाती हैं । जली हड्डियों में नाइट्रोजन का आधा अंश नष्ट हो जाता है, लेकिन फास्फोरस अंश काफी रहता है । यदि हड्डियों के पीसने और भपाने का आस-पास प्रबन्ध न हो तो जली हुई हड्डियाँ काफी दूर तक भी वहाँ भेजी जा सकती हैं जहाँ पीसने और भपाने की उचित व्यवस्था हो ।

पोटाशधारी उर्वरक

भारत की अधिकांश मिट्टियों में पोटाश अधिक मात्रा में पाया जाता है । इसलिए पोटाशधारी उर्वरकों को केवल उन भूमियों में देना चाहिए, जिनमें पोटाश की कमी होती है या जिनमें पोटाश देने से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ जाती है, जैसे रेतीली मिट्टियाँ । पोटाश की

खाद देने से तम्बाकू, आलू, प्याज, टमाटर आदि फसलों और फलदार वृक्षों की किस्मों के गुणों और बनावट में सुधार किया जा सकता है।

म्यूरेट आफ पोटाश : यह एक रवेदार पदार्थ है जिसमें 50 से 63 प्रतिशत तक पोटाश पाया जाता है। यह सारा का सारा घुलनशील उर्वरक तुरन्त मिट्टी में घुल-मिल जाता है। यद्यपि यह अत्यन्त घुलनशील होता है फिर भी यह मिट्टी से बह कर नहीं जाता, क्योंकि यह मिट्टी के धरातलीय कणों में समा जाता है। यह बोने से पूर्व या बोते समय लगाना चाहिए।

सल्फेट आफ पोटाश : यह मैगनीशियम सल्फेट और म्यूरेट सल्फेट से बनाया जाता है। इसलिए महँगा पड़ता है। इसमें 48 से 52 प्रतिशत तक पोटाश होता है। यह पानी में जल्दी घुल जाता है और पौधों को यह तुरन्त उपलब्ध हो सकता है। यह बुवाई से पहले कभी भी खेत में लगाया जा सकता है। लेकिन बीजण यंत्र में बीज के साथ इसको नहीं डालना चाहिए। यह तम्बाकू, मिर्च, आलू, आदि फसलों और फल-वृक्षों के लिए म्यूरेट आफ पोटाश से अच्छा समझा जाता है। ये दोनों उर्वरक मिट्टी में अम्लीय अवशेष छोड़ देते हैं।

पोटाश के अन्य सल्फेट : लकड़ी की राख, फफूँदी, पत्तियां, तम्बाकू के डंठल, जलकुम्भी आदि पोटाश के अन्य स्रोत हैं। बिना घुली राख में 5-6 प्रतिशत तक पोटाश पोटेशियम कार्बोनेट के रूप में होता है। इसमें 1-2 प्रतिशत फास्फोरस (P_2O_5) और 25-30 प्रतिशत चूना भी पाया जाता है। पोटाश कार्बोनेट और चूना दोनों ही भूमि की अम्लता को उदासीन बनाने में सहायता करते हैं। मूंग-फली के छिलकों, धान की भूसी, गन्ने की खोई और राख में पोटाश और फास्फोरस (P_2O_5) का पर्याप्त अंश होता है। तम्बाकू के

डंठलों के चारे में 2 से 3 प्रतिशत नाइट्रोजन और 6-10 प्रतिशत पोटाश होती है जो खुराक के रूप में तुरन्त ही मिल जाती है। सूखी जलकुम्भी में 1 प्रतिशत नाइट्रोजन, 4 प्रतिशत पोटाश और कुछ अंश फास्फोरस का भी होता है।

भूमि सुधारक तत्व

चूना आमतौर पर भूमि की अम्लता को और उसकी भौतिक दशा को सुधारने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। साथ ही यह धरती में जीवाणु-प्रक्रिया को भी बढ़ाता है। जिप्सम खारी मिट्टियों को उपजाऊ बनाने, समुद्री दलदली किनारों को उपजाऊ भूमि में बदलने और काली कपासी मिट्टी की रचना को सुधारने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसीलिए ये दोनों पदार्थ भूमि सुधारक कहलाते हैं।

संयुक्त उर्वरक : इन उर्वरकों में 2-3 पोषक तत्व एक साथ ही मिले होते हैं। एमोफौस ऐसा ही एक उर्वरक है। इसमें 16 प्रतिशत नाइट्रोजन और 20 प्रतिशत फास्फोरस (P_2O_5) होता है और यह उन मिट्टियों में लगाया जाता है, जिनमें नाइट्रोजन और और फास्फोरस की कमी पायी जाती है। इसके इस्तेमाल से फास्फो-रसधारी और नाइट्रोजनधारी अलग-अलग उर्वरकों को मिलाने और लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त कुछ और यौगिक उर्वरक हैं जैसे मोनो अमोनियम फास्फेट, जिनमें 11 प्रतिशत नाइट्रोजन और 48 प्रति-शत फास्फोरस (P_2O_5) होता है। डाईअमोनियम फास्फेट में 21 प्रतिशत नाइट्रोजन और 53 प्रतिशत फास्फोरस होता है और पोटे-

शियम नाइट्रेट में 13 प्रतिशत नाइट्रोजन और 44 प्रतिशत पोटाश (K_2O) होता है।

मिश्रित उर्वरक : यौगिक उर्वरकों में पौधाई पोषक तत्व निश्चित अनुपातों में होते हैं, इसलिए ये सभी प्रकार की मिट्टियों और सभी प्रकार की फसलों के लिए समान रूप से उपयोगी नहीं पाये जाते हैं। इसी कारण मिश्रित उर्वरकों का निर्माण किया गया है। जिन मिश्रित उर्वरकों में नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश, तीनों पोषक तत्व रहते हैं उनको पूर्ण उर्वरक कहते हैं। अलग-अलग फसलों के लिए अलग-अलग मिश्रित उर्वरक होते हैं। ऐमोफौस निसीफौस और नाइट्रोचौक कुछ ऐसे ही मिश्रित उर्वरक होते हैं। विदेशों में तो इन मिश्रित उर्वरकों के साथ कीट-नाशकों की अनुकूलतम मात्रा भी मिलायी जाती है। मिश्रित उर्वरक घर पर भी बनाये जा सकते हैं। किन्तु इसके लिए बड़ी सावधानी की आवश्यकता है क्योंकि उनका मिश्रण करने में विभिन्न प्रकार की जलवायु और भंडारण दशाओं, गुण-धर्म, और विभिन्न उर्वरकों की आपसी प्रक्रिया आदि ज्ञान की आवश्यकता होती है। जिन उर्वरकों को मिलाया नहीं जाना चाहिये, उनके नाम क्रमशः नीचे दिए गये हैं :—

1. अमोनियम सल्फेट और अमोनियम क्लोराइड।
2. सोडियम नाइट्रेट या पोटेशियम नाइट्रेट सुपरफास्फेट के साथ।
3. सुपरफास्फेट के साथ नाइट्रोचौक या चूना
4. चूने के साथ अमोनियम सल्फेट-नाइट्रेट।
5. सुपरफास्फेट के साथ यूरिया।
6. चूने या कैल्शियम कार्बोनेट या राख के साथ सुपरफास्फेट।

अमोनियम नाइट्रेट एक विस्फोटक रासायनिक पदार्थ है। इसलिए घर में मिश्रित उर्वरक बनाते समय इसको इस्तेमाल नहीं करना चाहिए। जिन उर्वरकों में नाइट्रेट तत्व होता है, उनकी केवल इतनी ही मात्रा तैयार करनी चाहिए, जो तुरन्त इस्तेमाल की जाएं। हड्डी का चूरा, पोटाश-सल्फेट, पोटाश-म्यूरेट आदि सभी उर्वरकों के साथ मिलाए जा सकते हैं। इस बारे में और अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए अपने राज्य के कृषि रासायनिक शास्त्री या अन्य किसी उचित अधिकारी से सलाह ली जानी चाहिए।

उर्वरक देने की विधि और समय : जैविक स्रोतों से प्राप्त उर्वरक को बोने से काफी पहले खेत में देना चाहिये, जिससे ये बीजों के अंकुरित होने से पहले ही आंशिक रूप में सड़ सकें। यदि बोने से पहले इनको खेतों में नहीं डाला गया है तो फिर पौधों को भली भांति अंकुरित होने के बाद उन्हें कभी भी दिया जा सकता है। इनको चूरे के रूप में देना चाहिए। इनको देने की एक आवश्यक शर्त यह है कि भूमि में पर्याप्त नमी हो, जिससे वे तेजी से सड़ सकें।

रासायनिक उर्वरकों में पोटाश और फास्फेटधारी उर्वरकों को देने का सबसे अच्छा समय खेत बोने से पहले या पौध लगाने से पहले है। नाइट्रोजनधारी उर्वरक या तो पौध लगाते समय या बाद में देने चाहिएं। पूरी मात्रा का कुछ भाग पौध लगाते समय और शेष भाग बाद में दिया जाना चाहिए। इस प्रकार दो बार में नाइट्रोजनीय उर्वरकों को देना उन फसलों के लिए उचित पाया गया है, जिनकी सिंचाई होती है या जो भारी

वर्षा वाले क्षेत्रों में उगायी जाती हैं। साथ ही जब उर्वरक नाइट्रेट रूप में होता है, तभी उन्हें दो बार में देना लाभकर रहता है।

जुताई से पहले उर्वरक दिए जाते हैं, उनको खेत में समान रूप से छिड़क देना चाहिए और फिर मिट्टी को पलट देना चाहिए। सुपरफास्फोट को घूरे की खाद के साथ 40 से 50 पौंड प्रति टन मिला कर देना लाभकर रहता है। अमोनियम सल्फेट की टॉपड्रेसिंग तब की जानी चाहिए जब पौधों की पत्तियाँ नम हों क्योंकि इससे पत्तियां झुलसेंगी नहीं। सिंचाई वाली फसलों में उर्वरक देने के तुरन्त बाद ही पानी लगा देना चाहिए।

प्रगतिशील देशों में उर्वरक या तो विभिन्न प्रकार की मशीनों द्वारा या वायुयान या हैलीकॉप्टर द्वारा खेतों में डाले जाते हैं। इन मशीनों में "कम्बाइंड प्लांटर" और "फर्टिलाइज़र डिस्ट्रीव्यूटर" मुख्य हैं।

उर्वरक की अनुकूलतम मात्रा : भारत एक बहुत बड़ा देश है। इसमें नाना प्रकार की भूमियां है और अनेक तरह की जलवायु हैं। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि प्रत्येक क्षेत्र के लिए किस विशेष फसल को कितना उर्वरक चाहिए। पिछले 50 वर्षों में देश के सभी राज्यों में इस सम्बन्ध में काफी खोजबीन हुई है और इसलिए राज्य के कृषि विभागों द्वारा इस बारे में आवश्यक जानकारी ली जा सकती है।

उर्वरक केवल वहीं देने चाहिएं, जहां पर सिंचाई की व्यवस्था हो, या जहां प्रतिवर्ष काफी वर्षा होती हो। उर्वरक-उपचार से अधिकतम लाभ मिट्टी की किस्म, फसलों की किस्म, जलवायु,

उर्वरकों के मूल्य और कृषि उत्पादन पर निर्भर करता है। उर्वरक देते समय इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए। यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उर्वरक की अधिकतम मात्रा कितनी है, जिससे अधिक से अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। यदि इस अधिकतम मात्रा से भी अधिक उर्वरक दिया जाता है तो फिर उपज उसी अनुपात में नहीं बढ़ती और कभी कभी इतनी मात्रा देने से आर्थिक रूप में नुकसान भी होता है। साथ ही यह ध्यान रखना चाहिए कि उर्वरक देना उन अनेक विधियों में से केवल एक है, जिसके द्वारा भूमि के पोषक तत्वों को पूरा किया जा सकता है और उसको उपजाऊ बनाया जा सकता है। उर्वरक देने के साथ-साथ अच्छी जुताई, व्यवस्थित सिंचाई, भूमि संरक्षण, मिट्टी का ठीक इस्तेमाल, फसलों में फेर-बदल, भूमि में अनुकूलतम मात्रा में जैविक पदार्थों की उपस्थिति और अणु-जीव प्रक्रियाओं को मिट्टी में लाना आदि, दूसरी बातें हैं जो उपज को बढ़ाने के लिए उर्वरक देने जितनी ही महत्वपूर्ण हैं। इनमें से जिस बात का भी अभाव रहता है, उससे ही उपज पर प्रभाव पड़ता है।

4.

भारत की फसलें

भारत एक कृषि प्रधान देश है । हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग 33.1 करोड़ एकड़ भूमि में खेती की जाती है, जिसके 80 प्रतिशत भाग में खाद्यान्न और दालें, 9.6 प्रतिशत में तिलहन, 6.5 प्रतिशत भाग में रेशेदार फसलें और शेष 3.9 प्रतिशत में गन्ना और अन्य फसलें उगाई जाती हैं ।

खाद्यान्न फसलें

देश की खाद्यान्न फसलों में चावल सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि 7.8 करोड़ एकड़ भूमि में इसकी खेती होती है जो देश की कुल कृषि-योग्य भूमि का लगभग 24 प्रतिशत भाग है । क्षेत्रफल की दृष्टि से चावल के बाद क्रमशः ज्वार, बाजरा, और गेहूं का स्थान है। इसके अतिरिक्त मक्का, जौ, मंडुआ तथा अन्य मोटे अनाजों की खेती भी देश के काफी बड़े क्षेत्रफल में की जाती है। दालों में चना और तूर मुख्य फसलें हैं। देश में जितने क्षेत्रफल में कुल दालें उगाई जाती हैं उसके आधे भू-भाग में चना और तूर पैदा की जाती हैं । इसी प्रकार तिलहनी फसलों में मूंगफली और रेशे की फसलों में कपास सबसे महत्वपूर्ण है। देश के सभी भागों में इन दोनों को नकदी फसलें माना जाता है। अन्य फसलों में तम्बाकू, चाय,
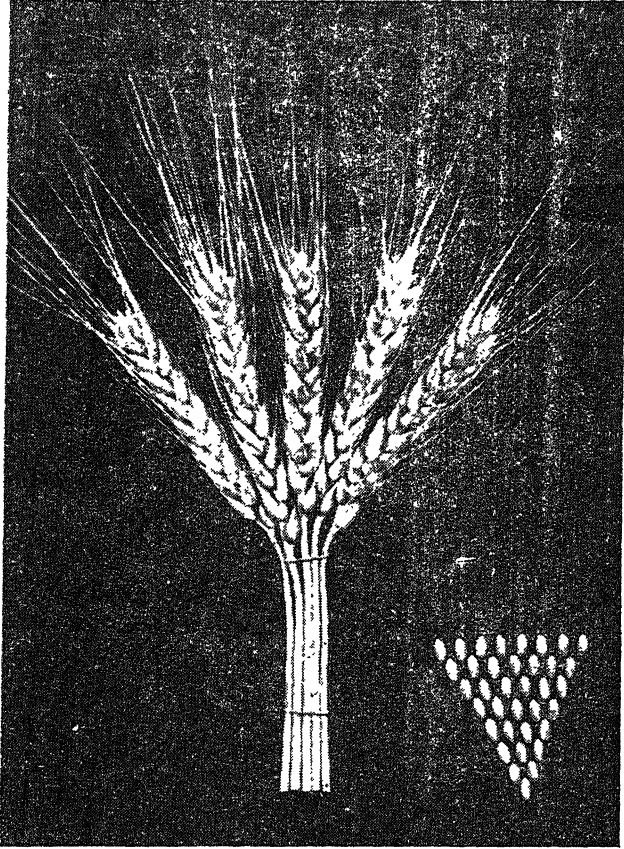
राजस्थान के लिए उपयुक्त गेहूं की आर. एस. 31-1 नामक
किस्म के दाने और बालें

रतुआ को सहन करने वाली गेहूं की एन. पी. 809
नामक किस्म की स्वस्थ बालें

ग्रालू, काली मिर्च आदि की फसलें भी काफी महत्व रखती हैं ग्रौर उनको देश के काफी हिस्से में उगाया जाता है ।

देश में खाद्यान्न ग्रौर दालों का ग्रौसत वार्षिक उत्पादन 6.74 करोड़ टन, चीनी का 61 लाख टन ग्रौर तिलहन का 61 लाख टन है। चावल का उत्पादन खाद्यान्नों के वार्षिक उत्पादन का 40 प्रतिशत है। कपास का वार्षिक उत्पादन 43 लाख रुई की गांठें हैं (एक गांठ का वजन 392 पौंड है) । इसी प्रकार जूट का उत्पादन 38 लाख गाँठें हैं (एक गाँठ का वजन 400 पौंड है) ।

धान (*Oryza sativa*)

चावल भारत के पूर्वी, दक्षिणी ग्रौर दक्षिण-पश्चिम भाग के लोगों का मुख्य भोजन है, परन्तु इसकी खेती सभी राज्यों में की जाती है। भारत में सात करोड़ अस्सी लाख एकड़ भूमि में इसकी खेती की जाती है जिससे लगभग 2 करोड़ 70 लाख टन चावल प्रतिवर्ष पैदा होता है । उपरोक्त क्षेत्रफल में से 2 करोड़ 40 लाख एकड़ भूमि के लिए सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध हैं ।

धान की फसल में विभिन्न प्रकार की जलवायु में ग्रपने को ग्रनुकूल बनाने की व्यापक क्षमता है । इनके कारण ही यह फसल उष्ण कटिबन्ध से लेकर सम-शीतोष्ण कटिबन्ध तक उगाई जाती है । यह समुद्र तल से लेकर 7,000 फुट की ऊँचाई तक, पंजाब ग्रौर राजस्थान के अर्ध-बारानी इलाकों से लेकर असम, बंगाल, महाराष्ट्र, केरल और मैसूर के नमी वाले इलाकों तक में उगाई जाती है। धान की लगभग 3,000 प्रचलित किस्में हैं जिनके अलग-अलग वनस्पतिक गुण हैं । ग्रलग-ग्रलग किस्मों के धानों के उगने ग्रौर पकने

का समय अलग-अलग होता है। इसी प्रकार इनमें मिट्टी की भिन्न-भिन्न दशाओं के अनुकूल बनने की क्षमता, अलग-अलग ताप और ऊँचाई, बाढ़, क्षारीयता, लवणता तथा अम्लता, खड़े पानी की गहराई आदि परिस्थितियों को सहन करने की अलग-अलग क्षमता होती है। इसीलिये इसकी खेती के तरीकों में अलग-अलग प्रदेशों में काफी अन्तर पाया जाता है।

मिट्टी : धान की खेती के लिये चिकनी दुमट मिट्टी सबसे अच्छी रहती है। गीली होने पर यह कीचड़ की तरह मुलायम हो जाती है और सूखने पर यह तड़क जाती है। वैसे नदियों द्वारा लाई रेतीली मिट्टी, पहाड़ी मिट्टी, पथरीली मिट्टी, उथली मिट्टी, गहरी मिट्टी, अधिक चूने या क्षार वाली मिट्टी, पहाड़ों के ढलानों, ऊँची जमीनों, बाढ़ की निचली भूमियों आदि में भी धान की खेती की जा सकती है। यह ऐसे स्थानों पर भी उगाया जा सकता है जहाँ वर्षा के अधिकांश दिनों में भूमि पर पाँच से बीस फुट की गहराई तक पानी खड़ा रहता है। अधिक समय में पकने वाली धान की किस्मों को उगाने के लिए निचली चिकनी मिट्टी अधिक अच्छी रहती है। हल्की मिट्टी और ऊँची दुमट जमीन में धान की जल्दी उगने वाली किस्में बोना अधिक अच्छा रहता है।

जलवायु : यह फसल गर्म और तर जलवायु में अधिक अच्छी तरह पनपती है। यद्यपि धान की ऐसी किस्में उपलब्ध हैं जो 18 इंच वार्षिक वर्षा से लेकर 200 इंच वार्षिक वर्षा तक के क्षेत्रों में उगायी जा सकती हैं, फिर भी अर्ध जलीय पौधा होने के कारण धान की खेती में पानी की विशेष आवश्यकता होती है। इसलिये सिंचाई की सुविधा या अधिक वर्षा धान की अच्छी खेती के लिये आवश्यक होती है।

बुआई का मौसम : भारत की उष्ण तथा उपोष्ण परिस्थितियों में धान आमतौर पर साल भर उगाया जा सकता है। एक ही स्थान पर एक ही मौसम में इस फसल की कई अवस्थायें खेतों में देखने को मिल सकती हैं। समशीतोष्ण और अधिक ऊँचाई वाले क्षेत्रों में धान की फसल केवल गर्मी के दिनों में ही उगायी जासकती है। इस फसल को उगाने के मौसम इस प्रकार हैं :

धान बोने और काटने का समय

	स्थानीय नाम	कटाई	बुआई
(1) अगेती	बियाली की कार	मई-जून	सितम्बर-अक्तूबर
(2) बरसात की फसल	अमन, हैन और कार्तिका	जून-जुलाई	नवम्बर-दिसम्बर
(3) बसन्त या गर्मी की फसलें	दलुआ और बोरो	नवम्बर-दिसम्बर	मार्च-अप्रैल

असम, बंगाल, उड़ीसा बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, और मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में धान की मध्यम और लम्बे समय की किस्मों को बोने के लिये मध्य जुलाई के बाद का समय अनुकूलतम माना जाता है।

भूमि पर एक साल में दो फसलें उगाने की दोहरी फसलों की पद्धति आंध्र प्रदेश, मद्रास, केरल और मैसूर में आमतौर से अपनायी जाती है। जल्दी पकने वाली किस्म के बाद लम्बे समय वाली फसलों को बोते हैं और लम्बे समय की फसल के बाद जल्दी पकने वाली फसलें बोते हैं। पहली फसल की पौध लगाने का

अनुकूलतम समय मध्य जून से लेकर जुलाई के पहले सप्ताह तक माना जाता है। दूसरी फसल मद्रास तथा केरल में मध्य अक्तूबर में और आंध्र प्रदेश व उत्तरी मैसूर में जनवरी-फरवरी के पहले सप्ताह में बोयी जाती है। दक्षिणी मैसूर में दूसरी फसल, जिसको कार या बैसाखी धान कहते हैं, अक्तूबर से लेकर अप्रैल-मई तक बोई जाती है।

फसल चक्र : धान की फसल भारी वर्षा तथा बाढ़ में डूबी निचली भूमि या नदियों के मुहानों पर बड़े पैमाने पर उगाई जाती है। यहाँ प्रति वर्ष एक फसल ही ली जाती है शेष समय के लिए उस खेत को परती छोड़ देते हैं या उसे जोत देते हैं। दोहरी फसल के इलाकों में जहाँ धान की दो या तीन फसलें साल में ली जाती हैं, वहाँ भूमि बहुत थोड़े समय खाली रह पाती है। उन इलाकों में जहाँ सिचाई के लिए कुएँ और तालाबों की सुविधाएँ उपलब्ध हैं, वहाँ धान के बाद गन्ना, केला, पान, अथवा बागानी फसलें, सब्जियां, मिर्च, तम्बाकू और हल्दी उगायी जाती है। बारानी इलाकों में मंडुवा, मूंगफली और ज्वार या बिना सिंचाई के होने वाली दालें और सनई आदि की फसलें धान के फसल-चक्र में बोयी जाती हैं। अभी पिछले कुछ समय से मद्रास और आन्ध्र प्रदेश के धान के इक-फसली इलाकों में जल्दी पकने वाली लम्बे रेशे वाली अमेरिकन कपास फसल-चक्र के रूप में उगायी जाने लगी है।

कृषि क्रियायें : धान के लिए भूमि तैयार करने का तरीका इस बात पर निर्भर करता है कि फसल सूखे खेत में बोयी जाती है या गीले खेत में। बारानी विधि से खेती करने में पहली फसल की कटाई के बाद भूमि को तुरन्त जोत देते हैं और वर्षा के समय गोड़ कर या देशी हल से जुताई करते हैं। पिछली फसल के सभी खरपत-

वारों और फसल की जड़ों को इकट्ठा करके खेत में जला देते हैं । अगर खेत में गोबर की खाद या कम्पोस्ट देनी होती है, तो बोने से पहले उसे खेत में डाल देते हैं । गीली बुआई में पहले जमीन की सिंचाई करते हैं और उसके बाद खड़े पानी में देशी हल या लोहे के हल से जुताई करते हैं । जिस समय भूमि गीली होती है उसी समय जल्दी-जल्दी 3-4 बार भूमि की जुताई कर दी जाती है । इस काम को तेजी से और किफायत के साथ करने के लिए नमभूमि के रोंदायी यंत्र (पडलर), या बर्मी यंत्रों का प्रयोग करते हैं । बड़े किसानों के लिए यह कार्य ट्रैक्टर से चलने वाले यंत्रों से करना सुविधाजनक रहता है । यदि जैविक खाद या हरी खाद का प्रयोग करना है तो बोने से पहले जैविक खाद, मिट्टी में डाल देनी चाहिए और हरी खाद की जुताई कर देनी चाहिए । गीली मिट्टी को अच्छी तरह से पटेला चलाकर समतल कर देना चाहिए; क्योंकि सिंचाई के पानी को समान रूप से खेतों में पहुँचाने के लिए खेत का समतल होना आवश्यक है । ऊँची-नीची भूमि और पहाड़ी ढलानों पर सीढ़ीदार क्यारियाँ बनायी जाती हैं । ये क्यारियाँ आमतौर पर 1/40 से 1/10 एकड़ तक बड़ी होती हैं । हर एक क्यारी के चारों ओर ऐसी मेड़ें बनायी जाती हैं जिससे पानी बाहर न निकल सके । क्यारियों को इस तरह बनाया जाता है, जिससे सिंचाई का पानी एक क्यारी से दूसरी क्यारी में नीचे की ओर बिना किसी क्यारी की फसल को खराब किए हुए पहुँच सके ।

बुआई : अधिक वर्षा वाले इलाकों में फसल उगाने के लिए धान को कतारों में बोया जाता है । कम वर्षा वाले क्षेत्रों में बीज छींटकर बोया जाता है । कतारों में बुआई के लिये तीन-चार कांटों वाले बीजण यंत्र इस्तेमाल किये जाते हैं या हल के पीछे बंधी हुई नली

या पोरा द्वारा बुआई की जाती है । गीली मिट्टी वाले खेतों के लिये बीजों को अलग से अंकुरित किया जाता है और अंकुर निकालने के बाद उनको खेत में बोया जाता हैं

बीज को अंकुरण के लिए 12 से 24 घंटों तक पानी में भिगोने के बाद दो तीन दिन तक गांठ बांध कर खाद के ढेर में दबा दिया जाता है और फिर प्रतिदिन उस ढेर पर पानी छिड़कते रहते हैं। ये अंकुर निकले बीज छींट कर बोये जाते हैं । बीजों को इस तरह बोने के बाद पानी के निकास और सिंचाई की व्यवस्था एक सप्ताह में एक दिन करनी होती है । ऐसा करने से बीजों का संवर्धन अच्छा होता है । छिटक कर बीज बोने की विधि में 80 से लेकर 120 पौंड प्रति एकड़ बीज पड़ता है, लेकिन जब फसल को कतारों में बोया जाता है तो 60 से 80 पौंड बीज प्रति एकड़ पड़ता है । कभी-कभी बीज देशी हल के पीछे कूड़ों में बोया जाता है । इसमें 60 से 80 पौंड बीज 10 से 12 इंच के फासले पर डालते जाते हैं । इस पद्धति से बीज बोने में बीज की मात्रा 40 से 60 पौंड प्रति एकड़ पड़ती है ।

गीले खेतों में अलग से उगाई गई धान की पौध की रोपाई भी की जाती है । रोपाई के लिये पौद सूखी या गीली पौद शालाओं में तैयार की जाती है । इसके लिये क्यारियों को उसी प्रकार से तैयार किया जाता है जैसे सूखी और रोपाई की जाने वाली भूमि की तैयार किया जाता है । सूखी पौदशालाओं में पौद आमतौर से 4 फुट चौड़ी क्यारियों में तैयार की जाती है । उनकी लम्बाई सुविधा के अनुसार रखी जा सकती है । दो क्यारियों के बीच में एक फुट चौड़ी सिंचाई या पानी के निकास की नाली होती है । पौद

उगाने के लिये पौदशाला की मिट्टी को गुड़ाई करके अच्छी तरह भुरभुरी बना लेते हैं और उसमें खाद भी अधिक डाली जाती है। पौदशाला में बीज छिटक कर या कतारों में पास-पास घना बोया जाता है और ऊपर से कम्पोस्ट तथा मिट्टी की एक अच्छी तह लगा दी जाती है। पौदशाला में पौद उगाने के लिये 200 से 300 पौंड बीज प्रति एकड़ की आवश्यकता पड़ती है।

बोते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बीज रोग-रहित हो। इसके लिये बोने से पहले बीजों की परीक्षा नमक के घोल में डाल कर कर लेनी चाहिए। जो बीज घोल में ऊपर तैरने लगें उनको निकाल देना चाहिए। इसके अतिरिक्त बोने से पहले बीजों को, एग्रोसन जी० एन० से (प्रतिमन $1\frac{1}{2}$ छटांक) उपचारित कर लेना चाहिए। पौदशाला की पौद को खरपतवारों से मुक्त रखना चाहिए और जरूरत के समय यथासम्भव पानी देते रहना चाहिए। बियाड़ में कीड़े-मकोड़ों व बीमारी से पौधों को बचाना चाहिए। जब पौद चार से छः सप्ताह की हो जाय तो उसकी रोपाई की जा सकती है।

रोपाई का काम आमतौर पर औरतें करती हैं। ये 6 से 12 इंच की दूरी पर कतारों में पौधों को रोपती हैं। आमतौर पर 6 से 8 पौद बराबर दूरी पर 6 से 7 इंच और कभी कभी 12 इंच के अन्तर पर कतारों में लगाई जाती हैं। ऐसा करने से पौधों में कल्ले फूटने और उनके बढ़ने में सहायता मिलती है तथा बीज की भी बचत होती है। जब धान को गौण फसल के रूप में कपास के साथ (विशेष रूप से गुजरात के उत्तरी प्रदेश में) उगाया जाता है तो मुख्य फसल की प्रत्येक कतार के साथ धान की एक या दो कतारें बोई जाती हैं। असम के झूम क्षेत्र में पहाड़ी ढालों पर जहां जंगलों

को साफ करके धान बोना अभी शुरू किया गया है मुट्ठी भर धान चोबाई विधि से कपास, सब्जियों तथा कन्द की फसलों के साथ मिलाकर बोये जाते हैं।

खाद व उर्वरक उपचार : यह पाया गया है कि धान की फसल में नाइट्रोजन देने से उपज काफी बढ़ जाती है। फिर भले ही यह नाइ-ट्रोजन खाद के रूप में दी गई हो या रासायनिक उर्वरक के रूप में। इसके लिए गोबर, कम्पोस्ट, खली, मछली की खाद, तालाब की, हरी पत्तियां, डालियां, वृक्ष के पत्ते, हरी खाद के रूप में सनई या ढेंचा आदि देश के भिन्न भिन्न भागों में प्रयोग किये जाते हैं। जिन फसलों में हरी खाद दी जाती है उनमें प्रति एकड़ 50 से 150 पौंड तक सुपरफास्फेट सतह पर बुरकना लाभदायक पाया गया है। महाराष्ट्र राज्य के कुछ भागों तथा मैसूर के तटीय प्रदेशों में सूखा गोबर, जड़ें और पत्तियों आदि का ढेर बनाकर खेत में या पौदशाला के भिन्न भिन्न हिस्सों में जलाया जाता है। इस क्रिया में खाद अंश की बहुत हानि होती है। जब जैविक खाद उपलब्ध न हो और हरी खाद देना भी संभव न हो तो ऐसी स्थिति में 100-150 पौंड अमोनियम सल्फेट (अर्थात् 20-30 पौंड नाइट्रोजन) बुआई या पौध लगाने से पहले खेत में देना चाहिए। जब पौधे एक महीने के हो जायें या उनमें फूल निकलने लगें तो इतनी ही मात्रा में अमोनियम सल्फेट को खड़ी फसल में देना चाहिए। गीली जुताई करते समय प्रति एकड़ 20-40 पौंड फास्फोरस और 20 पौंड नाइट्रोजन देने वाली खली खेत में डालनी चाहिए। अम्लीय और लैटेराइट मिट्टियों में हड्डी की खाद देना उपयोगी पाया गया है, क्योंकि इससे मिट्टी को फास्फोरस मिल जाता है।

निराई, गुड़ाई : जब तक रोपी हुई पौद अच्छी तरह जम न जाय तब तक खेत में $\frac{1}{2}$—1 इंच तक पानी खड़ा रहना चाहिए। बाद में मिट्टी गाढ़ी होने तक पानी के इस स्तर को बनाये रखने के लिए जब खेत में पानी कम हो जाय तो थोड़े-थोड़े समय बाद इतना पानी देते रहना चाहिए जिससे उसमें लगभग 2-3 इंच पानी बराबर खेत में बना रहे। फसल की कटाई से एक दो सप्ताह पहले पानी निकाल देने से फसल शीघ्र और समान रूप से पकती है।

पौधों में फूल आने के पहिले ही दो या तीन बार हाथ से खरपतवारों को निकाल देना चाहिए और पौधों की जड़ों के निकट की भूमि की निराई-गुड़ाई अच्छी तरह कर देनी चाहिए। कतारों में बोई हुई फसल के खरपतवार जापानी टाइप के 'रोटेरी वीडर' से निकालने चाहिए।

कटाई और गहाई : फसल की कटाई का उचित समय वह है जब बालियाँ करीब-करीब पक चुकी हों, लेकिन पौधे की पत्तियां तथा .ना आदि कुछ भाग हरे हों। फसल के अधिक पक जाने पर यदि कटाई की जाती है तो दानों का पर्याप्त भाग खेत में ही गिर जाता है। इससे छिलका अलग करते समय चावल की किस्म घटिया हो जाती है। फसल काटने के बाद तीन चार दिन तक सूखने के लिए इसे खेत में ही छोड़ दिया जाता है और इसके बाद एक दो सप्ताह तक फसल खलिहान में पड़ी रहती है। इसके बाद डंडों से कूट-कूट कर या पशुओं की दांय चलाकर दानों को पौधों से अलग कर दिया जाता है। इस कार्य के लिए जापानी 'पैडिल थ्रेशर' बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। इससे खर्चा भी कम आता है। धान का

छिलका उतारने के लिए बिजली से चलने वाली मशीन "राइस हलर" भी प्रयोग में लायी जाती है ।

भंडारण : साफ किए हुए छिलका रहित धान को अच्छी तरह सुखाकर टाट के बोरों में या खत्तियों में भर देते हैं । लकड़ी, ईंट, सीमेंट और लोहे की चादरों के सिलो या टंकियों में भी चावल भंडारण किया जाता है । अच्छी तरह भंडारण किया हुआ चावल पकाने में अच्छा होता है । भंडारण किये चावल में बाहर से नम हवा नहीं जानी चाहिए । बोने के धान को दो या तीन महीने के बाद धूप में सुखाते रहना चाहिए ।

उपज : मिट्टी, खेती के मौसम, खाद, सिंचाई, बीजों की किस्म आदि के अनुसार धान की प्रति एकड़ उपज 1,200 से 5,000 पौंड तक होती है । भूमि की अच्छी जुताई, उन्नत किस्म के बीज, खेत में हरी खाद और फसल में अच्छी मात्रा में उर्वरकों का प्रयोग, कतारों में उचित अन्तर (9 इंच × 9 इंच या 12 इंच × 12 इंच), फसल की निराई और गुड़ाई तथा रोगों और कीट व्याधियों की रोकथाम से धान का प्रति एकड़ उत्पादन काफी बढ़ाया जा सकता है ।

उन्नत किस्में : धान की उन्नत किस्मों को अगेती, मध्यम-पिछेती और पिछेती इन तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है । कुछ राज्यों में इनका वर्गीकरण पतझड़, जाड़े और गर्मी या अव्वल, दोयम और सोयम किस्मों के अनुसार किया जाता है । आगे दी गई सारणी में अगेती, मध्य पिछेती और पिछेती किस्मों की उन्नत किस्में दी गई हैं :

विभिन्न मौसमों में बोई जाने वाली धान की किस्में

राज्य	अगेती	मध्य-पिछेती	पिछेती
असम	• के-एम-जे०डी० 136-6	के-एम-जे०ए-ऐस० 3	के-एम-जे०ऐस० 22
	के-एम-जे०एम०36-30	के-एम-जे०ए-ऐस०46	संकर 2
	संकर 1		टी-टी-बी०ऐस ऐल० 70
	टी टी बी० ए-ऐस० 86		टी-टी-बी० ऐस-ऐल० 240
			टी-टी-बी० ऐस जी 308
			एच-बी-जे० बोरो 1
			एच-बी-जे० बोरो 2
बंगाल	दूलर (संकर)	बाद कालमकटी 65	भासमा निक
	धैरल	नागरा 41/14	इन्द्रसाल
	भुटमुरी 36	लटीसौल	झींगा सैल
	अशकटा		आसरा 108/1
			रघुसल
			कुमारागोर

राज्य	अगेती	मध्य-पिछेती	पिछेती
बिहार	बी-आर० 16	बी-आर० 1	बी-आर० 5
	बी-आर० 17	बी-आर० 2	बी-आर० 6
		बी-आर० 3	बी-आर० 7
		बी-आर० 4	बी-आर० 8
महाराष्ट्र	कोलम्बा 184	ज़िनिआ 31	कोलम्बा 42
	पटनी 6	कोलम्बा 540	ज़िनिया 149
	कादों 68-1	कृष्णसल 1	वारंगल 487
		पनवेल 61	अम्बेमोहर 157
आन्ध्रप्रदेश	एच-आर 8	एच-आर 5	एच-आर 35
	एच-आर 19	एच-आर 12	एच-आर 38
	एच-आर 33	एम-टी-यू 9	एच-आर 39
	एच-आर 47		आर डी आर 4
	एच-आर 67		एम टी यू 19
	एम-टी-यू 3	ए-के-पी 3, ए-के-पी 4,	एस-एल ओ 12
	एम-टी-यू 4	ए-के-पी 11, बी-ए-एम 3	एस-एल ओ 16
	एम-टी-यू 17	बी-ए-एम-6, बी-सी-पी 2	एम-टी-यू 9

राज्य	अगेती	मध्य-पिछेती	पिछेती
	ए-के-पी 1	बी-सी-पी 4, एम-टी-यू 1 एम-टी-यू 5, एम टी यू 6 एम-टी-यू 7, एम-टी-यू 10, एम-टी-यू 19, जी-ई-बी 24 एस-आर 26-बी, एस-एल-ओ 11 और एस-एल-ओ 13	एम-टी-यू 15, एम-टी-यू 20
मध्य प्रदेश	आर० 2, आर० 3 कौस नं० 1	आर० 4, आर० 5, कौस नं० 116.	कौस नं० 19, आर० 6, आर० 7, आर० 8,
		आर० 10, आर० 11, आर० 12	आर० 15
मद्रास	ए-एस-डी 1, ए-एस-डी० 7 ए डी-टी-3, ए डी-टी० 9,	ए-एस-डी 5, ए-एस-डी 6, सी.ओ० 12, सी-ओ 19	सी.ओ० 13, सी.ओ० 20 ए की डी-12, एम-टी यू 15

राज्य	अगेती	मध्य-पिछेती	पिछेती
	ए डी टी० 20	सी.ओ० 25, ए डी टी० 25 टी के एम 1	पी-टी-बी० 2, टी के-एम० 6
उड़ीसा	एन० 136, बी० 76 बैनीभोग जे० 1	टी० 56, टी० 141 टी० 608, टी० 635, टी० 1145, बी-ए-एम० 3	टी-90, टी-1242, बी-ए-एम० 9
पंजाब	(अ) मैदानों के लिये 349 झोना 370 बांसमती 246 पलमां सुफेद		
		(ब) पहाड़ों के लिए 100 राम जवैन 72 फुलपट्टास 41 लाल नकन्दो	

राज्य	अगेती	मध्य-पिछेती	पिछेती
केरल	एम-ओ-1, एम-ओ-2	सी० 1	यू-आर-9
	पी-टी-बी 10,	एस-आई-ए-एम 3	ए-डी-टी-67
	पी-टी बी-2,	पी-टी-बी-4	पी-टी-बी-10
	पी-टी-बी 7	पी-टी-बी-16	
	पी-टी-बी-10	पी-टी-बी-18,	
	ए-एस-डी 1	पी-टी-बी-20	
उत्तर प्रदेश	सी-एच-10, टी-43		टी० 9, टी-17
	टी-136, एम-22		टी० 23, टी-26

★ ★

राज्य विशेष की विभिन्न परिस्थितियों में उगायी जाने वाली धान की विभिन्न किस्में

प्रदेश	किस्में
1—**बाढ़-निरोधी किस्में :—**	
असम	के-एम-जे-ए-आर० 108-1, ए-आर-जी० 353-148 के-एम-जी ए-आर जी 614-25 बी

प्रदेश	किस्में
बिहार	बी-आर-14 और बी-आर-15
उड़ीसा	एफ-आर 13 ए और एफ-आर 43-बी
मद्रास	एम-टी-यू 16 और पी-टी-बी 15
उत्तर प्रदेश	दुधालची और जैसुरिया
2—क्षाररोधक किस्में :—	
उड़ीसा	एस-आर-26-बी
3—गर्मी के धान :—	
असम	टी-टी-बी ए-एस 35, टी-टी-बी ए-एस 48, टी-टी-बी॰ ए-एस 86
उड़ीसा	डी-आई 3 और डी-आई 4
मद्रास	एस-एल ओ 16, एम-टी-यू 9, सी-ओ 13 और पी-टी-बी 10

उर्वरक उपचार द्वारा धान से अधिक उपज मिलती है ।

मध्य पिछेती किस्मों को आन्ध्र प्रदेश में क्रमशः पतझड़, वसंत और सर्दियों के मौसम में उगाने की सिफारिश की गई है। इसी प्रकार मद्रास और केरल के लिए मध्य पिछेती फसलों को पहली फसल (कार), दूसरी (थलाडी) और तीसरी फसल (नवारी या मानवारी) के रूप में उगाने की सिफारिश की गई है।

गेहूँ (*Triticum sativum*)

गेहूँ संसार के करोड़ों लोगों का मुख्य आहार है। भारत में यह आटा, चपाती, परांठा, पूरी, हलुआ, डबलरोटी, बिस्कुट और मिष्ठान्न आदि बनाने के काम आता है इसका चोकर पशुओं को खिलाया जाता है।

भारत में गेहूँ की फसल 3 करोड़ एकड़ भूमि में बोयी जाती है जिससे प्रति वर्ष 88 लाख टन अनाज प्राप्त होता है। गेहूँ की खेती का 87 प्रतिशत क्षेत्रफल देश के मध्य तथा उत्तरी भारत में है।

जितने इलाके में गेहूँ बोया जाता है वह देश में होने वाले सभी खाद्यान्नों के क्षेत्रफल का 12 प्रतिशत और रबी-खाद्यान्नों के क्षेत्रफल का 76 प्रतिशत है। वह गेहूँ, जिसकी चपाती बनाई जाती है और जिसको वनस्पति विज्ञान में ट्रिटीकम वलगेयर कहते हैं, विशेषरूप से पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार और उत्तरी राजस्थान में उगाया जाता है। दूसरी किस्म मकरौनी गेहूँ की है जिसे वनस्पति विज्ञान में "ट्रिटीकम ड्यूरम" कहते हैं। इस किस्म का गेहूँ देश की काली मिट्टी और दक्षिण भारत में बोया जाता है। इसके अतिरिक्त नीलगिरी पर्वत, मैसूर, आन्ध्रप्रदेश और महाराष्ट्र के सीमित क्षेत्रों में "ट्रिटीकम डिकोकम" नाम का गेहूँ बोया जाता है।

जलवायु : गेहूँ उगाने के लिये सबसे अच्छा प्रदेश गंगा-सिंधु का मैदान है, जहाँ जाड़े का मौसम ठंडा होता है और फसल के लिये 5-6 महीने मिल जाते हैं। गर्म और तर क्षेत्र गेहूँ की फसल के लिये उपयुक्त नहीं होते, यद्यपि गेहूँ की फसल समुद्र तल से 2,000 फुट की ऊँचाई पर मालवा के पठार और उत्तरी पहाड़ी इलाकों में 9,000 फुट की ऊँचाई पर भी उगाई जाती है। बालें आने पर पाले से तथा पकने के समय तूफान से फसल को बहुत हानि होती है। बारानी खेती के इलाकों में जब तेज हवायें अधिक चलती हैं तो फसल की पैदावार विशेष रूप से कम हो जाती है। इस फसल को अधिक ऊँचे तापमान की जरूरत नहीं पड़ती। हाँ, ऊँचा तापमान फसल पकने के समय को कम कर देता है। गेहूँ के क्षेत्रों में वर्षा 5 से 40 इंच तक होती है। गेहूँ के मौसम में जहाँ वर्षा कम होती है वहाँ सिंचाई करने में फसल की पैदावार बढ़ जाती है।

गंगा-सिंधु के मैदान में 30-50 प्रतिशत तक फसल की सिंचाई की जाती है। फिर भी भारत में गेहूँ की अधिकतर फसल वर्षा पर ही निर्भर रहती है। जो गेहूँ बारानी इलाकों में बोया जाता है उसका दाना सिंचाई तथा तराई वाले इलाकों दोनों के मुकाबले में अच्छा नहीं होता।

मिट्टी : गेहूँ के लिए जल-निकासयुक्त दुमट और मटियार दुमट मिट्टी सबसे अधिक उपयुक्त रहती है। जब गेहूँ को जौं, चना, या सरसों के साथ मिलाकर बोया जाता है तो इसे रेतीली दुमट में भी बोया जा सकता है। गेहूँ उगाने वाले क्षेत्रों को दो मुख्य भागों में विभाजित किया जा सकता है : (1) गंगा-सिंधु का मैदान, इसमें उत्तर प्रदेश, बिहार, पंजाब और राजस्थान सम्मिलित हैं और (2)

काली मिट्टी का इलाका, इसमें दक्षिणी राजस्थान, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर का इलाका आता है। गंगा-सिन्धु के मैदानों में रोटी वाला "वालगेयर" गेहूँ अधिकांशतः उगाया जाता है जबकि काली मिट्टी के इलाके में "ड्यूरम" किस्म के गेहूँ की प्रमुखता है।

फसल आवर्तन : पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश के सिंचित इलाकों में गेहूँ बोने के बाद वाले वर्ष में आमतौर से खरीफ की फसल में ज्वार, बाजरा, या कपास बोई जाती है। खरीफ की फसल आमतौर से अरहर या दूसरी दालों की फसलों के साथ मिलाकर बोई जाती जाती हैं। बहुत सी जगह अलसी, चना, मटर या सरसों वर्ग का गेहूँ के साथ फसल-आवर्तन किया जाता है। निचले इलाकों में या ऊँची मेंड़ के खेतों में गेहूँ से पहले अगेती धान की फसल की जाती है। इसके बाद गेहूँ जौ या चने के साथ मिलाकर बोया जाता है। उपजाऊ भूमि में गेहूँ से पहले मक्का की अगेती फसल बोयी जा सकती है। इसके बाद गन्ना बोया जाता है। अभी कुछ समय से मूंग में जल्दी पकने वाली ज़ायद-फसल के रूप में उत्तर प्रदेश में गेहूँ से पहले बोई जाने लगी है। दक्षिण भारत, मध्य भारत के काली मिट्टी वाले प्रदेश और मैसूर में असिंचित गेहूँ के बाद खरीफ में ज्वार या कपास बोई जाती हैं। अरहर तथा खरीफ की अन्य फसलें दूसरी दालों या पटसन के साथ् मिलाकर बोई जाती हैं। जल्दी पकने वाली फसलों में मूंग, प्याज, धनिया, तिल, मूंगफली या अगेती मक्का की फसलें आमतौर से मैसूर तथा दक्षिणी भारत में उगाई जाती हैं। सिंचित गेहूँ की फसल के आगे-पीछे कई सब्जियाँ उगाई जाती हैं और सिंचित रागी को, रबी-ज्वार और धान को गेहूँ की फसल के आगे-पीछे बोया जाता है।

सारे भारत में गेहूँ जौ, चना, मटर, मसूर, अलसी और कुसुम के साथ मिलाकर भी बोया जाता है। अब गेहूं के साथ मिलाकर या फसल के आगे-पीछे फलीदार फसल बोने के महत्त्व को लोग पूरी तरह समझने लगे हैं।

कृषि क्रियायें : गेहूँ की फसल के लिए अधिक भुरभुरी मिट्टी की आवश्यकता होती है। लेकिन अच्छे और समान अंकुरण के लिए क्यारी की तैयारी ठीक तरह होना जरूरी है। गर्मी के मौसम में गेहूँ के खेत की 3-4 जुताई और बरसात के मौसम में हैरो से कई बार जुताई करनी चाहिए। बोने से पहले हर जुताई के बाद तीन-चार बार पाटा चला देना चाहिए। नदियों की लायी हुई मिट्टी में गेहूं की बारानी खेती के लिए जमी और ठीक तरह से तैयार की गई क्यारियाँ अच्छी रहती हैं। इस तरह के तैयार खेत से गेहूँ की अच्छी पैदावार मिलती है। कपास की काली मिट्टी में हल के स्थान पर बखर इस्तेमाल किया जाता है। सिंचाई की सुविधा वाले इलाकों में बोने से पहले खेत की सिंचाई करते हैं, जिससे अधिक जुताई की जरूरत नहीं होती।

बुआई का काम आमतौर से मध्य अक्तूबर से मध्य नवम्बर तक चलता है। दक्षिण भारत में फसल को कभी-कभी सितम्बर में भी बोया जाता हैं जबकि पंजाब, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के निकट-वर्ती भागों में जलवायु की परिस्थितियों के अनुसार बुआई का कार्य दिसम्बर तक चलता है। पिछेती फसल बोने से पैदावार कम होती है और अनाज अच्छी किस्म का नहीं होता।

गेहूं के बीज को छिटक कर या तो हाथ से बोया जाता है, या हल के पीछे बने कूंडों में डाला जाता है। छिटक कर बीज बोने

की विधि में हल के पीछे कूंडों में बीज डाला जाता है और उसके बाद पाटा चला दिया जाता है, जिससे क्यारी की मिट्टी ढुक जाये। छिटक कर बोया हुआ बीज अपेक्षाकृत कम उगता है और पौधे अव्यवस्थित ढंग से निकलते हैं। इस विधि से बीज की अधिक मात्रा नष्ट होती है। बीजण यन्त्र की सहायता से कतारों में बुआई करने से बीज भूमि के नमी वाले हिस्से में गिरता है, जिसके कारण अंकुरण अच्छा होता है। बहुत से इलाकों में बीज को हाथ से हल के पीछे कूंडों में डाला जाता है। हाथ से बोने की विधि में डिबलर नाम के बीजण यन्त्र द्वारा समान अन्तर पर सूराख कर लिये जाते हैं, जिनमें हाथ से डालकर बीज बोया जाता है। यह तरीका उस समय प्रयोग किया जाता है जब बीज की कमी होती है। आमतौर से हल्की, शुष्क और दरदरी मिट्टी में गहरी बुआई अच्छी मानी जाती है जबकि भारी मिट्टी, जैसे मटियार, दुमट और नमी वाले क्षेत्रों में अपेक्षाकृत बीज कम गहराई पर डाला जाता है।

बुआई के लिए जो बीज इस्तेमाल किया जाता है, वह रोग और खरपतवार से मुक्त होना चाहिए। बीज को कंडवा से बचाने के लिए गर्म मौसम में पानी में 3-4 घंटे तक भिगोना चाहिए और फिर उसको तेज धूप में सुखाने के लिए फैला देना चाहिए। इसके बाद इसको साफ बोरियों में भर कर बोने के समय तक रख देना चाहिए।

मैसूर और मराठवाड़ा की काली मिट्टी के बारानी इलाकों में 40 से 120 पौंड प्रति एकड़ तक और मध्य प्रदेश के कुछ भागों में 120 पौंड से भी अधिक प्रति एकड़ बीज बोने का रिवाज है। आमतौर पर गेहूं का बीज 80 पौंड प्रति एकड़ बोया जाता है।

जिन खेतों में दीमक लगने की सम्भावना हो, फसलें जल्दी उगने वाली हो, मिट्टी में नमी कम हो, भूमि कम उपजाऊ हो, देरी से बुआई करनी हो और बीज कम कल्ले फूटने वाली किस्म का हो, वहाँ प्रति एकड़ अधिक बीज डालना पड़ता है। इसके विपरीत यदि बुआई के समय अनुकूल परिस्थिति हो तो बीज की अधिक कल्ले फूटने वाली किस्म को सिंचाई की सुविधा मिलने पर और कतारों में बुआई करने पर बीज की मात्रा कम की जा सकती है। हाथ से बोने पर 12-14 पौंड तक प्रति एकड़ बीज पर्याप्त रहता है। कतारों के बीच में आमतौर से 9-12 इंच तक का फासला रखा जाना चाहिए।

गेहूं बोने के एक महीने बाद पहली सिंचाई करनी चाहिए। बहुत हल्की मिट्टी वाले खेतों में सिंचाई कुछ पहले भी की जा सकती है। फसल में बाल आने के समय सिंचाई करना बहुत आवश्यक है। राजस्थान को छोड़कर (जहाँ 5-6 सिंचाइयाँ करनी होती हैं) शेष स्थानों पर तीन-चार बार सिंचाई करना काफी होती है। अधिक सिंचाई करने से पौधे गिर जाते हैं और घटिया किस्म का अनाज पैदा होता है साथ ही इससे मिट्टी खारी होने लगती है। बोने के डेढ़-दो महीने बाद एक बार गुड़ाई करना फसल के लिए लाभदायक पाया गया है।

बारानी इलाकों में फसल को बहुत कम खाद दी जाती है। फिर भी बोने से 6 सप्ताह पहले अच्छी तरह सड़ी-गली पाँच गाड़ी घूरे की खाद या कम्पोस्ट या खली की खाद तुल्यांक मात्रा में देना उपयोगी पाया गया है। अगर अगस्त-सितम्बर में पर्याप्त वर्षा हो जाय तो बोने के समय अमोनियम सल्फेट के रूप में नाइट्रोजन

15 से 20 पौंड प्रति एकड़ तक देने से अच्छी फसल प्राप्त होती है। सिंचाई की सुविधा वाले प्रदेशों में प्रति एकड़ 30 से 40 पौंड नाइट्रोजन और 20 से 30 पौंड फास्फोरस (P_2O_5) साथ-साथ देना उपज को बढ़ाने के लिये लाभकारी पाया गया है। इसके अतिरिक्त जिन मिट्टियों में फास्फोरस की कमी हो वहाँ उपरोक्त मात्रा के अलावा 10 गाड़ी घूरे की खाद भी दी जानी चाहिए। कुछ सिंचित इलाकों में सनई, लोबिया, ग्वार आदि को गेहूं की फसल में हरी खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। जब हरी खाद के साथ सुपरफास्फेट उर्वरक का प्रयोग किया जाता है तो अच्छी फसल होती है। जब गेहूं मक्का या गन्ने के बाद बोया जाता है तो इन फसलों में दी हुई खाद का लाभ भी गेहूं को मिल जाता है।

कटाई और उपज : जब गेहूँ के दाने खूब पक जाते हैं और बालें सुनहरे रंग की हो जाती हैं तब फसल काटी जाती है। फसल की कटाई मैसूर में मध्य जनवरी में, दक्षिण और पूर्वी बम्बई में फरवरी में, उत्तरी बम्बई, मध्य प्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश और राजस्थान में मार्च में, दिल्ली और पंजाब में अप्रैल में और उत्तर के पहाड़ों में मई या जून में शुरू की जाती है। कटाई के बाद गेहूँ को खलिहान में लाकर मवेशियों के पैरों से कुचलवाकर दांय या गहाई की जाती है। ओसाई टोकरियों द्वारा की जाती है। अब कुछ किसान गहाई और ओसाई के लिए मशीनों का इस्तेमाल भी करने लगे हैं।

गेहूँ की वर्षा-सिंचित-फसल की पैदावार मैसूर, दक्षिण और पूर्वी महाराष्ट्र में लगभग 400 पौंड प्रति एकड़ तक और मध्य प्रदेश,

बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश और पंजाब में लगभग 600-700 पौंड प्रति एकड़ तक होती है। दक्षिण भारत और सिन्धु गंगा के मैदान में जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त हैं उपज क्रमश: 900 और 1,250 पौंड प्रति एकड़ तक होती है। खाद और जुताई-गुड़ाई की अनुकूल स्थितियों के सिंचित इलाकों में गेहूं से एक टन प्रति एकड़ से भी अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। बारानी फसल में अनाज के दानों और भूसे की मात्रा करीब-करीब एक सी ही होती है। परन्तु सिंचित फसल में अनाज की मात्रा भूसे से ड्योढ़ी से दुगुनी तक होती है।

भंडारण : भंडारण से पहले गेहूं को खूब सुखा लिया जाना चाहिए। जिन भंडारों में गेहूँ रखा जाय उनमें सीलन या नमी नहीं होनी चाहिए और कीट आदि से बचाने के लिए इनको पहले धुँआ भी दे देना चाहिए।

किस्में : अधिक उपज के लिए, रोगरोधी जलवायु के अनुकूल उन्नत किस्मों का प्रयोग करना आवश्यक है, विभिन्न राज्यों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की जिन किस्मों की सिफारिश की गई है, वे आगे 158 से 164 पृष्ठों की सारणी में दी गई हैं। इस सारणी में पंजाब, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र और उड़ीसा राज्यों में उगाने वाली किस्मों का विवरण दिया गया है और इन क्षेत्रों में उगाने के लिये उनके विशेष गुणों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है।

गेहूं की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्में	विशेष गुण
पंजाब	सी-591	सिंचित परिस्थितियों में समय पर बोने के लिए उपयुक्त, अधिक उपज, बढ़िया अन्न
	सी-518	नगिरने वाली, अधिक उपज, अधिक खाद और सिंचित खेतों के लिए अति उत्तम, रतुआ लगने की सम्भावना।
	सी-217	सूखा रोधी, वर्षा पर निर्भर रहने वाले क्षेत्रों के लिए उपयुक्त, काली रतुआ रोधी।
	सी-228	मोटा दाना, चपाती बनाने के लिए उत्तम, शीघ्र पकने वाली, पिछेती बोने के लिए उपयुक्त, (पीले) रतुआ रोधी।
	सी-250	(पीले) रतुआ और कंडुआ रोधी, नम क्षेत्रों के लिए उपयुक्त।

राज्य	किस्में	विशेष गुण
पंजाब	सी-253	गाहने में आसान, पीला रतुश्रा श्रौर कंडुश्रा रोधी, कांगड़ा घाटी की पहाड़ियों के लिए उपयुक्त।
	सी-281	शीघ्र पकने वाली, श्रधिक उपज, मोटा श्रम्बर-दाना, चपाती बनाने में लिए उत्तम, हरियाना क्षेत्रों के लिए श्रति उत्तम।
	सी-285	(काला) रतुश्रा रोधक, लाहौल घाटी के लिए उत्तम।
	9-डी	श्रसिंचित (बारानी) खेती के लिए उपयुक्त।
	सी-288	बढ़िया दाना, सिंचित परिस्थितियों के श्रन्तर्गत पिछेती बोये जाने के लिए उपयुक्त।
	एन० पी० 770	पीला रतुश्रा श्रौर कंडुश्रा रोधी, श्रधिक ऊँचाई वाले क्षेत्रों के लिए उपयुक्त।
	,, ,, 718	रतुआ व कंडुश्रा रोधी, शीघ्र पकने वाली।

राज्य	किस्में	विशेष गुण
	रिडले	काली रतुश्रा रोधी, मध्यम ऊँचाई वाले क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
दिल्ली,	एन० पी० 718	
हिमाचल प्रदेश	एन० पी० 770	
	रिडले	
	एन० पी० 809	
राजस्थान	एन० पी० 718	रतुआ को सहने वाली, छिदरा कंडवा रोधी ।
	एन० पी० 758	
उत्तर प्रदेश	एन० पी० 710	श्रच्छा दाना, रतुश्रा को सहने वाली । छिदरे कंडवा के लिए श्रधिक रोधी ।
	एन० पी० 770	
	एन० पी० 809	
	रिडले	

राज्य	किस्में	विशेष गुण
	एन० पी० 125	मोटा भूसा और अधिक उपज वाली।
	सी 591	पश्चिमी जिलों के लिए उत्तम।
बिहार	एन० पी० 710	दक्षिणी बिहार के लिए उत्तम।
	एन० पी० 758	उत्तरी बिहार के लिए उत्तम।
	एन० पी० 761	काले रतुआ छिदरे कंडुआ के लिए अधिक रोधी, बहुत शीघ्र पकने वाली, उत्तरी बिहार के लिए उत्तम।
	एन० पी० 52	रतुआ रोधी।
	बी० आर० 319	शीघ्र पकने वाली।
पश्चिमी बंगाल	एन० पी० 710	
	एन० पी० 52	
मध्य प्रदेश	एन० पी० 710	
	एन० पी० 718	
	एन० पी० 52	

राज्य	किस्में	विशेष गुण
	संकर 65	काला रतुआ रोधी ।
	संकर 11	,, ,,
	एन० पी० 710	मराठवाड़ा, गुजरात और सौराष्ट्र के लिए उपयुक्त ।
	एन० पी० 715	रतुआ, छिदरे कंडुआ रोधी, सौराष्ट्र के लिए उत्तम ।
	केनफद	
महाराष्ट्र	पीली 25	
	पीली 28	काला रतुआ रोधी ।
	लाल 34	
	निफद 4	अच्छे दानों वाली ।
	जय विजय	ड्यूरम वर्ग की किस्म, सूखे स्थानों के लिये उत्तम ।
उड़ीसा	एन० पी० 737	काला रतुआ और भूरा रतुआ रोधी ।
	एन० पी० 761	
	एन० पी० 718	

गेहूं की कुछ स्थानीय किस्मों की विशेषतायें

व्यापारी नाम	वनस्पति शास्त्रीय नाम	राज्य	दाने के गुण
शरबती	टी० वलगेयर	पंजाब, उत्तर प्रदेश और बिहार	कुछ कठोर, अम्बर रंग का, छोटे से मध्य आकार का।
दारा	टी० वलगेयर	पंजाब और उत्तर प्रदेश	सफेद और लाल दानों का मिश्रण।
पिस्सी, दुधिआ	टी० वलगेयर	बम्बई, मध्यप्रदेश, बिहार, प. बंगाल और पंजाब	मुलायम सफेद दाने।
लाल कनक	टी० वलगेयर		कुछ सख्त लाल दाने
देसी, लाल, लाल पिस्सी, वाजी या बजिया	टा० वलगेयर	उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और बम्बई	मुलायम, लाल रंग के।

व्यापारी नाम	वनस्पति शास्त्रीय नाम	राज्य	दाने के गुण
बंसी या बक्शी, जलालिया, मालवी, पिवला या पिलवा	टी.ड्यूरम	बम्बई, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश	सफेद या अम्बर दाने।
कठिआ या कठा, बीजापुर या कैम्प गोडी		मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश राजस्थान और बम्बई	लाल दाना।
खपली या जोड़		बम्बई और मद्रास में नीलगिरी की पहाड़ियों पर	सख्त, लम्बा, पतला और कुछ लाल दाना।

जौ (*Hordeum vulgare* Linn.)

जौ उत्तर भारत के निर्धनवर्गीय लोगों का भोजन है। इसको भूनकर सत्तू बनाया जाता है और आटे के कारखाने वाले भी इसे पीसकर गेहूँ के आटे में मिलावट करते हैं। यह रातब के रूप में पशु और घोड़ों को खिलाया जाता है। इसके दानों को अंकुरित करके माल्टित शराब बनाने के काम लाया जाता है। इसको फफदा कर बियर, ह्विस्की तथा "पर्ल बारली" नाम की शराब भी खींची जाती है।

भारत में लगभग 82 लाख एकड़ भूमि पर प्रति वर्ष इसकी खेती की जाती है जिससे लगभग 26 लाख टन प्रति वर्ष जौ प्राप्त होता है। देश में जौ उगाने वाले क्षेत्रफल का 73 प्रतिशत राजस्थान और उत्तर प्रदेश में स्थित है जिससे देश में जौ की कुल वार्षिक उपज का 80 प्रतिशत प्राप्त होता है। आमतौर पर जौ की सींकुरदार किस्में उगाई जाती हैं।

जलवायु : जौ में अपने को भूमि और जलवायु की स्थिति के अनुकूल बनाने की व्यापक क्षमता होती है। उष्ण कटिबन्ध से लेकर ध्रुव प्रदेश की सीमाओं तक और समुद्रतल से लेकर बहुत अधिक ऊंचाई तक इसकी खेती की जाती है। गेहूं की तरह इसकी फसल उन क्षेत्रों में सबसे अच्छी होती है जहां अधिक जाड़ा पड़ता है। फसल की पकने की अवधि 5 महीने से अधिक नहीं होती। जौ के लिये गेहूं और जई की तुलना में कम पानी की जरूरत पड़ती है। लेकिन गर्म हवायें इसके अधपके दाने को जल्दी सुखा देती हैं और अधिक नमी के कारण भी फसल के पकने में रुकावट होती है। इन दोनों स्थितियों से जौ के फफदने या सड़ने वाले गुणों पर उल्टा प्रभाव पड़ता है। कटाई के समय यदि वर्षा हो जाय तो दानों का रंग भद्दा हो जाता है।

मिट्टी : आमतौर से जौ हल्की मिट्टी में उगाया जाता है। मध्यम दर्जे की उर्वरा दुमट मिट्टी, जिसमें अच्छा जल निकास हो, इस के लिये अच्छी रहती है। गेहूं की तुलना में इसके लिये अधिक पोली और भुरभुरी मिट्टी की जरूरत पड़ती है। स्मरण रहे कि जौ एक क्षार-सह्य फसल भी है।

फसल आवर्तन : जौ के लिये फसलों का हेर-फेर ठीक गेहूं की तरह ही होता है। जौ की फसल का अधिक उत्पादन उस समय होता है जब खरीफ में परती पड़ी हुई भूमि में जौ बोया जाता है। यह कभी अकेला बोया जाता है और कभी गेहूं, चना, मटर या मसूर के साथ बोया जाता है। कभी-कभी सरसों, तारामीरा और अलसी के साथ भी बोया जाता है।

खेती : जौ के बोने का अनुकूलतम समय मध्य अक्तूबर से नवम्बर के मध्य तक पाया गया है। पंजाब में बारानी फसल कभी-कभी दिसम्बर के अन्त तक भी बोई जाती है। पिछेती फसल में दाना हल्का होता है।

जौ की खेती में गेहूँ जितनी जुताई करने की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन अच्छी तरह से तैयार की गई और खरपतवार रहित भूमि से अच्छी उपज ली जा सकती है। आमतौर से 3-4 जुताइयां देशी हल से और एक जुताई मिट्टी पलटने वाले हल से की जाती है। जौ बोने के लिए गेहूँ की अपेक्षा कम भुरभुरी मिट्टी की जरूरत होती है।

बारानी खेती में कभी-कभी ही खाद देते हैं, बल्कि पिछली फसल में दिया हुआ खाद इसके काम आ जाता है। सिंचाई वाले क्षेत्रों में जौ की फसल में बोने से पहले 8-10 गाड़ी घूरे या कम्पोस्ट की

खाद दी जाती है। कमजोर जमीन में अमोनियम सल्फेट या खली के रूप में 20-25 पौंड नाइट्रोजन देने से जौ की अच्छी पैदावार होती है। अधिक नाइट्रोजन देने से जौ के दाने की किस्म पर बुरा प्रभाव पड़ता है। सुपरफास्फेट इस हानिकारक प्रभाव को दूर करने में सहायक होता है।

इसके बीज या तो छिटक कर या पोरा की सहायता से बोये जाते हैं या हल के पीछे कम गहरी कूंड़ों में डाले जाते हैं। कूंडों की कतारों के बीच में 9 इंच का फासला रखा जाता है।

बीज की मात्रा पंजाब में 50-60 पौंड, उत्तर प्रदेश और बिहार में 70-90 पौंड और पश्चिमी बंगाल, मध्य प्रदेश तथा बम्बई में 80-100 पौंड प्रति एकड़ रखी जाती है। अगर अच्छी किस्म का नीरोग बीज मिल सके तो बीज की कुछ कम मात्रा से भी काम चल सकता है।

जौ ऐसे बारानी क्षेत्रों में भी उगाया जाता है जहाँ पर वर्षा 15-20 इंच प्रति वर्ष तक होती है। जहाँ कम वर्षा होती है वहाँ जौ उगाने के लिए बुआई के बाद दो-तीन सिंचाइयों की जरूरत होती है। दक्षिण भारत में लगभग हर दस दिन के बाद सिंचाई की जरूरत पड़ती है। आमतौर से जौ के लिए गेहूँ की अपेक्षा कम पानी की आवश्यकता होती है।

जौ में आमतौर से निराई की जरूरत नहीं होती, यदि किसी खेत में खरपतवार अत्यधिक मात्रा में हो तो एक बार निराई करना लाभदायक होता है।

कटाई, गहाई और भंडारण : पंजाब, राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में मार्च के तीसरे सप्ताह से लेकर मध्य प्रदेश तक जौ की कटाई चलती है। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में कटाई एक सप्ताह पहले शुरू हो जाती है। महाराष्ट्र और मध्य प्रदेश में फरवरी के मध्य में कटाई शुरू की जाती है। जौ की कटाई गेहूँ की तरह ही की जाती है। दानों को बिखेरने से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि कटाई प्रातःकाल ही की जाय। कटाई के बाद फसल के सूख जाने पर बैलों की दांय चलाकर गहाई की जाती है। गहाई के बाद हवा के रुख पर फसल को बरसा कर दाना और भूसा अलग कर लेते हैं।

जब जौ की बारानी खेती की जाती है तब औसतन पैदावार 600-700 पौंड प्रति एकड़ तक होती है और जब सिंचाई की सुविधा होती है तब फसल की उपज लगभग दूनी हो जाती है।

कोठार में भरने से पहले दाने को अच्छी तरह सुखा लेना चाहिए और सुखा कर ऐसी जगह रखना चाहिए जहाँ नमी के पहुँचने की कोई गुंजायश न हो।

वर्गीकरण तथा हाट व्यवस्था : अभी तक जौ का वर्गीकरण किस्म के आधार पर नहीं हो सका है क्योंकि इसकी कोई प्रतिमानित किस्म बाजार में प्रचलित नहीं है। बड़े दाने का ऐसा जौ जिसमें कुछ मिलावट न हो लोगों के खाने के काम आता है और बाजार में उसको काफी लाभ के साथ बेचा जा सकता है। पूरी तरह पके हुए औसत आकार के चमकदार सुनहरे रंग के साफ दाने, जिनमें 1.2-1.4 प्रतिशत तक सूखे बोझ पर नाइट्रोजन उपस्थित हो, विशेष रूप से माल्ट बनाने के लिए उपयुक्त पाये गये हैं। "पर्ल बारली"

बनाने के लिए चमकदार रंग के समान आकार के दाने इस्तेमाल किए जाते हैं।

किस्में : जौ की खेती के लिये उचित किस्म के बीज का चुनाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अच्छी किस्म के बीज अच्छी पैदावार तो देते ही हैं, साथ ही दानों में जिन विशेष गुणों की आवश्यकता होती है उनको भी यह पूरा करते हैं। जौ की जिन किस्मों की अलग-अलग क्षेत्रों में बोने की सिफारिश की गई है उनमें से कुछ पृष्ठ 170 की **सारणी** में दी जा रही हैं।

जई (*Avena sativa* Linn.)

जई एक मामूली महत्व की फसल है। यह फसल मुख्यतः चारे के लिए उगाई जाती है। लेकिन अब कुछ इलाकों में अनाज के लिए भी यह फसल उगाई जाने लगी है। इसका चारा घोड़ों और दुधारू पशुओं के लिए लाभदायक होता है। लोग जई का दलिया भी बड़े चाव से खाते हैं।

जलवायु और मिट्टी : जई को उगाने के लिए ठंडे मौसम की जरूरत होती है। अभी इसकी खेती प्रमुख रूप से पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं बंगाल, मध्य प्रदेश और बम्बई में भी इसकी खेती की जाती है।

जई हर किस्म की मिट्टी में उगायी जा सकती है। लेकिन भुरभुरी दुमट मिट्टी इसके लिए सबसे अच्छी होती है बशर्ते कि पानी के निकास की व्यवस्था ठीक हो।

कृषि क्रियायें : जई केवल रबी के मौसम में उगाई जाती है। बहुत सी जगह लोग इसको सिंचित फसल के रूप में उगाते हैं। वर्षा

जौ की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
पंजाब	टी 4	बारानी परिस्थिति के लिए उपयुक्त ।
	टी 5	सिंचित क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
उत्तर प्रदेश	सी 251	शीघ्र पकने वाली, पहाड़ी क्षेत्रों को छोड़ कर सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश के लिए उपयुक्त ।
	एन० पी० 21	मध्यम अगेती, पश्चिमी जिलों श्रौर बुन्देलखण्ड के अलावा श्रन्य क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
	सी 84	शीघ्र पकने वाली, पहाड़ी जिलों के लिए उपयुक्त । मथुरा श्रौर हमीरपुर के लिए भी उपयुक्त ।
	सी 50	बरेली जिले के लिए उपयुक्त ।
	सी० एन० 292	छिलका रहित जौ, भांसी. मेरठ श्रौर बुन्देलखण्ड के क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
	सी० एन० 294	
राजस्थान	एन० पी० 13	मध्यम श्रगेती श्रौर बहुत उपज वाली ।
दिल्ली	एन० पी० 21	श्रधिक उपज वाली, उत्तरी बिहार के लिए उपयुक्त
बिहार	बी० श्रार० 22	श्रधिक उपज वाली ।

की समाप्ति पर सितम्बर या अक्तूबर में तीन चार जुताई देशी हल या हैरो से की जाती है। गहरी जड़ों वाली फसल के बाद जई बोना अपेक्षाकृत उपयोगी होता है। आमतौर से इसको अकेला ही बोया जाता है। लेकिन उत्तरी गुजरात में जई के साथ तारामीरा को भी गौंण फसल के रूप में बो दिया जाता है। जब अनाज के लिए फसल बोयी जाती है तो जई से पहिले बोई गई फसल में खाद देनी चाहिए। इससे पौधों का गिरना रुक जाता है। जब चारे के लिए फसल को उगाया जाये तो 35-40 पौंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ के हिसाब से अमोनियम सल्फेट या खली की खाद देनी चाहिए।

इसकी बुआई का समय अक्तूबर से दिसम्बर तक चलता है। चारे के लिए फसल को छिटकवां विधि से बोया जाता है किन्तु जब दाने के लिए फसल लेनी हो तो इसको 9″-12″ के फासले पर कतारों में बोना चाहिए। बीज की मात्रा 60-80 पौंड प्रति एकड़ उचित पाई गई है। कमजोर मिट्टियों में जई उगाने के लिए बीज की अधिक मात्रा डालनी पड़ती है। जई के लिए 3-4 सिंचाइयों की जरूरत होती है। इसमें कोई निराई-गुड़ाई नहीं की जाती।

कटाई, गहाई और उपज : जई की फसल $3\frac{1}{2}$-4 महीने में पक कर तैयार हो जाता है। जब इसको चारे के लिये उगाया जाता है तो जनवरी से मार्च तक तीन कटाई की जाती हैं और उसके बाद बीज प्राप्त करने के लिएँ फसल की कटाई बन्द कर दी जाती है। इसका दाना अप्रैल में पकता है। पौधों के पूरी तरह सूखने से पहिले ही फसल काट ली जाती है। इससे दाने नीचे झड़कर खराब नहीं होते। इसकी गहाई गेहूँ और जौ की तरह ही की जाती है। सामान्यतः इस फसल से प्रति एकड़ 200-300 मन हरा चारा और 4-5 मन दाना प्राप्त हो जाता

है। जब इसकी फसल केवल दाने के लिए ही की जाती है तो प्रति एकड़ 30 मन तक अनाज और 25-30 मन भूसा प्राप्त होता है।

किस्में : दाने के लिए एन० पी० 1 और एन० पी० 2 किस्मों को बोने की सिफारिश की जाती है। उपज अच्छी देने के साथ-साथ इन किस्मों में सूखा सहन करने की भी क्षमता होती है। एन० पी० संकर 1 और एन० पी० 3 अधिक उपज देने वाली किस्में हैं तथा इनमें कंडुवा को भी सहन करने की क्षमता है। एन० पी० संकर एक्स-27 किस्म अच्छे दानों के लिए प्रसिद्ध है और इसका प्रयोग जलपान के लिए विभिन्न प्रकार के पदार्थ बनाने के लिए किया जाता है। पंजाब में चारे के लिए वैस्टन द्वितीय और ब्रंकर 10 किस्मों की सिफारिश की जाती है।

मोटे अनाज

मक्का (*Zea mays* Linn.)

17वीं शताब्दी के आरम्भ में मक्का अमेरिका से भारत में लाई गई थी। अब धान, गेहूं, ज्वार, बाजरा के बाद खाद्यान्न फसलों में इसका ही प्रमुख स्थान है। यों तो मक्का को सम्पूर्ण देश में ही खाया जाता है, लेकिन उत्तरी भारत के पर्वतीय और उपपर्वतीय प्रदेशों के लोगों का यह मुख्य आहार है। इसकी फसल चारे के लिए भी उगाई जाती है। इसका चारा मीठा, रसीला और रसदार तथा हरे चारे की दृष्टि से पूर्णतया उपयुक्त होता है। इससे प्राप्त माँड (स्टार्च) अनेक उद्योगों में काम आता है।

देश भर में 95 लाख एकड़ भूमि पर इसकी खेती की जाती है जिससे लगभग 29 लाख टन मक्का प्रति वर्ष पैदा होती है।

मिट्टी : मक्का विशेष रूप से उपजाऊ भूमि की फसल है। यह अधिक उपजाऊ जल निकास युक्त दुमट मिट्टी में जो न अधिक हल्की हो न भारी हो, सबसे अच्छी पैदा होती है। जलोढ़ दुमट और लाल दुमट मिट्टियाँ, जिनमें कंकड़-पत्थर न हों, मक्का के लिए बहुत अच्छी रहती हैं। हिमालय पर्वत के निचले भागों में मक्का पथरीली भूमि के सीढ़ीदार खेतों में उगाई जाती है।

जलवायु : धान के बाद मक्का ही एक ऐसी फसल है जो अपने को जलवायु और मिट्टी के अनुकूल बना सकती है। शीत प्रदेशों के अतिरिक्त यह फसल गर्म प्रदेशों में भी उगाई जाती है। समुद्रतल से लेकर 6,000 फुट तक और इससे भी अधिक की ऊँचाइयों पर इसकी खेती की जा सकती है। वास्तव में यह गर्म मौसम की फसल है पर समासम जलवायु वाले क्षेत्रों में यह पूरे वर्ष उगाई जा सकती है। पाले से इस फसल को हानि होती है। मक्का के पौधों को अंकुरित दशा में अधिक नमी की जरूरत होती है। उन इलाकों में, जहाँ वर्षा 30 इंच या इससे ऊपर होती है, मक्का बिना सिंचाई के भी उगाई जा सकती है। गर्मी के मौसम में उगाई जाने वाली मक्का की फसल को सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है।

फसल आवर्तन : मक्का का आमतौर से गेहूं, जौ, कपास या गन्ने के साथ फसल आवर्तन किया जाता है, बहुत से इलाकों में चना, मसूर, सेंजी, सरसों, कुसुम और गेहूं को मक्का की फसल के बाद उसी वर्ष में बोया जाता है। पर्वतीय इलाकों में मक्का के बाद आलू उगाया जाता है। आमतौर से मक्का की फसल अकेली उगाई जाती है। लेकिन कहीं-कहीं इसके साथ सेम और दूसरी जल्दी उगने वाली तरकारियाँ सहायक फसल के रूप में उगाई जाती है। मालवा

के कुछ क्षेत्रों में कपास और मक्का को मिश्रित फसल के रूप में उगाया जाता है।

कृषि क्रियायें : मक्का की फसल के लिए अधिक जुताई और अच्छी तरह तैयार किये गए खेत की जरूरत होती है। रबी की फसल की कटाई के तुरन्त बाद देशी हल से 4-6 जुताई या मिट्टी पलटने वाले हल से दो जुताई की जाती हैं। हर जुलाई के बाद पाटा लगाया जाता है। बुआई के समय मिट्टी को भली प्रकार तैयार करके भुरभुरी कर लेते हैं और मिट्टी में से खरपतवार निकाल दी जाती है।

मक्का को अधिक खाद की आवश्यकता होती है। आमतौर से खेत में प्रति एकड़ 10-15 गाड़ी गोबर की खाद या कम्पोस्ट डाली जाती है। मक्का के लिए प्रति एकड़ 50 पौंड नाइट्रोजन अनुकूलतम पायी गई है। जब पौधे एक फुट के हो जायें तब उन पर मिट्टी चढ़ाते समय 100-150 पौंड अमोनियम सल्फेट को मिट्टी में मिलाकर खड़ी फसल देना उपयोगी रहता है। जैविक खाद की कमी होने पर अमोनियम सल्फेट और ट्रिपिल सुपरफास्फेट को बराबर-बराबर मात्रा में मिलाकर बोने के समय प्रति एकड़ 300-500 पौंड के हिसाब से देने पर फसल अच्छी होती है।

वर्षा पर निर्भर रहने वाली फसल को जून-जुलाई में मानसून के शुरू होते ही बोया जाता है। पंजाब के नहरी इलाकों में, पहाड़ों में और मैसूर के कुछ हिस्सों में फसल को अप्रैल-मई में ही बो दिया जाता है। मक्का को पिछेती फसल के रूप में अगस्त तक और दक्षिण भारत के कुछ भागों में सितम्बर-अक्तूबर तक बोते हैं। चारे और भुट्टों के लिए फसल को मार्च-अप्रैल में ही बोया जाता है। उत्तरी भारत में दाने की असिंचित और चारे की सिंचित

फसल को छिटक कर बोया जाता है जबकि दाने की सिंचित फसल को कतारों में हल के पीछे या हाथ से बोया जाता है। देश के शेष भागों में बारानी और सिंचित फसलों में हल के पीछे या बीज-ड्रिल की मदद से मक्का को कतारों में बोते हैं। दाने की फसलों को 18-24 इंच की दूरी पर कतारों में और प्रत्येक कतार में पौधों को 10-15 इंच के अन्तर से बोया जाता है। चारे की फसलों को ग्रामतौर से 12 इंच के फासले पर कतारों में बोया जाता है। दाने की फसल के लिए 10-15 पौंड प्रति एकड़ और चारे के लिए 30-40 पौंड प्रति एकड़ बीज की ग्रावश्यकता होती है।

जहाँ वर्षा काफी होती है वहाँ सिंचाई की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु जहाँ वर्षा ग्रच्छी नहीं होती वहाँ 10-15 दिन के अन्तर पर फसल को सींचने की आवश्यकता पड़ती है। पहली सिंचाई जितनी देर में की जा सके, की जानी चाहिए परन्तु पकते समय फसल की कम सिंचाई करनी चाहिए।

अंकुरण के बाद शुरू में फसल धीरे-धीरे बढ़ती है। इसलिए उस समय सावधानी से निराई करके खरपतवार निकालने की जरूरत होती है। एक या दो बार हाथ से निराई करने के बाद दो-तीन बार बैलों की मदद से "हो" या कल्टीवेटर या देशी हल से गुड़ाई करना ग्रामतौर से पर्याप्त होता है। पौधों के 8-10 सप्ताह बड़े हो जाने पर ग्रन्तिम गुड़ाई करनी चाहिए ग्रौर पौधों पर मिट्टी चढ़ाई जानी चाहिए। चारे की फसल को कम निराई-गुड़ाई की जरूरत होती है क्योंकि पौधे जल्दी ही भूमि को ढक लेते हैं।

कटाई : ग्रनाज के लिए फसल पूरी तरह पकने पर ही काटी जाती है। पूरा पकने पर भुट्टे पीले पड़ जाते हैं ग्रौर भुट्टे

का छिलका भूरा तथा कड़ा हो जाता है। भुट्टों को खड़े पौधों से से ही काट कर अलग कर लिया जाता है और तब धूप में सुखा दिया जाता है। फिर लकड़ी के डंडों से पीटकर दानों को अलग कर लिया जाता है। बुवाई के लिए स्वस्थ उगे हुए पौधों से अच्छी तरह भरे हुए दानों के भुट्टे अलग छांट लिए जाते हैं। उनको भुट्टों के रूप में ही भंडारित कर लिया जाता है और बोने से पहले हाथ से छीलकर दानों को अलग कर लेते हैं। बड़े शहरों में कच्चे भुट्टे भून कर खाये जाते हैं। जो फसल मुख्य रूप से चारे के लिए बोई जाती है वह उस समय काटी जाती है जब भुट्टों में झब्बे या सूत दिखाई देने लगते हैं। उपजाऊ भूमि में चारे की फसल को उस समय काटा जाता है जब भुट्टों में दाने पड़ने शुरू हो जाते हैं।

असिंचित फसल से मिट्टी और मौसम के अनुसार अनाज की उपज 600-700 पौंड प्रति एकड़ प्राप्त होती है। उपजाऊ भूमि में 1,000-1,200 पौंड तक उपज प्राप्त की जा सकती है। सिंचित फसल की औसतन उपज 1,500-1,600 पौंड प्रति एकड़ होती है अगर पर्याप्त खाद दी जाए और पौधों की खूब देखभाल की जाय तो मक्का की पैदावार 2,500 पौंड प्रति एकड़ तक प्राप्त की जा सकती है।

किस्में : मक्का की किस्मों का वर्गीकरण आमतौर पर नर्म या सख्त मांड (स्टार्च) और उसके दानों की मिठास के आधार पर किया जाता है। भारत में अधिकतर फ्लिन्ट किस्म की मक्की उगाई जाती है। परन्तु डैन्ट किस्म की मक्का भी राजस्थान के कुछ इलाकों में और पहाड़ों में बोई जाती है। मीठी मक्का कश्मीर और कुल्लू की घाटियों के कुछ ही क्षेत्रों में पैदा की जाती है।
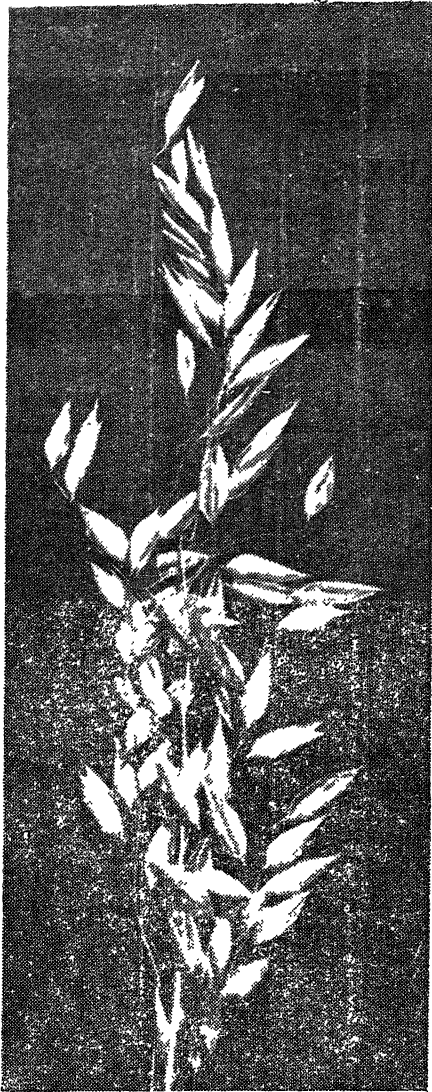
जई की उन्नत किस्म
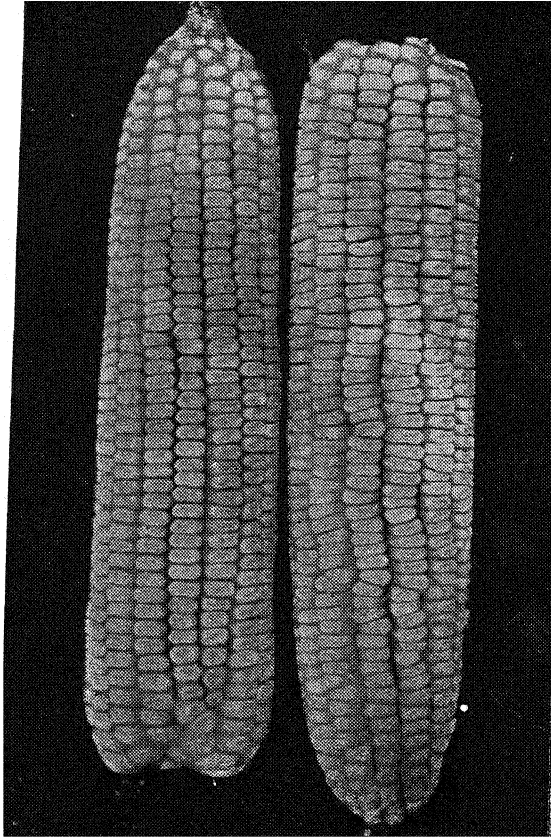
संकर मक्का के भुट्टे बड़े और भरे हुए होते हैं

मक्का की सैकड़ों किस्में हैं, जिनका विभाजन दानों के रंग, पौधों की ऊँचाई, फसल की अवधि आदि के आधार पर किया गया है। मैदानों में ज्यादातर लाल या पीले दानों वाली मक्का पैदा की जाती है और पहाड़ों में सफेद दानो वाली। मुख्य रूप से संकर-परागण होने के कारण इन किस्मों को उत्तम, मध्यम और सामान्य श्रेणी में रखा जा सकता है।

संकर मक्का : गैर वर्गीकृत मक्का की अपेक्षा संकर बीज के इस्तेमाल से कहीं अधिक उपज हो सकती है। संयुक्त राज्य अमरीका के जितने क्षेत्र में मक्का बोई जाती है उसका 98 प्रतिशत भाग ऐसा है जहाँ संकर मक्का बोई जाती है। भारत में भी कई इलाके ऐसे हैं जहाँ फ्लिन्ट किस्म की मक्का के अधिक उपज देने वाले संकर बीजों को इस्तेमाल किया जा रहा है। बढ़िया फसल के लिए संकर बीज या तो पैदा किया जाता है या हर साल नया मोल लिया जाता है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् ने बीज निगम बनाया है जिनके अन्तर्गत संकर मक्का के बीजों को बड़े पैमाने पर पैदा किया जा रहा है।

भारतीय कृषि अनुसंधान शाला में मौलिक अनुसंधान और आयातित किस्मों की उपज परीक्षण के अतिरिक्त और भी योजनाएं जारी हैं। इस दिशा में किए हुए आगामी अनुसंधानों द्वारा संकर मक्का की चार जातियां तैयार की गयीं। ये हैं—गंगा संकर मक्का 1, गंगा संकर मक्का 101, रणजीत संकर मक्का और दखन संकर मक्का। इन चार जातियों की पैदावार पृष्ठ 179 की सारणी में दी गयी है।

गंगा 1 : यह संकर मक्का जल्दी होने वाली गंगा-सिन्धु के मैदान, हिमाचल की तलहटियों, गुजरात के कुछ भाग और महा-

राष्ट्र और मैसूर के लिए अच्छी है। इसके पकने का समय 80 से 90 दिन है। इसका दाना पीले रंग का, सख्त मांड वाला और गोल होता है। इस किस्म में साधारणतः हरेक पौधे पर दो भुट्टे लगते हैं और भुट्टे को ढकने वाले पत्ते काफी कसे हुए होते हैं।

गंगा 101 : जरा देर से होने वाली यह संकर मक्का की किस्म गंगा-सिंधु के मैदानों के लिए उपयुक्त है। यह 95 से 105 दिनों के बीच पकती है। इसका दाना आकर्षक, नारंगी-पीले रंग का, मोटा और गोल होता है और उसमें सख्त मांड काफी मात्रा में रहता है। यह किस्म भी मक्का को लगने वाले कई रोगों और कीड़ों का अवरोध करती है।

रणजीत : यह संकर मक्का की काफी देर से होने वाली किस्म दक्षिणी राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र के लिए उपयुक्त है। इसके पकने का समय 100 से 110 दिन का है। इस किस्म में साधारणतः दो भुट्टे प्रति पौधे पर आते हैं और भुट्टे को ढकने वाले पत्ते काफी कसे होते हैं। यह किस्म भी मक्का को लगने वाले रोगों और कीड़ों का काफी अवरोध करती है। इसके दाने नारंगी-पीले, मोटे, गोल और कठोर होते हैं। इसका भी चारा काटते समय हरा रहता है।

दक्खन : यह संकर मक्का दक्षिणी पठारों के योग्य है। इसके पकने का समय 100 से 110 दिन का है। इस किस्म में भी प्रति पौधे दो भुट्टे और भुट्टे की ढकने वाले पत्ते कसे हुए होते हैं। यह किस्म भी रोगी और कीड़ों का काफी अवरोध करती है। इसका दाना मोटा, कठोर और आकर्षक पीले रंग का होता है।

संकर मक्का की तुलनात्मक पैदावार

जाति	औसतन प्रति एकड़ पैदावार मन में	स्थानीय किस्मों की तुलना में मिली हुई ज्यादा पैदावार	स्थानीय किस्मों की तुलना में चारे की ज्यादा पैदावार
गंगा 1	34·9	17-76 प्रतिशत	32-200 प्रतिशत
गंगा 101	40·0	22-152 प्रतिशत	65-400 प्रतिशत
रणजीत	39·5	22-150 प्रतिशत	43-428 प्रतिशत
दक्खन	41·9	23-145 प्रतिशत	58-383 प्रतिशत

ज्वार (*Sorghum vulgare* Pers)

भारत की खाद्य फसलों में धान के बाद ज्वार का स्थान है। ज्वार दक्षिणी भारत और मध्य क्षेत्र के सूखे इलाकों के निर्धन वर्ग के लोगों का मुख्य आहार है। इसके दानों को चावल की तरह पकाया जाता है। इसका आटा भी पीसा जाता है। इसकी रोटी गेहूं की रोटी की अपेक्षा कुछ घटिया किस्म की होती है। इसके दाने भूनकर खाने में बहुत अच्छे लगते हैं। ज्वार को विशेष रूप से तैयार करके, बच्चों और रोगियों के लिए पौष्टिक खाद्य तैयार किया जाता है। इसके हरे और सूखे पौधों से पशुओं के लिए पौष्टिक चारा प्राप्त होता है।

भारत में ज्वार की लगभग 4·2 करोड़ एकड़ भूमि पर खेती की जाती है, जिससे लगभग 84 लाख टन उपज प्रतिवर्ष प्राप्त होती है।

जलवायु : ज्वार के लिए सामान्य वर्षों के इलाके सबसे अधिक उपयुक्त रहते हैं। इस फसल के लिए कटाई से बुवाई तक कम से कम 13 इंच और अधिक से अधिक 40 इंच वर्षा उपयुक्त होती है। अधिक नमी और अधिक सूखा दोनों ही फसल के लिए हानिकारक हैं। आमतौर से फसल के मौसम में औसतन तापमान 80°-91° फै० तक ठीक रहता है। लेकिन कुछ किस्में उन क्षेत्रों में भी, जहाँ का तापमान 105° फै० होता है, खूब फलती-फूलती हैं। जाड़ों वाली फसल के लिए कम से कम तापमान 60° फै० तो होना ही चाहिए। यह फसल मैदानों में अच्छी होती है लेकिन फिर भी 3,000 फुट की ऊँचाई तक उगाई जा सकती है।

यह प्रायः खरीफ की बारानी फसल के रूप में जून से अक्तूबर या नवम्बर तक उगायी जाती है। यह फसल रबी के मौसम में भी (अक्तूबर से फरवरी-मार्च तक) कुछ इलाकों में उगाई जाती है। दक्षिणी गुजरात की गहरी काली मिट्टी में जो नमी को अपने में संचित रखती हैं, आन्ध्र, मैसूर और मद्रास के उन क्षेत्रों में जहां बरसात के मौसम के आखिर में वर्षा होती है, यह वहां रबी की फसल के रूप में उगाई जाती है। कई इलाकों में ज्वार सिंचित फसल के रूप में दाने और चारे के लिये, रबी और खरीफ दोनों ही फसलों में बोयी जाती है।

मिट्टी : ज्वार की फसल कई तरह की मिट्टियों में जैसे भारी और हल्की मिट्टियां, जलोढ़, लाल या पीली दुमट और यहां तक कि रेतीली मिट्टियों में भी उगायी जाती है। लेकिन इसके लिए भारी मिट्टियाँ, (मटियार दुमट) सबसे उत्तम पायी गयी हैं। इसीलिए पश्चिमी, मध्य और दक्षिण भारत की काली मिट्टियों में इस की खेती बहुत ही अच्छी होती है।

फसल ग्रावर्तन : उत्तरी भारत में ज्वार ग्रामतौर से बाजरा ग्रौर गेहूँ या ग्रगेती धान और मटर के साथ दो साल के ग्रावर्तन में उगायी जाती है। दक्षिण पश्चिम ग्रौर मध्य भारत की काली मिट्टी में ज्वार के बाद कपास बोयी जाती है। पिछले कुछ समय से इन क्षेत्रों में ज्वार, मूँगफली ग्रौर कपास का आवर्तन प्रचलित हो गया है।

मैसूर की लाल मिट्टियों में अगेती ज्वार के बाद उसी वर्ष रामतिल या कुल्थी बोयी जाती है ग्रौर काली मिट्टियों में चना या धनिया बोया जाता है। इन दोनों ग्रावर्तनों में मुख्य फसल के मौसम में दूसरे वर्ष रागी (मंडुआ) बोया जाता है। कभी-कभी ज्वार की ग्रगेती फसल को रागी या मूँगफली के साथ फसल ग्रावर्तन में बोया जाता है। मैसूर राज्य में मुख्य मौसम में ज्वार के बाद दूसरे साल मिट्टी में बाजरा ग्रौर कपास या काली मिट्टियों में कपास ग्रौर कंगनी का मिश्रण बोया जाता है। काली मिट्टी के क्षेत्रों में साधारणतया ज्वार को मूँगफली और कपास के साथ तीन साल केफ सल ग्रावर्तन में उगाया जाने लगा है। सिंचित ज्वार की फसल को मिर्च तम्बाकू, मूँगफली ग्रौर कभी-कभी गन्ने के फसल-चक्र के ग्रन्तर्गत उगाया जाता है।

ज्वार को ग्रकेली या ग्रन्य फसलों के साथ उगाते हैं। उत्तरी भारत में यह अक्सर ग्ररहर के साथ मिलाकर बोई जाती है। पश्चिमी ग्रौर दक्षिणी भारत में रबी की फसल में ज्वार ग्रकेली बोई जाती है। ज्वार की फसल में बीच-बीच में कुछ कतारों में कुसुम भी बो देते हैं या साथ में ग्रलसी के बीज छिटक कर बो दिये जाते हैं। दूसरी ग्रोर खरीफ की फसल के ग्रन्तर्गत इस क्षेत्र में ज्वार के

साथ एक या एक से अधिक फलीदार फसल (अरहर, उड़द, ग्वार, मोठ, कुल्थी) और अंडी, रामतिल, तिल जैसी कोई तिलहनी फसल, पटसन जैसी कोई रेशेवाली फसल, बाजरा जैसे मोटे अनाज की फसल या कभी-कभी बैंगन, भिंडी, लौकी, मिर्च आदि जैसी कोई सब्जी मिलाकर बोयी जाती है। चारे के लिए ज्वार को अकेली या रागी, मूँगफली, दाल और अन्य फसलों के साथ मिलाकर बोया जाता है।

कृषि क्रियायें : यदि खेत में अधिक खरपतवार न उगे हुए हों तो आमतौर से इस फसल के लिए विशेष जुताई की आवश्यकता नहीं पड़ती। जलोढ़ मिट्टी वाले इलाकों में खेत को दो या तीन बार देशी हल से जोता जाता है। कुछ इलाकों में हैरो से भी जुताई की जाती है ताकि मिट्टी अच्छी तरह पोली रहे और फसल की जड़ों को फैलने में आसानी हो।

चारे की फसल होने के कारण ज्वार की फसल में साधारणतया बुवाई से पहिले शुष्क क्षेत्रों में प्रति एकड़ 5 गाड़ी (2।। टन) और सिंचित क्षेत्रों में 10 से 15 गाड़ी घूरे की खाद या कम्पोस्ट दी जाती है। सिंचित फसल के लिए बोने से पहिले प्रति एकड़ 200 पौंड हड्डी की खाद या 100-150 पौंड सुपरफास्फेट देने की सिफारिश की गई है। फसल बोने के छः सप्ताह बाद 50 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से खड़ी फसल में अमोनियम सल्फेट देना उपयोगी पाया गया है। महाराष्ट्र में कभी-कभी 400-600 पौंड खली और 200 पौंड हड्डी की खाद या सुपरफास्फेट का मिश्रण की इस्तेमाल किया जाता है। मैसूर में सिंचित फसलों की खाद के लिए भेड़ों को भी खेतों में बैठाया जाता है।

दाने के लिए खरीफ की ज्वार की बुआई छिटक कर या 12-18 इंच की दूरी पर कतारों में की जाती है। रबी की फसल और दाने वाली सिंचित फसलों को आमतौर से 18-24 इंच के फासले पर कतारों में बोया जाता है। कतारों की दूरी मिट्टी की उर्वरा-शक्ति पर निर्भर करती है। कतारों वाली फसल की बुआई या तो हल के पीछे कूँडों में हाथ से या पोरा से बीज डाल कर या 2-3 कतारों में एक साथ बीज डालने वाले बीजण यंत्र (बीज ड्रिल) से की जाती है। हाल ही में सिंचित ज्वार वाले कुछ क्षेत्रों में किसानों ने डिवलर द्वारा समान अंतर पर किए गए छेदों में बीज डाल कर बुआई करने का तरीका अपनाया है। इस तरीके से अधिक उपज लेने का दावा किया जाता है। चारे की फसल आमतौर से छिटक कर ही बोई जाती है। दाने के लिए बोई जाने वाली फसल को 5-10 पौंड और चारे की फसल को 50-60 पौंड प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है। मिली जुली फसल में सहायक फसल का बीज भी ज्वार के साथ मिलाकर बोया जाता है। पर कभी कभी ज्वार की कुछ निश्चित कतारें छोड़कर भी एक कतार में दूसरी फसल का बीज बोया जाता है। कंडवा रोग से बचाने के लिए बीज को बोने से पूर्व गन्धक से उपचारित किया जाता है। इस काम के लिए करीब 1/2 औंस गंधक का चूर्ण 10 पौंड बीजों में मिलाने के लिए पर्याप्त पाया गया है।

बुआई के 15 दिन बाद पहली निराई हाथ के गोड़क यंत्र से की जाती है ताकि खरपतवार नष्ट हो जाएं। छिटककर बोई गई फसलों की हाथ से एक बार और गुड़ाई करनी पड़ती है। कतारों में बोई गई फसल की 3-4 बार गुड़ाई बैलों से खींचे जाने वाले गोड़क

यंत्र से की जाती है। कभी कभी कतारों के बीच में हल्की जुताई भी की जाती है। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में खेतों में छोटी छोटी मेंड़ें बना दी जाती हैं जिनसे पानी इधर उधर नहीं बह पाता। ऐसा करने से उपज में वृद्धि होती है।

कटाई और गहाई : ज्वार की दाने की फसल को पकने में 4-5 माह लगते हैं। दानों में दूध पड़ने पर चिड़ियों का हमला होता है जिससे फसल को बहुत हानि होती है। इस समय चिड़ियों से फसल की रक्षा करना बहुत जरूरी होता है।

इस फसल की कटाई करते समय पौधों को काट कर और उनकी पूलियाँ बांध कर खेत में सूखने को रखते जाते हैं। ज्वार के भुट्टों को काट कर खलिहान में ले जाते हैं। जिन क्षेत्रों में पिछेती वर्षा से अनाज खराब हो जाता है वहाँ पर भुट्टे पहले ही काट लिये जाते हैं। गहाई से पहले बहुत बड़े और उम्दा किस्म के भुट्टों को जो बिल्कुल रोगरहित हों, चुन लिया जाता है और उन्हें बीज के लिए रख लिया जाता है।

पशुओं द्वारा दांय चलवा कर सूखे भुट्टों से दाना अलग कर लिया जाता है। इस काम को जल्दी करने के लिए पत्थर या लोहे का रोलर इस्तेमाल करते हैं। गहाई के बाद अनाज की ओसाई की जाती है। इसके बाद अनाज को धूप में सुखाकर भण्डार में रख देते हैं।

चारे की फसल भुट्टा आने से पहिले ही काट ली जाती है। आरम्भिक अवस्था में फसल के पौधों में प्रूसिक एसिड नामक एक जहरीला तेजाब पैदा हो जाता है। इसका हरा और सूखा दोनों तरह का चारा पशुओं को खिलाया जाता है।

उपज : बारानी फसल से 400-800 पौंड प्रति एकड़ तक ज्वार पैदा होती है और 3,000-4,000 पौंड तक चारा प्राप्त होता है। उपजाऊ मिट्टी, वर्षा की अनुकूल परिस्थितियों और ठीक कृषि क्रियाओं में खरीफ में उगाई गई फसल से लगभग 1,200 पौंड प्रति एकड़ तक दाना प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही नहीं, भली प्रकार खाद दी हुई सिंचित फसल से भी 1,500-2,000 पौंड प्रति एकड़ तक अनाज पैदा किया गया है ।

बारानी फसल से लगभग 20,000 पौंड से 30,000 पौंड तक हरा चारा मिलता है और सिंचित फसल से इससे करीब-करीब दूना चारा मिल जाता है। ज्वार के चारे को हरा या कुट्टी करके पशुओं को खिलाया जाता है तथा साइलेज बनाकर सुरक्षित भी रखा जा सकता है। कभी-कभी हरे चारे को ही सुखा कर रख लिया जाता है और उसे बाद तक काम में लाया जाता है। यदि इस फसल से बीज प्राप्त करना होता है तो खड़ी फसल के कुछ भाग को चारे के लिए नहीं काटा जाता, उसको वालें आने के लिये छोड़ दिया जाता है। इस तरह इस फसल से भी 200 से 300 पौंड प्रति एकड़ तक दाने मिल जाते हैं।

भंडारण : घुन और अन्य कीटों से ज्वार को बचाने के लिए यह जरूरी है कि ज्वार को अच्छी तरह धूप में सुखा लिया जाय। इसके बाद मिट्टी के बर्तनों में भर लिया जाय। ज्वार भरने के बाद ऊपर से बर्तन का मुंह मिट्टी से बंद कर दिया जाय और फिर ऊपर से गोबर-मिट्टी की गुबरैली से उसको लीप दिया जाए। ऐसा करने से बर्तन में किसी प्रकार के कीटाणु अन्दर प्रवेश नहीं कर पाते। आवश्यकतानुसार ज्वार निकालने के लिए बर्तन के नीचे की ओर

एक छोटा सा छेद बना लेना चाहिये जहाँ से अनाज निकाला जाय। बीज के लिए ज्वार के दानों या उसके भुट्टों को धातु या लकड़ी के बर्तन में थोड़ी सी फिनायल की गोलियों के साथ रखना चाहिए।

बाजरे की एक अच्छी फसल

ज्वार की विभिन्न मौसमों में बोई जाने वाली राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	खरीफ (जून-जुलाई)	पिछेती खरीफ (अगस्त सितम्बर)	रबी (अक्तूबर-नवम्बर)	ज़ायद फसल	चारा
आन्ध्र-	पी जे० 4-के,	पी जे० 22 के,	एच-1,	—	इम्फी,
प्रदेश	8-के,	पी जे० 23 के,	1735-एम, 47-3,	—	नंदयाल
	16-के, 24-के,	जी-1, जी-2,	एन-1,	—	—
	डी० 340,	—	एन-2,एन-3,	—	—
	ए के पी-ए,		एन 4, एन-6,		
	ए के पी-2,	—		—	—
	ए के पी-3, जी-3,	—	एन-9	—	—
महाराष्ट्र	पी जे० 4 के, 8-के,	—	मालडंडी	—	—
और	16-के, 24-के,	—	35-1 और	—	चैसाटिग्रो
गुजरात		—	47-3,बुध पैरिग्रो-53	—	10-2 नंदयाल

राज्य	खरीफ (जून-जुलाई)	पिछेती खरीफ (अगस्त-सितम्बर)	रबी (अक्तूबर-नवम्बर)	जायद फसल	चारा
			भड़ौच-8, एन० डी 15, पी जे० 3-आर, 4-आर, 5-आर, 7-आर,		
मध्य प्रदेश	उन्नत सावनेर, रामखेल, ई० बी 34, 123 ए०				
मद्रास	सी० ओ० 1, सी० ओ० 2 सी० ओ० 3, सी० ओ० 10 सी० ओ० 11	के		सी० ओ० 4 से सी० ओ० 19 के-2 (अप्रैल)	इरंगुचोलम् तालांविरी, चन,
मैसूर	नंदयाल	—	बिल्लीजोला (एस 2)		चिन्ना-मंगल वैल्लिचोलम्

राज्य	खरीफ (जून-जुलाई)	पिछेती खरीफ (अगस्त-सितम्बर)	रबी (अक्तूबर-नवम्बर)	जायद फसल	चारा
मैसूर	फुलगर सफेद	—	(स-2)	बैसिके जोला	कक्की
					वोलगर
		—	यैनेगर,	—	इरंगु, संध्या,
	फुलगर	—	एस-22,	—	निलवा,
	पीली		एम० 35-1,		नंदयाल
		—	एम० 47-3	—	—
	बिलीचिगन	—	—	—	—
पंजाब	20, 29/1	—	—	—	—
	263,893	—	—	—	टी 20
उत्तर	8 बी,	—	—	—	—
प्रदेश	5 टॉल, टी-3 (पश्चिमी शुष्क जिलों के लिए)	—	—	—	—

बाजरा (*Pennisetum typhoideum* Pers)

मोटे अनाजों में बाजरा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण फसल है। इसके आटे की रोटी बनाई जाती है और इसके दानों से दलिया बनाया जाता है। दानों को तलने पर पौष्टिक आहार भी बन सकता है। इसकी चरी कुट्टी काटकर पशुओं को खिलाई जाती है और तनों को छप्पर छाने के काम में लाया जाता है।

असम को छोड़कर बाजरा देश के सभी क्षेत्रों में उगाया जाता है। इसकी खेती प्रति वर्ष 2 करोड़ 70 लाख एकड़ भूमि पर होती है जिससे लगभग 34 लाख टन बाजरा प्रति वर्ष पैदा होता है।

भूमि और जलवायु : बाजरा आमतौर से कम वर्षा वाले (15-20 इंच तक) गर्म क्षेत्रों में उगाया जाता है। इसकी फसल को बढ़ने के लिए हल्की बूंदा-बांदी और फिर तेज धूप की आवश्यकता होती है। तेज वर्षा से फसल खराब हो जाती है। मद्रास, मैसूर, और पंजाब के कुछ भागों में बाजरा सिंचित फसल के रूप में गर्म मौसम में उगाया जाता है। यह फसल विशेष रूप से उत्तरी गुजरात, राजस्थान, पंजाब व उत्तर प्रदेश की रेतीली और हल्की मिट्टियों में बोया जाता है। दक्षिणी भारत और दक्षिण पठार की नीची पथरीली हल्के रंग वाली लाल और काली मिट्टी में इसकी खेती व्यापक रूप से होती है।

कृषि क्रियायें : बाजरा अकेला या मिलवां भी बोया जाता है। यह तूर, मूंग, उड़द, मोंठ, तिल, अंडी, ग्वार या कुल्थी के साथ मिलाकर बोया जाता है और जब इसकी फसल अकेली बोयी जाती है तो

इसको कपास कोदों, ज्वार, रागी, रामतिल या अंडी के बाद बोया जाता है। तूर जब बाजरे के साथ मिलाकर बोयी जाती है तो तूर को बाजरे की कुछ कतारें छोड़कर अलग कतारों में लगा देते हैं और बीच की कतारों में बाजरा बो देते हैं। लेकिन अन्य मिलवां फसलों को बीच-बीच में छिटकवां ढंग से ही बोया जाता है। बाजरे की मिलवां फसल को कभी-कभी बिना फसलों के हेर-फेर के भी उगाते हैं।

पहली वर्षा के बाद हैरो से 2-3 बार जुताई करके खेत की तैयारी करते हैं और कभी-कभी इससे पहले गर्म मौसम में भी खेत की तैयारी शुरू कर देते हैं। गुजरात और मैसूर के कुछ भागों को छोड़कर जहाँ फसल बोने से पहले घूरे की खाद दी जाती है या खेतों में भेड़ों को बैठाया जाता है, कहीं भी बाजरे की फसल में खाद नहीं दी जाती। सिंचित फसल के लिए खेत में खूब खाद दी जाती है।

साधारणतया बारानी खेती के क्षेत्रों में काफी वर्षा हो जाने पर जुलाई के मध्य में बाजरे की बुआई की जाती है। मैसूर के कुछ हिस्सों में अगेती वर्षा की शुरूआत के साथ ही मई के महीने में यह फसल बोयी जाती है। सिंचित फसल मार्च और अप्रैल में बोयी जाती है। बाजरे का बीज छिटककर बोया जाता है या तीन या चार फाली वाले बीजण यंत्र से 12-15 इंच की दूरी पर कतारों में बोया जाता है। जब इसकी फसल अकेली बोयी जाती है तो एक एकड़ में 6 से 10 पौंड तक बीज की जरूरत होती है और जब इसको मिलवां बोते हैं तो 4 से 6 पौंड तक बीज की आवश्यकता होती है। जब बाजरे को दूसरी फसल के साथ मिलाकर बोते हैं तो

दूसरी फसल के बीज की मात्रा किसान की आवश्यकता पर निर्भर करती है।

कतारों में बोई गई फसल के लिए आमतौर पर खुरपी से एक बार खरपतवार निकालना या कतारों के बीच में हल चलाकर गुड़ाई करना लाभदायक होता है। जब फसल छिटककर बोयी जाती है तो निराई-गुड़ाई हाथ ही से करनी पड़ती है। चिड़ियों आदि से फसल को बचाने के लिए उसकी रखवाली भी करनी पड़ती है।

कटाई, गहाई और उपज : बाजरे की फसल अक्तूबर में पक जाती है। इसके पौधों को हंसिया द्वारा जड़ के कुछ ऊपर से काटते हैं और फिर सूखने के लिए खेत में ढेर लगा कर रख देते हैं या पहले पकी हुई बालियों को तोड़कर खलिहान में ले आते हैं। इसके बाद दानों को बालों से अलग करने के लिए गेहूँ और ज्वार की तरह गहाई की जाती है। अच्छी तरह पकी हुई बड़ी, लम्बी और रोगरहित बालियों के दाने सावधानी पूर्वक निकालकर मिट्टी के बर्तनों में बीज के लिए रख लिए जाते हैं। दक्षिणी भारत में दाने की प्रति एकड़ उपज 300-400 पौंड, उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान के सभी पर्वतीय इलाकों में 400-500 पौंड और गुजरात में 800-900 पौंड तक होती है। अच्छी तरह खाद दी गई और सिंचाई की गई फसल से 1,500-2,000 पौंड प्रति एकड़ तक उपज प्राप्त की जा सकती है।

बिना सिंचाई की फसल में बाजरे की चारे की पूलियाँ 2,000—2,500 पौंड प्रति एकड़ मिलती हैं जबकि सिंचाई वाली फसल में पूलियाँ दुगुनी तक प्राप्त की जा सकती हैं। जब बाजरा चारे के लिए बोया जाता है तो इसको हरा ही काट लिया जाता
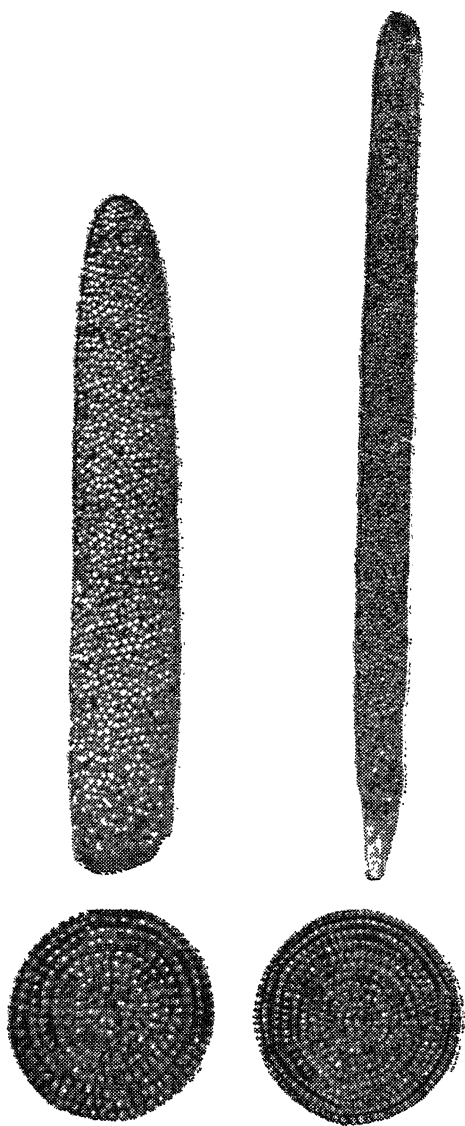
बाजरे की उन्नत किस्मों की बालें और दाने
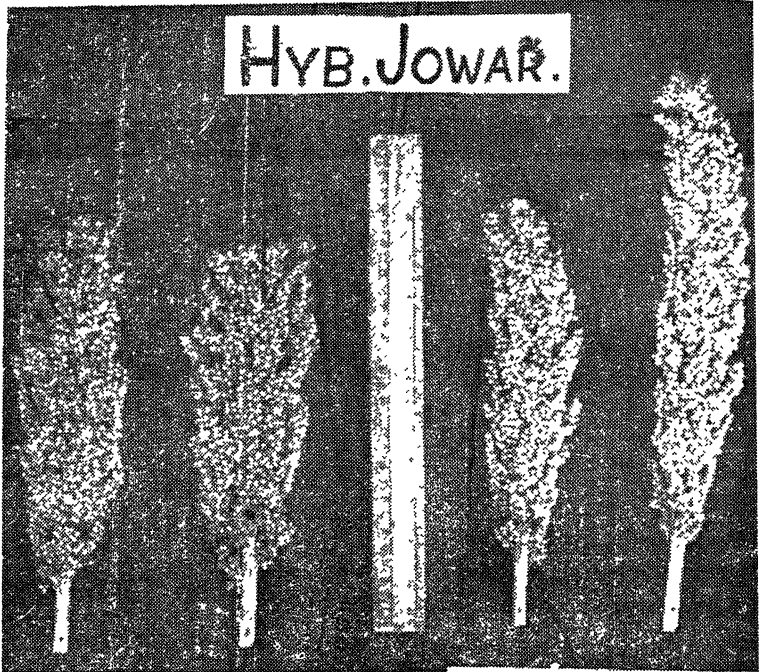
संकर ज्वार

आर. एस. 610 आर. एस. 630

बाजरे की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
मद्रास	सी ओ-1, सी ओ-2, सी ओ-3, सी ओ-4, सी ओ-5, एक्स 1 एक्स 2, के-1	सिंचित और वर्षा पर निर्भर रहने वाली दोनों ही फसलों के लिए उपयुक्त । तिनवेल्ली मद्रास और रामनाथपुरम जिलों के लिए उपयुक्त ।
आन्ध्र प्रदेश	ए के पी-1 और ए के पी-2, कानपुर सींकुरदार	आन्ध्र संभाग के लिए, तेलंगाना के लिए ।
बम्बई	बाजरा 207	उत्तरी गुजरात के लिए ।
	बाजरा 28-15	नासिक और अहमदनगर के लिए ।
पंजाब	बाजरा ए-1/3	सिंचित क्षेत्रों के लिए ।
	बाजरा टी-55	वर्षा पर निर्भर रहने वाले क्षेत्रों के लिए ।
मध्य प्रदेश	ग्वालियर-2	

है। चारे की फसल के लिए 20-25 पौंड प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है। चारे वाली जातियों का तना पतला और रसदार होता है। कुछ क्षेत्रों में बाजरे की खड़ी फसल को एक बार से अधिक भी काटते हैं।

किस्में : बाजरे की पृष्ठ 193 दी गई उन्नत किस्में उगायी जा सकती हैं।

मंडुआ या रागी (*Eleusine coracana* Gaertn)

मंडुआ या रागी मैसूर की अत्यन्त महत्वपूर्ण खाद्यान्न फसल है। यह मद्रास, आन्ध्र प्रदेश और महाराष्ट्र में भी बड़े पैमाने पर उगाई जाती है। इसका अन्न बड़ा पौष्टिक और शक्तिदायी समझा जाता है। इसका दलिया बनाते हैं तथा इसके आटे की चपातियां या हलवा भी तैयार करते हैं। इसके अंकुरित दानों से माल्ट भी तैयार किया जाता है। भारत में यह प्रति वर्ष लगभग 57 लाख एकड़ भूमि पर बोया जाता है जिससे लगभग 17 लाख टन उपज प्राप्त होती है।

जलवायु और मिट्टी : यह फसल बारानी खेती के उन इलाकों के लिए अनुकूल है, जहां वर्षा में 20-40 इंच तक वर्षा होती है। यह गर्मी के मौसम में सिंचित फसल के रूप में उगाई जा सकती है। दक्षिणी महाराष्ट्र के अधिक वर्षा वाले इलाकों में इसकी खेती अधिक हल्की और ढालू भूमि में की जाती है। दक्षिणी भारत में इसकी फसल मुख्य रूप से लाल, हल्की लाल, हल्की काली और रेतीली दुमट मिट्टियों में उगाई जाती है। उत्तरी गुजरात, उत्तर प्रदेश और बिहार में इसकी फसल उत्तम जल निकास वाली जलोढ़

और दुमट मिट्टियों में उगायी जाती है । मंडुआ क्षारीय अंश वाली मिट्टियों में भी उगाया जा सकता है ।

फसल आवर्तन : असिंचित मंडुआ की फसल ज्वार, कोदों, वारागु, तूर, मूँग, कुल्थी, चना, तिल, रामतिल, मूँगफली, अण्डी आदि फसलों के साथ-साथ दो या तीन वर्ष के फसल-चक्र में उगायी जा सकती है । कभी-कभी यह जल्दी तैयार होने वाली फसल के रूप में धान की मुख्य फसल से पहिले भी बोयी जाती है । मंडुआ की सिंचित फसल को मिर्च, मक्का, तम्बाकू, शकरकंदी, प्याज, बैंगन, ईख और हल्दी आदि के साथ भी उगाया जा सकता है । यह आव-र्तन इस बात पर निर्भर करता है कि इनमें से एक फसल विशेषरूप से उस इलाके की हो । मंडुआ को अकेला या अरहर, तिल, कोदों, ज्वार, सवां और बाजरे के साथ मिलाकर भी उगाया जा सकता है ।

कृषि क्रियायें : वर्षा पर निर्भर रहने वाली फसल मई से लेकर अगस्त तक या जुलाई से नवम्बर तक उगायी जाती है और सिंचित फसल विशेषरूप से मद्रास और मैसूर में वर्ष में किसी भी समय बोयी जा सकती है ।

खरपतवार रहित, समतल और भुरभुरी मिट्टी वाले खेत में मंडुआ बोने से अच्छी उपज मिलती है । इसके खेत को पिछली फसल की कटाई के तुरन्त बाद जुताई करके खाली छोड़ देते हैं । फिर वर्षा शुरू होने पर 2-3 जुताई हल या हैरो या बखर से करते हैं । जिन इलाकों में मंडुआ आमतौर पर उगाया जाता है वहां इसकी फसल को नियमित रूप से खाद दी जाती है । इस फसल को आम-तौर से प्रति एकड़ 10 गाड़ी गोबर की खाद या कम्पोस्ट दी जाती है ।

कभी-कभी खाद की पूर्ति तालाब की सड़ी हुई मिट्टी डालकर या खेत में भेड़-बकरी बैठाकर उनकी मेंगनी से भी पूरी की जाती है। सिंचित फसल में पहली निराई के बाद 50 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से अमोनियम सल्फेट और सुपरफास्फेट का मिश्रण खेत में डाला जाता है।

मंडुआ को छिटक कर देशी बीजणयन्त्र से या देशी हल के पीछे कूंड़ों में बीज डालकर बोया जाता है या पौद की रोपायी की जाती है। बीज आमतौर पर 10 इंच के फासले पर कतारों में बोया जाता है। रोपाई में 4-5 सप्ताह बड़े पौधों को 6-8 इंच के फासले पर लगाया जाता है। बरसात अच्छी होने के बाद ही रोपाई की जाती है। रोपाई करते समय 2 या 3 पौधे एक स्थान पर लगाये जाते हैं। पौद को अच्छी तरह तैयार की गई पौदशाला में उगाया जाता है, जिसमें राख और गोबर की खाद को अधिक मात्रा में डाला जाता है। साधारणतया छिटकवां विधि में प्रति एकड़ 10-30 पौंड बीज की आवश्यकता होती है। इस फसल में एक बार हाथ से और दो या तीन बार बैलों का हैरो चलाकर निराई की जाती है। ऐसा करने से पौधे छिदरे भी हो जाते हैं।

कटाई और उपज : मंडुआ की फसल 3-5 महीने में पक जाती है। पौधों को भूमि के तल से मिलाकर काटते हैं। इसके बाद पूली बांध लेते हैं और सूखने के लिए खड़ी कर देते हैं। लकड़ी के डंडों से पीटकर या बैलों की दांय चलाकर या पत्थर के रोलर को घुमाकर गहाई करते हैं। पत्थर के रोलर से गहाई जल्दी और सस्ती हो जाती है। सिंचित फसल में विशेषरूप से, मद्रास में सम्पूर्ण बालें एक साथ नहीं पकतीं। इसलिए उनमें से जो पकती है उनको साथ की

साथ तोड़ते जाते हैं। खलिहान में लाकर उन्हें इकट्ठा करते जाते हैं। जब बालें अधिक सूख जाती हैं तो पानी छिड़क कर उनको मुलायम कर लिया जाता है।

बारानी फसल की औसत उपज प्रति एकड़ 500 से 900 पौंड अन्न और एक टन भूसा होता है, सिंचित फसल से दूनी या तिगुनी उपज मिलती है। ज्वार बाजरे की तुलना में मंडुआ अधिक समय तक रखा जा सकता है।

किस्में : मंडुआ की खेती के लिए पृष्ठ 198-99 पर दी गई किस्मों की सिफारिश की जाती है।

कंगनी (काकुन) (*Setaria italica* Beauv.)

काकुन या कंगनी की खेती देश के अधिकांश भागों में की जाती है। लेकिन आन्ध्र प्रदेश, मैसूर और महाराष्ट्र में इसका विशेष महत्व है। यह सूखारोधी फसल है। यह 90-120 दिन में पक जाती है। इस फसल से लगभग उतनी ही उपज प्राप्त होती है जितनी की लम्बे समय वाली फसलों से होती है। इसको 6,000 फुट ऊँचाई तक भी उगाया जा सकता है। जलोढ़, दुमट, लाल दुमट, हल्की मिट्टी, काली मिट्टी और मटियार मिट्टियाँ इसकी फसल के लिए उपयुक्त है।

कृषि क्रियायें : इसकी फसल सिंचित और असिंचित दोनों ही दशाओं में उगायी जा सकती है। इसके अतिरिक्त दक्षिण भारत में इसकी फसल को साल में किसी भी समय उगाया जा सकता है। वर्षा पर निर्भर रहने वाली अगेती फसल के रूप में इसे और मुख्य फसल के रूप में जून-जुलाई में तथा मई में पिछेती

रागी की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	सिफारिश की गई किस्में	विवरण
मैसूर	रागी 1 (कार)	अप्रैल-मई में बोने के लिए उपयुक्त, सिंचित और वर्षा पर निर्भर क्षेत्रों के लिए भी उपयुक्त ।
	रागी 5 (कार)	मैसूर और हसन जिलों के लिए ।
	रागी 22 (हैन)	जुलाई में बोने के लिए ।
	रागी 10 (हैन)	जुलाई-अगस्त में बोने के लिए, तुमकुर और कोलार जिलों के लिए उपयुक्त ।
	एच-1	बैल्लारी जिले के लिए उपयुक्त ।
मद्रास	सी-ओ-1	सलेम जिलों में वर्षा पर निर्भर या सिंचित क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
	सी-ओ-2	कोयम्बटूर में सिंचित क्षेत्रों के लिए ।
	सी-ओ-3	कोयम्बटूर, चिंगलपट और उत्तरी अर्काट में बारानी फसल के लिए उपयुक्त ।

राज्य	सिफारिश की गई किस्में	विवरण
	सी-ओ-4	तिरुनेलवेल्ली श्रौर रामनाथपुरम् जिलों के लिए उत्तम ।
श्रांध्र प्रदेश	ए के पी-1, श्रौर 2	मई से श्रगस्त तक बोने के लिए उपयुक्त ।
	ए के पी-3, 4 श्रौर 5	दिसम्बर से श्रप्रैल तक बोने के लिए उपयुक्त ।
	एच-1	श्रनन्तपुर, कुरनूल, कुडप्पा, नेल्लौर श्रौर गुन्टूर जिलों के लिए उपयुक्त ।
महाराष्ट्र	बी-1 (श्रगेती) ई-31 (मध्य-पिछेती) ए-16 (पिछेती)	कोंकण संभाग के लिए ।

फसल के रूप में अगस्त-सितम्बर में बो सकते हैं। सिंचित फसल को स्थान तथा गर्मी के मौसम के अनुसार जनवरी-फरवरी या मार्च-अप्रैल में बोया जाता है। इसको अकेले या दूसरी फसलों के साथ मिलाकर भी बोया जाता है। मैसूर, आन्ध्र प्रदेश, और मद्रास में इसकी फसल कपास और रागी के साथ मिलाकर बोयी जाती है। बुवाई से पहले हल से एक बार और हैरो से दो-तीन बार जुताई करना आवश्यक है। परन्तु सिंचित फसल के लिए अधिक जुताई आदि की जरूरत होती है। सिंचित फसल के लिए लगभग 5 गाड़ी गोबर की खाद पर्याप्त होती है लेकिन यदि खाद की मात्रा कुछ अधिक डाली जाये तो फसल के लिए उपयोगी होती है। छिटकवां विधि से एक एकड़ में 6-10 पौंड तक बीज पड़ता है। जहां इसकी फसल को किसी दूसरी फसल के साथ मिलाकर बोया जाता है वहां दोनों फसलों के बीजों को अलग-अलग कतारों में बोया जाता है। उदाहरणार्थ कपास की 5-6 कतारों के बाद कंगनी की एक कतार बोई जाती है।

अकेली बोई गयी फसल की निराई-गुड़ाई केवल एक बार ही की जाती है। जब इस फसल को किसी दूसरी फसल के साथ मिलाकर बोया जाता है तो कंगनी की फसल गौण फसल हो जाती है। सिंचित फसल के लिए पकने तक 9-10 दिन के अन्तर पर सिंचाई करते रहना चाहिए। सूखने के लिए फसल की पकी बालियाँ काट लेते हैं और उनको ढेर लगाकर एक सप्ताह तक रखते हैं, फिर रोलर या पशुओं की दांय चलाकर दाना निकाला जाता है। बम्बई तथा उत्तरी भारत में फसल को हंसिया से काटा जाता है लेकिन बालों को काटकर अलग कर लिया जाता है।

उपज : बारानी खेतों में अकेली बोई गई फसल की उपज प्रति एकड़ 400-800 पौंड अनाज और 1,000-2,000 पौंड भूसा होता है। सिंचित फसल की उपज बारानी फसल की उपज से दूनी या इससे भी अधिक होती है। इस्तेमाल करने से पहले दानों से भूसा अलग कर लिया जाता है। यह आमतौर पर चावल की तरह पकायी जाती है। इसका भूसा बारीक होता है और इसको बिना काटे खिलाया जा सकता है।

किस्में : पौधों की ऊँचाई, बालों के आकार, खेतों की स्थिति और लम्बाई, सींकुर के रंग, दानों आदि के अनुसार कंगनी की अनेक किस्में उगायी जाती हैं। इसकी पृष्ठ 202-203 पर दी गई उन्नत किस्मों को उगाने की सिफारिश की गई है।

कोदों (*Paspalum scrobiculatum* Linn.)

कोदों विशेष रूप से सूखा सहन करने वाली खाद्यान्न फसल है। यह मद्रास, उत्तरी मैसूर और महाराष्ट्र तथा आन्ध्र प्रदेश के कुछ हिस्सों में बड़े पैमाने पर उगाई जाती है। यह फसल आमतौर से कंकरीली, ऊँची-नीची, हल्की तथा कम उपजाऊ मिट्टियों में उगाई जाती है। गुजरात की गोरडू मिट्टियों में भी यह उगाई जाती है।

कृषि क्रियायें : इस फसल को बोने के लिए जमीन की हल या हैरों से 2-3 बार जुताई की जाती है। इसका बीज या तो छिटक कर या कतारों में बीजण यंत्र की सहायता से जुलाई-अगस्त में बोया जाता है। प्रति एकड़ 15-20 पौंड बीज की आवश्यकता होती है। कोदों को या तो अकेले बोते हैं या तूर, तिल और पटसन के बीजों के साथ मिला कर बोते हैं। इसकी फसल में खाद देना और निराई-

कंगनी की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विवरण
आन्ध्र प्रदेश	जी-1	जून-अक्तूबर या सितम्बर-जनवरी, अवधि 80 से 95 दिन। गुन्तुर और कुरनूल जिलों के लिए उपयुक्त।
	एन-1	जून से सितम्बर या सितम्बर से दिसम्बर तक, अवधि 90 दिन। कुरनूल और कुडप्पा के लिए उपयुक्त।
	एच-1	जुलाई-सितम्बर से नवम्बर-दिसम्बर, अनन्तपुर की हल्की मिट्टियों के लिए उपयुक्त।
मैसूर	एच-1	जुलाई-सितम्बर से नवम्बर-दिसम्बर तक, बेल्लारी की हल्की मिट्टियों के लिए उपयुक्त।
	एच-2	बैल्लारी की भारी काली मिट्टियों के लिए उपयुक्त।

राज्य	किस्म	विवरण
	नवाने-1	चित्तलदुर्ग ग्रौर तुमकुर जिलों के लिए उपयुक्त ।
मद्रास	सी ग्रो-1	मार्च-जुलाई (सिंचित) सितम्बर-दिसम्बर (वर्षा पर निर्भर), अवधि 100 दिन, सलेम ग्रौर कोयम्बटूर जिलों के लिए उपयुक्त ।
	सी ग्रो-2	मार्च-जुलाई (सिंचित), अवधि 90 दिन, सलेम, कोयम्बटूर ग्रौर मदुरई जिलों के लिए उपयुक्त ।
	सी ग्रो-3	सितम्बर-दिसम्बर (वर्षा पर निर्भर), ग्रवधि 100 दिन । कोयम्बटूर जिलों के लिए उपयुक्त ।

गुड़ाई का कार्य कम ही किया जाता है। बहुत खरपतवार होने पर केवल हाथ से एक बार निराई करने की आवश्यकता पड़ती है। इसकी फसल पाँच-छः महीनों में पक जाती है। फसल तैयार होने पर जड़ से कुछ ऊपर पौधों को हंसिया से काट लेते हैं और छोटे-छोटे पूलें बनाकर खेत में खड़ा कर देते हैं। एक सप्ताह सुखाने के बाद दांय चलाकर उनकी गहाई करते हैं और ओसाई से दाना अलग कर लेते हैं।

उपज : इस फसल से प्रति एकड़ 400-800 पौंड अनाज और 1,000-2,000 पौंड भूसा प्राप्त होता है, इस फसल का दाना मोटा होता है और इसके ऊपर नुकीली परत चढ़ी रहती है, जिसको खाने से पहले उतारना पड़ता है। इसलिए फसल के पूर्ण रूप से पकने पर कटाई करनी चाहिए और खाद्य पदार्थ के रूप में इसका प्रयोग 6 महीने भंडार में रखने के बाद करना चाहिए। फसल पकते समय यदि मौसम बदली या बारिश वाला हो मिट्टी में जल निकास न होता हो तथा जमीन नमीदार हो तो अपरिपक्व दानों में विषैला-पन पैदा हो जाता है। इसका भूसा घटिया किस्म का होता है। इसलिए आमतौर से इसे पशुओं को नहीं खिलाया जाता वरन् खाद बनाने के काम में लाया जाता है।

किस्में : इसकी एक उन्नत किस्म हरका-1 है, जिसे मैसूर के बंगलौर, तुमकुर, चित्तलदुर्ग और मांड़िया जिलों में बड़े पैमाने पर उगाने की सिफारिश की गई है। इसकी दूसरी किस्म पी० एस०-1 मद्रास के कुछ भागों में उगाने के लिए अच्छी पायी गई है।

सवां (*Echinochloa colona*)

सवां भी मोटे अनाजों में गिना जाता है। यह मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, मद्रास, मैसूर, आंध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और बिहार में वड़े पैमाने पर उगाया जाता है। इसकी प्रति वर्ष लगभग एक करोड़ तीस लाख एकड़ भूमि में खेती की जाती है जिससे लगभग बीस लाख टन सवां प्रति वर्ष पैदा होता है।

यह जल्दी उगने वाली फसल है जो खरीफ के मौसम में देश के बहुत बड़े भाग में उगाई जाती है। यह 6,500 फुट की ऊँचाई वाले क्षेत्रों तक में उगाई जाती है। यह सूखारोधी और बाढ़रोधी फसल है इसलिये इसकी खेती रेतीली और दलदली दोनों क्षेत्रों में की जा सकती है।

कृषि क्रियायें : सवां की फसल सम्पूर्णत: बारानी तथा कमजोर भूमियों पर की जाती है। इस फसल के बोने का समय वर्षा के अगेती या पिछेती होने पर निर्भर करता है। इसलिए इसको जून से लेकर सितम्बर तक बो सकते हैं। इसके लिए जमीन की एक या दो जुताई देशी हल से की जाती हैं। बीज या तो छिटककर या बीजण यंत्र द्वारा 8-10 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से बोया जाता है और फिर हैरो चलाकर या जुताई करके उसको मिट्टी से ढक दिया जाता है। इस फसल की नर्सरी में तैयार की गई पौध महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों में रोपी जाती है। इसकी फसल आमतौर से अकेली बोई जाती है या कभी-कभी तूर, कुल्थी या दूसरी दालों के साथ मिलाकर बोई जाती है। इसको कुल्थी की फसल के साथ हेर-फेर करके भी बोया जाता है। इस फसल को मुश्किल से ही खाद देने की जरूरत होती है। कभी जरूरत हो तो फसल की एक बार

हाथ से निराई कर दी जाती है। यह फसल किस्म और मौसम के अनुसार 3-4 माह में पक कर तैयार हो जाती है। इसके पौधे भूमितल से मिला कर काटे जाते हैं और फिर उनकी पूलियाँ बाँधी जाती हैं। पूलियाँ बंधी एक हफ्ते तक खेत में ही रखी रहती हैं। इसके बाद फसल को पशुओं द्वारा कुचलवाकर गहाई की जाती है।

उपज : आमतौर पर इसकी औसत उपज 300 से 600 पौंड और भूसा की 1,000 पौंड प्रति एकड़ होती है। इसका छिलका रहित साफ किया हुआ दाना चावल की तरह खाया जाता है। इसके आटे की चपाती और केक भी बनती है। इसका भूसा अच्छी किस्म का नहीं होता और यह अच्छे चारे के न मिलने पर ही पशुओं को खिलाया जाता है।

किस्में : इसकी अभी तक कोई किस्म तैयार नहीं की गई है।

कुटकी (*Panicum miliare*)

कुटकी बहुत सीमित क्षेत्र में उगाई जाती है। विशेष रूप से मद्रास, बम्बई और मध्य प्रदेश में इसकी खेती की जाती है। यह जल्दी पकने वाली और सूखा तथा अधिक पानी दोनों दशाओं को सहन करने वाली फसल है। इसकी खेती करने का तरीका सवां की तरह ही है। सवां की तरह ही इसके अनाज और भूसे का उपयोग होता है, और उसी फसल जितनी इसकी उपज होती है।

किस्में : इस फसल के सुधार के लिये बहुत थोड़ा काम हुआ है। इसकी पी एम-2 नामक एक उन्नत किस्म विकसित की गयी है। जिसको मद्रास में उगाने की सिफारिश की गई है।

चीना या बारी (*Panicum miliaceum*)

यह बहुत जल्दी पकने वाली और सूखा सहन करने वाली फसल है। इस फसल को अक्सर अकाल पड़ने या मुख्य खाद्य फसल के बोने का समय निकल जाने पर बोया जाता है। इस फसल की खेती मुख्य रूप से पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बम्बई, आन्ध्र प्रदेश, मैसूर और मद्रास के क्षेत्रों में की जाती है।

कृषि क्रियायें : आमतौर से यह अकेली ही कमजोर और असिंचित मिट्टियों में पिछेती मानसूनी फसल के रूप में बोयी जाती है। लेकिन गुजरात और मद्रास के कुछ हिस्सों में मार्च-अप्रैल में सिंचित फसल के रूप में भी बोयी जाती है। इसको बारानी फसलों वाली भूमि में एक हल्की सी जुताई करके बो दिया जाता है। इसका बीज हाथ से छिटककर या बीजण यन्त्र से बोया जाता है। एक एकड़ के लिये 8 से 10 पौंड तक बीज काफी रहता है। बीज डालने के बाद खेत में बुहारू गोड़क (ब्रश हैरो) चला दिया जाता है। बीज जब कतारों में बोना होता है तो उनके बीच में 9 इंच का फासला रखा जाता है। इस फसल को खाद देने या निराई-गुड़ाई की बहुत कम जरूरत पड़ती है। सिंचित फसल की एक या दो बार सिंचाई की जाती है। इसकी फसल 90-100 दिन में पक जाती है। फसल के पकने पर उसके पौधों को उखाड़ या काट लेते हैं और जल्दी ही गहाई करके बीजों को निकाल लेते हैं। अन्यथा दानों की छीजन का डर रहता है।

उपज : बारानी खेती से प्रति एकड़ 400-600 पौंड और सिंचित फसल से 1,000 पौंड के लगभग उपज प्राप्त होती है। कुल उपज का 35 प्रतिशत भाग छिलका होता है। भूसे रहित साफ दाने

को पकाया या चपाती बनाकर खाया जाता है। भूसा लगभग प्रति एकड़ 1,000-2,500 पौंड तक होता है। इसका भूसा बहुत अच्छा नहीं होता। लेकिन फिर भी चारे के अकाल में इसका भूसा पशुओं को खिलाया जाता है। सिंचित फसल से अच्छा भूसा प्राप्त होता है।

किस्में : इस फसल की कई किस्में है जो एक दूसरे से पकने के समय, वानस्पतिक गुण और भुट्टों के रंग आदि में भिन्न होती है। इसकी मद्रास में दो सुधरी किस्में पी वी 14 और पी वी 36 विकसित की गई हैं।

दालें

हमारे देश के भोजन में दालों का मुख्य स्थान है क्योंकि देश के दूसरे खाद्यान्न अधिकतर स्टार्च या मांड वाले ही हैं। देश की शाकाहारी जनता के लिए वनस्पति प्रोटीन का एकमात्र स्रोत दालें ही हैं। दालों को बोने से भूमि का उपजाऊपन बढ़ जाता है। इनकी गांठदार जड़ें वायुमंडल से नाइट्रोजन प्राप्त करके भूमि की उर्वरा-शक्ति को बढ़ाती हैं। प्रति वर्ष लगभग 5·7 करोड़ एकड़ भूमि पर दहलनी फसलों की खेती होती है जिससे लगभग 1 करोड़ 9 लाख टन दालें प्रति वर्ष प्राप्त होती हैं।

उड़द : (*Phaseolus mungo* var. *radiatus* Linn.)

उड़द की दाल एक पोषक खाद्य है और उसमें फास्फोरिक-अम्ल भी काफी अंश में उपस्थित होता है। इस दाल का करीब-करीब वही इस्तेमाल होता है जो मूंग की दाल का। उड़द की दाल

अलग-अलग प्रदेशों में अलग-अलग तरह से खाई जाती है। इसके पापड़ और बड़ियाँ भी बनाई जाती हैं।

उड़द की खेती सम्पूर्ण भारत में होती है। मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पंजाब, महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर उड़द की पैदावार के मुख्य क्षेत्र हैं।

मिट्टी और जलवायु : जल-धारण की क्षमता रखने वाली सख्त दुमट अथवा भारी मिट्टी उड़द की फसल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। कपासी मिट्टी और भूरी कछारी मिट्टी में भी इसकी खेती अच्छी होती है। वर्षा के जल पर आश्रित फसल के रूप में गर्म मैदानों में और साथ ही ठण्डी पहाड़ियों पर 6,000 फुट की ऊँचाई तक उड़द की खेती की जाती है। पहाड़ी अथवा नम इलाकों में पैदा हुई उड़द की दाल पकाने पर अपेक्षाकृत जल्दी गल जाती है।

फसल आवर्तन : उड़द को आमतौर पर मिश्रित फसल के रूप में कपास, मक्का, ज्वार, बाजरा आदि के साथ उगाया जाता है। भारत के मध्य और दक्षिणी भागों में कभी-कभी धान की फसल को खाद देने के लिए उड़द को अकेला अथवा धान के बाद दूसरी फसल के रूप में उगाया जाता है। कांगड़ा घाटी (पंजाब) में धान के सीढ़ीदार खेतों की मेड़ों पर उड़द अक्सर उगाया जाता है।

कृषि क्रियायें : उड़द की फसल के लिए आरम्भिक जुताई, खाद की व्यवस्था, बुआई, अन्य कृषि क्रियायें, गाहना, फसल काटना और भंडारण आदि उसी तरह किये जाते हैं जैसे इस पुस्तक में मूंग की खेती के बारे में बताये गये है। बोई जाने वाली किस्मों तथा जलवायु और कृषि क्रियाओं के अनुसार फसल की बुआई फरवरी वसन्त के आरम्भ अथवा जून-जुलाई (वर्षा काल) अथवा अक्तूबर-

उड़द की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
मध्य प्रदेश	नं० 55 और ई० बी० 140	काला दाना, शीघ्र पकने वाली और अधिक फल वाली ।
	ग्वालियर-2	छोटा, काला दाना, पिछेती पकने वाली, उत्तरी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
	ग्वालियर-18	मोटा काला दाना बाकी, गुण ग्वालियर-2 की तरह ।
	उज्जैन-4	काला दाना, शीघ्र पकने वाली और अधिक फलवाली, दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।
	उज्जैन-15	मोटा, हरा दाना, पिछेती पकने वाली, दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्रों के लिए उपयुक्त ।

राज्य	किस्म	विशेष गुण
उत्तर प्रदेश	टी-9	काला दाना, शीघ्र पकने वाली।
	टी-27	काला दाना, पिछेती पकने वाली, दाल बनाने के लिए बढ़िया।
	टी-77	हरा दाना, पिछेती पकने वाली।
पंजाब	पंजाब-48	अच्छी उपज वाली।
दिल्ली	पूसा-4,6,7 और 14	अच्छी उपज वाली।
बंगाल	डब्ल्यू-बी० 17	गहरा काला, मध्यम आकार का दाना।
आन्ध्र प्रदेश	वी० जैड० एम०-1	उत्तरी तटवर्ती जिलों के लिए उपयुक्त।
बिहार	बी० आर० 10,11,68 और एस० टी०-8	साधारण किस्मों की अपेक्षा 12 से 27 प्रतिशत तक अधिक उपज देने वाली।
उड़ीसा	एस० 1601	अधिक उपज वाली।

नवम्बर (शरद) में की जाती है। एक एकड़ के लिए 8-12 पौंड बीज की आवश्यकता होती है। उड़द की औसतन पैदावार प्रति एकड़ 500-700 पौंड के लगभग होती है और भूसा लगभग 1,600 पौंड प्रति एकड़ होता है।

किस्में : इसकी दो विशेष किस्में प्रचलित हैं : (1) बड़ी, काली बीजों वाली और (2) छोटी, हरे बीजों वाली। पहली किस्म अधिक बोयी जाती है और जल्दी पकती है, जबकि दूसरी किस्म देर में पकती है।

उड़द की उन्नत किस्मों का विवरण पृष्ठ 210 और 211 की **सारणी** में दिया गया है :

चना (*Cicer arietinum* Linn)

इस देश में उगाई जाने वाली दालों में चने की सबसे पुरानी और महत्वपूर्ण फसल है। इसका प्रयोग दाल, बेसन और आटा बनाने के लिये किया जाता है तथा दले हुये या समूचे दाने के रूप में उबाल कर या सुखाकर, भूनकर या तलकर, नमकीन या मिठाई के रूप में भी किया जाता है। इसके अलावा चने की पत्तियों और दानों का प्रयोग सब्जियों के रूप में भी किया जाता है। कहते हैं स्कर्वी (Scurvy) नाम के रक्त रोग में अंकुरित चनों को देने से लाभ होता है। चने की हरी पत्तियों से प्राप्त दो तेजाब क्रमशः मैलिक और ओक्जेलिक एसिड आंत के रोगों में लाभदायक सिद्ध हुये हैं। पानी में भीगा चना और उसका छिलका घोड़ों और मवेशियों को पौष्टिक दाने के रूप में खिलाया जाता है।

इसकी खेती प्रति वर्ष 2 करोड़ 37 लाख एकड़ भूमि पर की जाती है जिससे लगभग 57 लाख टन चना प्राप्त होता है। देश के जितने क्षेत्र में चना उगाया जाता है उसका 90 प्रतिशत क्षेत्रफल उत्तरी भारत में है और इससे देश के कुल भाग की 95 प्रतिशत उपज प्राप्त होती है।

भूमि : उत्तरी भारत में चने को हल्की कछारी मिट्टियों में उगाया जाता है जो गेहूँ की खेती के लिये कमजोर पड़ती है, परन्तु काबुली चने के लिये ज्यादा उपजाऊ जमीन की आवश्यकता होती है। बम्बई और दक्षिण भारत में जल धारण की क्षमता रखने वाली मटियार दुमट और काली मिट्टी में चने की खेती की जाती है।

जलवायु : आमतौर से चने को रबी के मौसम में बारानी फसल के रूप में उगाया जाता है। कभी-कभी इसे रबी के मौसम में भी उन इलाकों में उगाया जाता है जहाँ नियमित या आंशिक रूप से सिंचाई की व्यवस्था है। न्यून से मध्यम वर्षा और हल्की सर्दी वाले क्षेत्र इसके लिये सर्वाधिक उपयुक्त हैं। बुआई के तुरन्त बाद या चने के बूटे लगने के समय अत्यधिक वर्षा से फसल को बहुत हानि होती है। अधिक सर्दी इस फसल के लिये हानिकारक है और पाला इस के लिए घातक है। फसल को पकते समय ओले पड़ने से बहुत हानि होती है। गर्मी से फसल जल्दी पकती है पर पैदावार कम हो जाती है।

फसल आवर्तन : यदि खेत से पूरे वर्ष में एक ही फसल ली जाती है और वह भी चने की तो चने का आवर्तन ज्वार, बाजरा, गेहूँ, धनिया और कभी-कभी धान के साथ भी रखा जाता है। जिस खेत में वर्ष में दो फसलें ली जाती हैं और उनमें यदि एक चने की

होती है तो तिल की अगेती फसल, चारे की ज्वार, मक्का, ग्वार, रागी अथवा धनिये के साथ यह आवर्तन रखा जाता है। दक्षिण भारत में चने की सिंचित फसल का आवर्तन प्याज और शकरकन्दी जैसी साग-भाजी अथवा गेहूँ की सिंचित फसल, ज्वार या धान के साथ किया जाता है।

चने को अकेले या गेहूँ, जौ, अलसी, कुसुम और सरसों के साथ मिश्रित फसल के रूप में उगाया जाता है। मिश्रित फसल के रूप में चने की उपज तभी अच्छी होती है जब वर्षा कम होती है। जब कि दूसरी फसलों की उपज उतनी अच्छी होती है जब वर्षा काफी या ज्यादा होती है। कहा जाता है कि मिश्रित फसल के रूप में चने को उगाने से उसके चित्ती जैसे रोगों से मुक्त रहने की सम्भावना रहती है।

कृषि क्रियायें : चने के लिये खेत की तैयारी गेहूँ की फसल की भांति ही की जाती है, अन्तर केवल इतना है कि चने के लिये गेहूँ की अपेक्षा कम जुताई की जाती है और जुताई के बाद आमतौर पर पटेला नहीं फेरा जाता। चने की फसल को शायद ही कभी खाद दी जाती हो। हां, फास्फेटधारी उर्वरकों के प्रयोग से चने की औसत उपज 1 पौंड फास्फोरस (P_2O_5) से 6 पौंड बढ़ जाती है। इसलिये 20 से 25 पौंड प्रति एकड़ फास्फोरस (P_2O_5) देने की सिफारिश की गयी है।

अक्तूबर या नवम्बर के मध्य में बीज छिटककर अथवा कतारों में बोया जाता है। कतारों में बोई जाने वाली फसल की बुआई, बीजण यंत्रों (सीड ड्रिल) की सहायता से अथवा देशी हल के पीछे कूंड़ों में बीज डालकर की जाती है। कतारों की परस्पर दूरी लगभग

लगभग 12 इंच होती है । पंजाब में 24-32 पौंड, बम्बई में 40-50 पौंड और केन्द्रीय भारत में 60-80 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से बीज बोते हैं । मोटे बीजों की किस्मों के लिये 70-80 पौंड प्रति एकड़ बीज बोने की सिफारिश की गई है । चने की फसल में शायद ही कभी निराई या अन्य कृषि-क्रियायें की जाती हैं । यह फसल खरपतवार की बढ़त को स्वयं रोकती है । सूखा या अकाल के दिनों में यदि पानी की सुविधा हो तो फसल की एक या दो सिंचाई की जा सकती हैं ।

दक्षिण में नियमित रूप से सिंचित फसल के सारे मौसम में केवल 3-4 सिंचाइयाँ की जाती हैं । अधिक स्वस्थ पौधे का ऊपरी भाग काट लिया जाता है । कहते हैं ऐसा करने से पैदावार बढ़ जाती है ।

फसल कटाई और उपज : पंजाब और उत्तर प्रदेश में 150 दिन या इससे भी अधिक समय में और महाराष्ट्र, दक्षिण भारत या सुदूर दक्षिण में 120 दिन या इससे भी कम समय में फसल पक जाती है । पत्तियों के सूखने पर और जब उनका रंग ललाई लिए बादामी हो जाय तो उनको काट लिया जाता है । इस प्रकार कटे पौधों को गाड़ी में लाद कर खलिहान में ले जाते हैं । यहाँ पर उन्हें एक सप्ताह तक सुखाने के बाद उन पर दांय चलाई जाती हैं, इसके लिए बैलों के पैरों से लांक को कुचलवाया जाता है या उसे डंडों से कूटा जाता है ।

वर्षा पर निर्भर करने वाली प्रति एकड़ फसल की औसतन उपज लगभग 500-600 पौंड दाना और 800-1,000 पौंड भूसा होता है । चने की सबसे अधिक पैदावार पंजाब में और सबसे कम

चने की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
उत्तर प्रदेश	टाइप 87	मोटा, भूरे रंग का दाना, भूनने और दाल के लिए अधिक उपयुक्त, अधिक उपज वाली, अधिक क्षेत्रफल पर उगाई जाती है।
	एन० पी० 25	कुछ लाल भूरे रंग का दाना, मध्यम अवधि वाली।
	टाइप-1	भूरे रंग के दाने, अधिक उपज वाली, अगेती किस्म।
पंजाब	पी०-बी० 7	भूरे पीले रंग के बीज वाली और अधिक फलने वाली, मुर्झान रोग से प्रभावित।
	सी०-132	अधिक उपज वाली और मुर्झान रोग रोधी परन्तु दाने पी०बी०-7 की तरह आकर्षक नहीं।
	सी०-1234	चने के अंगमारी रोग को रोकने वाली।
	काबुली-1	मोटे दाने वाली, पाकशाला सम्बन्धी कार्यों के लिए बढ़िया।
	एन० पी० 25	हल्के भूरे रंग के दानेवाली, बीच के समय में पकने
	एन० पी० 58	वाली सूखे क्षेत्रों के लिए उपयुक्त।

राज्य	किस्म	विशेष गुण
राजस्थान	एन० पी० 28	सफेद रंग का दाना, शीघ्र पकने वाली ।
	एन० पी० 58	मध्यम आकार के पीले रंग के बीज, सूखा रोधी,
	आर० एस० 10	अधिक उपज वाली और बीच के समय में पकने वाली ।
दिल्ली	एन० पी० 25	
	एन० पी० 58	
मध्य प्रदेश	ए-डी-टी० वी०	मध्यम आकार के भूरे रंग के दाने वाली अधिक उपज वाली ।
	दक्कन ई० बी० 28	मध्यम आकार के भूरे रंग के दाने वाली, अधिक उपज वाली ।
	डी० 8	गोल छोटा गुलाबी रंग का दाना, भूनने के लिए उपयुक्त ।
	ग्वालियर-2	मोटा, हल्के लाल रंग का बीज, हल्की मिट्टियों में अधिक उपज देने वाली, पिछेती पकने वाली ।
	ग्वालियर-3	छोटा, काला बीज, शेष ऊपर जैसा, ग्वालियर और उसके आस पास के जिलों के लिये उपयुक्त ।

राज्य	किस्म	विशेष गुण
मध्य प्रदेश	उज्जैन पिंक-2	हल्के गुलाबी रंग का दाना, देर से पकने वाली, भूनने के लिये उत्तम।
	उज्जैन-21	मोटा, पीला भूरे मटमैले रंग के खोल वाला बीज, जल्दी पकने वाली, दक्षिणी जिलों के लिये उपयुक्त।
	उज्जैन-24	छोटा, हल्के सफेद रंग का मुलायम बीज, देर से पकने वाली, दक्षिणी जिलों के लिये उपयुक्त।
बिहार	बी० आर०-17 बी० आर०-65 बी० आर०-77	दक्षिणी बिहार में बोई जाने वाली एस० 4 स्टैंडर्ड किस्म के मुकाबले में अधिक उपज वाली।
महाराष्ट्र और गुजरात	चैफा	सुनहरी पीले रंग का बड़ा बीज, अधिक उपज वाली, भूनने के लिये उत्तम, कौलाबा, थाना, नागर और नासिक के लिये उपयुक्त।
	बड़ा चना	मोटा चना।
	गुलाब	गुजरात के लिये उपयुवत।
	हीरा चना	हरा, झुर्रीदार, मध्यम आकार का बीज, पाकशाला के लिये उपयुक्त।

राज्य	किस्म	विशेष गुण
	वारंगल	हरा, मध्यम आकार का भूरे रंग का बीज, मुर्झान रोग रोधी, नागपुर के लिये उपयुक्त ।
	ए-1-8	मध्यम आकार का दाना, भूरे रंग का बीज, अधिक उपज वाला ।
आन्ध्र प्रदेश	नं० 63-8-12-41	अधिक उपज वाली स्थानीय किस्म, रायलसीमा के लिये उपयुक्त ।
बंगाल	डब्ल्यू० बी०-75	अधिक उपज वाली ।
	ऐस०-4 (सबौर)	मोटा और हल्के लाल रंग का बीज, बीच के समय में पकने वाली सूखा रोधी किस्म ।
मद्रास	सी० ओ०-1	कोयम्बटूर के लिये उपयुक्त ।
मैसूर	चना 18-12	भूरे रंग का बीज, अत्यधिक मुर्झान रोग रोधी, बेलगाँव, बीजापुर और धारवाड़ जिलों के लिये उपयुक्त ।

दक्षिण भारत में होती है। सिंचित फसलों से दाने की पैदावार आमतौर से 1,500-2,000 पौंड प्रति एकड़ तक होती है।

किस्में : चने की विभिन्न किस्में सफेद, लाल, पीली, काली और बादामी रंग की होती हैं। आमतौर से इस फसल की उन्नत किस्मों का बीज कम बोया जाता है। देश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई उन्नत किस्मों का विवरण पृष्ठ 216-219 की **सारणी** में दिया गया है।

चटरी मटरी (*Lathyrus Sativus* L.)

यह फसल मुख्य रूप से चारे के लिए उगाई जाती है। विशेषत: अकाल के समय में, इसके दाने को दाल के रूप में इस्ते-माल किया जाता है। कभी-कभी इसकी कच्ची फलियों का उपयोग हरी सब्जी के रूप में भी किया जाता है।

देखा गया है कि आक्टा (Vicia sativa) नामक खरपतवार आमतौर से चटरी-मटरी के साथ उग आती है। इस खरपतवार के बीजों में एक विषैला एल्कोलाइड (क्षाराद्र) होता है जिसे यदि चटरी-मटरी के साथ मिलाकर दाल के रूप में खाया जाये तो मनुष्य के शरीर में लैथाइरिज्म नामक रोग पैदा हो जाता है और पशुओं को तो मृत्यु तक हो जाती है। अभी तक इन हानिकर प्रभावों का कारण स्वयं चटरी मटरी को समझा जाता था लेकिन हाल की खोजों ने इस बात को गलत सिद्ध कर दिया है।

पश्चिमी बंगाल, पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, मध्य गुजरात और दक्षिण के कुछ भागों में चटरी-मटरी को बड़े पैमाने पर उगाया जाता है।

मिट्टी और मौसम : जल धारण करने की क्षमता रखने वाली, निचली और भारी मिट्टी इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त है। गहरी काली मिट्टियों पर इसकी सबसे बढ़िया फसल होती है। यह एक ऐसी फसल है जो ऐसी अनुउपजाऊ धरती पर भी उगाई जा सकती है जिस पर अन्य दालें नहीं होतीं। यह ठंडे मौसम की फसल है और काली मिट्टी के तड़क जाने पर भी इसे अधिक हानि नहीं होती। इसे वर्ष की अकेली फसल के रूप में अथवा धान के बाद उगाया जाता है। इसकी बुआई सितम्बर-अक्तूबर में की जाती है और फरवरी या मार्च में यह काटी जाती है।

कृषि क्रियायें : अधिकांशत: चटरी तटरी को उस जमीन में उगाया जाता है जो खरीफ के मौसम में पानी में डूबी रहती है। खेत की अच्छी तैयारी करने के लिए वर्षा के तुरन्त बाद दो या तीन बार हल चलाया जाता है। बुआई छिटककर या कतारों में की जाती है। एक एकड़ के लिए 10-35 पौंड बीज की आवश्यकता होती है। छिटकवां विधि में बीजों की अधिक मात्रा की जरूरत होती है। धान के बाद दूसरी फसल के रूप में उगाने के लिए चटरी-मटरी के बीजों को खड़ी फसल के बीच में कटाई से कुछ दिन पूर्व बिखेर दिया जाता है। एक या दो बार हाथ से निराई भी की जाती है। निराई के समय अकटा घास को पूरी तरह हटा देना चाहिए। फसल पक जाने पर उसे हंसिया से काटा जाता है, फिर खलिहान में ले जाकर एक या दो सप्ताह तक सुखाया जाता है। इसके बाद बैलों की मदद से गहाई की जाती है। चटरी मटरी की औसत पैदावार 300-400 पौंड प्रति एकड़ है और अनुकूलतम दशाओं में 600-800 पौंड प्रति एकड़ तक पैदा की जा सकती है।

किस्में : निम्नलिखित दो उन्नत किस्मों की खेती मध्य प्रदेश और महाराष्ट्र में की जाती है :

नं० 9 : यह भूरे रंग की, बड़े बीज की अधिक उपज देने वाली किस्म है जो कि मध्य प्रदेश के उत्तरी और पूर्वी भागों के लिए उपयुक्त है।

नं० 11 : यह रंग, आकार और पैदावार में नं० 9 के समान ही है। यह महाराष्ट्र के नागपुर डिवीजन में उगाई जाने के लिए उपयुक्त है।

मूंग (*Phaseolus aurcus* Roxb.)

मूंग की फसल सारे देश में उगाई जाती है। मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, पंजाब, आंध्र प्रदेश, राजस्थान, मैसूर, और मद्रास के इलाकों में मूंग की सबसे अधिक पैदावार होती है।

मूंग की पौधाई प्रकृति बहुत कुछ लोबिया, मोठ और उड़द की फसलों के समान ही होती है। किन्तु यह (मूंग) उड़द और लोबिया से अधिक और मोठ से कम सूखारोधी फसल है।

मूंग की हरी फलियों को सब्जी के रूप में और दानों को दाल के रूप में प्रयोग करते हैं। इसका भूसा या छिलका पशु-आहार के रूप में प्रयोग किया जाता है। कहा जाता है कि अन्य दालों की अपेक्षा मूंग की दाल जल्दी पचने वाली होती है और भारीपन या मोटापा पैदा नहीं करती। साबुत मूंग सुखाकर, नमक लगाकर, चीनी के साथ अथवा उबाल कर मसालों के साथ भी खाई जाती है। मूंग की फसल भूमि को फिर से उपजाऊ बनाने का भी काम करती है।

मिट्टी और जलवायु : उत्तरी भारत में गहरी, जलनिकासयुक्त दुमट और जलोढ़ मिट्टियों में मूंग की फसल सबसे अच्छी होती है। दक्षिणी भारत की लाल और काली मिट्टियों में भी इसकी फसल अच्छी होती है। इसकी खेती हल्की या छिछली-पथरीली मिट्टियों से लेकर चिकनी मिट्टी में भी की जाती है।

मूंग के पौधों के लिए 25-30 इंच वर्षा की आवश्यकता होती है। फली आने के समय या उससे कुछ पहले अधिक वर्षा से भारी नुक्सान होता है। इस अवस्था में हवा में मौजूद अधिक नमी भी अच्छी उपज प्राप्त करने में रुकावट डालती है।

मौसम और फसल आवर्तन : मूंग की फसल अधिकतर खरीफ के मौसम में वर्षा वाले इलाकों में उगायी जाती है। महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और मैसूर के कुछ भागों में मूंग को धान के बाद दूसरी फसल के रूप में रबी के मौसम में भी उगाया जाता है। बंगाल में इसे कुछ तो दाल के लिए और कुछ हरी खाद के लिए अगेती (औस) धान के बाद उगाया जाता है। उप-पर्वतीय क्षेत्रों और उत्तर-पश्चिम हिमालय की निचली पहाड़ियों पर 6,000 फुट की ऊँचाइयों तक भी इसकी खेती होती है।

रबी के मौसम में मूंग आमतौर पर अकेली ही बोई जाती है जबकि खरीफ के मौसम में ज्वार, बाजरा, मक्का, रागी और कभी-कभी कपास के साथ भी इसे मिलाकर बोते हैं। ऐसी अवस्था में लम्बे पौधों वाली फसल मूंग की फलियों की सुरक्षा और छाया प्रदान करती हैं। खरीफ के मौसम में मूंग की अकेली फसल, गेहूं, रबी ज्वार, गन्ना अथवा शीतकालीन सब्जियों से पूर्व जायद फसल के रूप में उगाई जाती है।

कृषि क्रियायें : खरीफ के मौसम में विशुद्ध फसल के लिए जमीन पर एक या दो बार हल और हैरो चलाकर अच्छी तरह जुताई की जाती है। धान की फसल के बाद बोये जाने पर मूंग के लिए की गई जुताई इसके लिए भी पर्याप्त होती है। 100 से 150 पौंड प्रति एकड़ सुपरफास्फेट की खाद देने से पैदावार में फासफोरस के एक पौंड के पीछे 4-5 पौंड अन्न की वृद्धि होती है।

खरीफ की फसल जून या जुलाई में और रबी की फसल सितम्बर या अक्तूबर में बोई जाती है। छिटकवां तरीके से बोया गया बीज हल चलाकर मिट्टी से ढक दिया जाता है। इसके अलावा हल के पीछे मोघा बांध कर कूंड़ों में, बीजण यंत्र या सीड ड्रिल की मदद से 9-12 इंच की दूरी पर कतारों में बुवाई की जाती है। धान के खेतों में फसल कटाई से कुछ दिन पहले ही खड़ी फसल के बीच में मूंग की छिटकवां विधि से बुवाई की जाती है। अकेले बोने पर मूंग का बीज 10-15 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से बोया जाता है और मिश्रित फसल के रूप में बोने पर 2-6 पौंड प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है।

फसल के आरम्भ में एक बार हाथ से निराई और कभी-कभी साथ में गुड़ाई भी की जाती है। इसके बाद पौधे शीघ्र ही जमीन पर छा जाते हैं और घासपात को नष्ट कर देते हैं। फूल खिलने में लगभग 60 दिन का समय लगता है और इसके तीन या चार सप्ताह पश्चात् फसल पक कर तैयार हो जाती है।

फसल कटाई और पैदावार : कच्ची फलियों को तोड़कर हरी सब्जी के रूप में प्रयोग करते हैं। फसल के पकने में लगभग तीन महीने लगते हैं, परन्तु कुछ अगेती किस्में 60 दिन में भी तैयार हो

उत्तर प्रदेश में मूँग टाइप-1 ऊंची किस्म और अधिक उपज दोनों ही दृष्टि से उत्तम पायी गयी है। इसकी फसल बहुत जल्दी तैयार हो जाती है

ग्वार प्राय: जानवरों को खिलाने के लिए उगायी जाती है। इसकी फलियां सब्जी के भी काम आती हैं
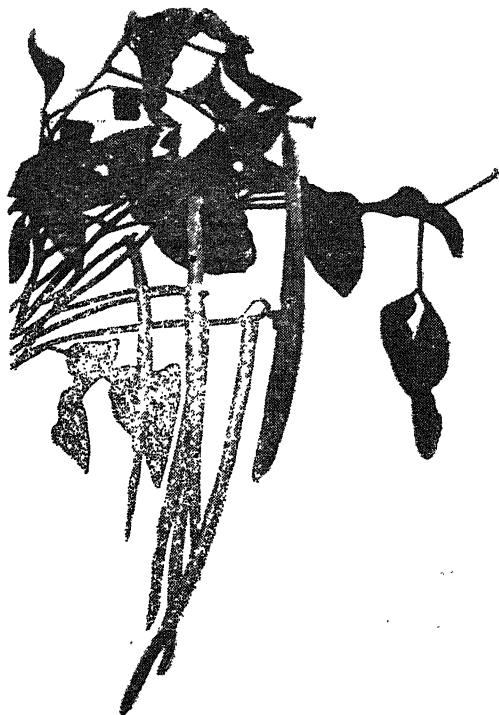
फलियों से लदी
उड़द की बेल

अरहर टाइप-1 का स्थान अब टाइप-21 ने ले लिया है
यह खाने और पकाने दोनों में अच्छी है
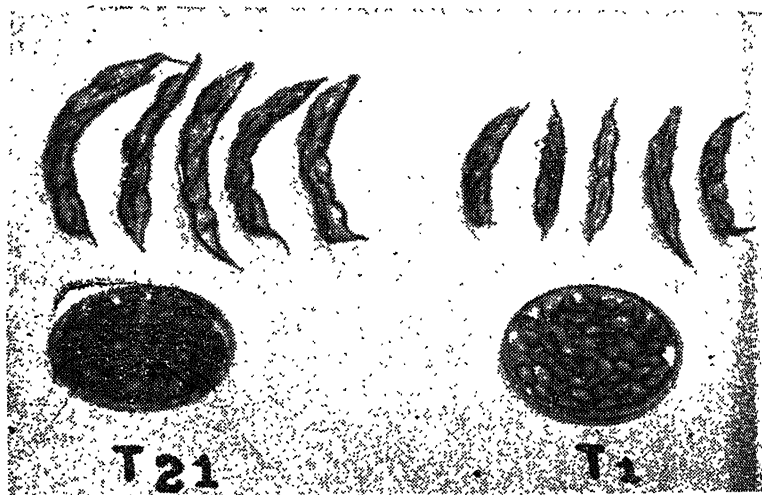
जाती हैं। फलियों के झड़कर गिरने से होने वाली हानि को रोकने के लिए फसल को पूरी तरह पकने से पहले ही काट लिया जाता है। पौधों को जड़ सहित उखाड़ते हैं या हंसिया से काटते हैं। इसके बाद खलिहान में एक सप्ताह या दस दिन तक सुखाते हैं और फिर बैलों से कुचलवा कर अथवा डंडों से पीट कर गहाई करते हैं। गहाई के बाद टोकरियों की मदद से बरसाई करते हैं। ऐसा करने से दाना और भूसा अलग-अलग हो जाते हैं।

विशुद्ध फसल के दानों की औसत पैदावार लगभग 500-600 पौंड प्रति एकड़ और मिश्रित फसल की पैदावार केवल 150 से 300 पौंड प्रति एकड़ होती है।

किस्में : मूँग की किस्मों का नाम आमतौर पर फसल पकने के समय के अनुसार रखा जाता है। भाद्रपद में तैयार होने वाली फसल के लिए भादवी और कार्तिक में तैयार होने वाली को कार्तिकी कहते हैं।

इसकी कुछ उन्नत किस्में ई०बी० 3, 7 ; टी-1 ; मूंग-49 ; आर० एस० 4, 37 ; बी० आर० 1, 4 आदि हैं।

कुल्थी (*Dolichos biforus* L.)

कुल्थी की खेती दक्षिण भारत में बड़े व्यापक रूप से होती है और इस फसल का सबसे अधिक क्षेत्रफल आन्ध्र प्रदेश, मैसूर और मद्रास राज्यों में है। बम्बई और मध्य प्रदेश में इसकी खेती बहुत कम की जाती है।

उत्तरी भारत में इस फसल को अधिक महत्व नहीं दिया जाता और इसके स्थान पर चना व मसूर की फसलें उगायी जाती

हैं । इसको मुख्यत: मवेशियों और घोड़ों को खिलाने के लिये उगाया जाता है । इससे सूखा चारा बहुत अच्छा बनता है और साथ ही यह हरी खाद के रूप में भी प्रयोग की जाती है ।

मिट्टी और जलवायु : क्षारीय मिट्टियों के अलावा कुल्थी को सभी मिट्टियों में उगाया जा सकता है । सामान्य वर्षा की अवस्था में (35 इंच से अधिक नहीं) इसे अक्तूबर-नवम्बर में बारानी फसल के रूप में उगाया जा सकता है । इसकी बुआई आमतौर पर जुलाई में की जाती है और अक्तूबर-नवम्बर में फसल पक कर तैयार हो जाती है किन्तु मद्रास के ऊंचे क्षेत्र में इसे अक्तूबर में तिल या किसी खाद्यान्न की अगेती फसल के बाद बोया और फरवरी में काटा जाता है ।

कृषि क्रियायें : इसे आरम्भिक जुताई की बहुत आवश्यकता नहीं होती, केवल एक या दो जुताई पर्याप्त होती है । इसे अकेले या बाजरा और तिल के साथ मिला कर बोते हैं । चारे के लिए इसे जायद फसल के रूप में भी उगाया जाता है ।

फलीदार फसल होने के कारण इस फसल को खाद नहीं दी जाती । किन्तु फास्फेटधारी उर्वरक देने से पैदावार में विशेष वृद्धि होती है ।

किस्में : इसकी वर्तमान डी० बी० 7 नामक किस्म की अपेक्षा कोयम्बटूर में चुनी गई किस्म नं० 35 विशेष रूप से अधिक पैदावार देने वाली पायी गयी है ।

मसूर (*Lens esculenta* Moench.)

मसूर की खेती समूचे उत्तरी भारत, मध्य प्रदेश और बम्बई के कुछ भागों में होती है । दक्षिण भारत में इसका महत्व बहुत कम है ।

दाल के रूप में मसूर का महत्व अरहर के समान और उड़द या मूँग से कम है। मसूर की कच्ची फलियां सब्जी के रूप में प्रयोग की जाती हैं और सूखी पत्तियां, डंठल, छिलका तथा दली हुई दाल पशु-आहार के रूप में काम में लाई जाती है। कश्मीर की घाटी में मसूर को धान की फसल में हरी खाद देने की दृष्टि से भी उगाया जाता है।

मिट्टी और जलवायु : उत्तरी भारत में मसूर की खेती हल्की दुमट और कछारी मिट्टियों में की जाती है, मध्य प्रदेश और बम्बई में जल निकासयुक्त, सामान्य रूप से गहरी और हल्की काली मिट्टियों में इसकी खेती की जाती है। इसे निचली और कमजोर मिट्टियों में भी उगाया जाता है। पंजाब में अक्सर इसकी खेती सैलाबी जमीन पर की जाती है। यह फसल (मिट्टी में) सामान्य मात्रा में क्षार की उपस्थिति सहन कर सकती है। मध्य प्रदेश और बम्बई की काली मिट्टी से लेकर कश्मीर में लद्दाख की 11,500 फुट की ऊँचाई तक इसकी खेती होती है।

मौसम और फसल आवर्तन : मसूर को शीत ऋतु में असिंचित फसल के रूप में उगाया जाता है। इसकी बुआई अक्तूबर से दिसम्बर तक की जाती है। पिछेती बुआई करने पर फसल को एक सिंचाई की आवश्यकता होती है। आमतौर पर इसे धान या ज्वार-बाजरा के बाद अकेले बोते हैं। परन्तु कभी-कभी इसे जौ और सरसों के साथ या दोनों के साथ मिलाकर उगाया जाता है। मान-सून के बाद परती जमीन पर इसकी फसल कम ली जाती है।

कृषि क्रियायें : मसूर के पौधे की आदतें और कृषि की आवश्यकताएं बहुत कुछ चने के पौधे के समान हैं। पंजाब और

उत्तर प्रदेश में मसूर की फसल के लिए खेत की कोई खास तैयारी नहीं की जाती। परन्तु अकेली फसल के रूप में बोये जाने पर केवल एक या दो बार जुताई की जाती है। काली मिट्टी के इलाकों में खेत को अच्छी तरह तैयार किया जाता है। बंगाल में उन स्थानों में धान की खड़ी फसल के बीच में इसको बोते हैं, जहाँ पर किसी प्रकार की आरम्भिक जुताई सम्भव नहीं है।

बुआई छिटक कर अथवा 9-12 इंच की दूरी पर कतारों में की जाती है। अकेली फसल के लिए 25-50 पौंड बीज की आवश्यकता होती है। मिश्रित फसल के लिए 15-25 पौंड प्रति एकड़ बीज पर्याप्त होता है। फसल में खाद नहीं दी जाती और न हाथ से निराई-गुड़ाई की जाती है। अक्सर मसूर के खेतों में चटरी-मटरी नामक खरपतवार उग आते हैं।

मसूर की फसल $3\frac{1}{2}$ महीने में पक जाती है। खूब पक जाने से पहले ही इसे काट लिया जाता है, फिर खलिहान में एक सप्ताह तक सुखाने के बाद अन्य दालों की भाँति ही गहाने और बरसाने की क्रियाएं की जाती हैं। असिंचित फसल की औसतन पैदावार 400-500 पौंड और सिंचित फसल की 800-900 पौंड प्रति एकड़ होती है। मिश्रित फसल की पैदावार अनुपात के अनुसार कम होती है।

किस्में : मसूर की अलग-अलग किस्में हैं जिनको निम्नलिखित बातों के आधार पर बाँटा जा सकता है : पौधों की आदतें, फूलों के रंग और आकार, बीजों के आकार तथा रंग की विभिन्नता, बड़े बीज की मसूर और छोटे बीज की मसूर की दो प्रचलित व्यापारिक किस्में हैं। मसूर की जिन उन्नत किस्मों के उगाने की सिफारिश की गई है वे पृष्ठ 229 की **सारणी** में दी गयी हैं।

मसूर की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
उत्तर प्रदेश	टी० 3	कुछ लाली लिए मटमैला रंग, धब्बेदार दाने, मध्यम समय में पकने वाली (अर्थात् न शीघ्र और न देर से)
दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्र	पूसा-11 पूसा-1	
बंगाल	डब्ल्यू० बी० 81	मध्यम आकार के भूरे रंग के बीज वाली, अधिक फली वाली
	डब्ल्यू० बी० 94	मध्यम आकार के भूरे रंग के बीज वाली अधिक फली वाली

मोठ (*Phaseolus aconitifolius* Jacq.)

खरीफ की फसलों में मोठ सबसे ज्यादा सूखा सहन करने वाली फसल है। इसे अधिकतर अंसिचित फसल के रूप में अकेली या ज्वार-बाजरा या कपास के साथ मिलाकर उगाया जाता है। इसे चारे के लिए ज्वार और बाजरे की सिंचित फसलों के साथ मिला कर भी उगाया जाता है। भूमि पर छा जाने की प्रवृत्ति के कारण यह रेतीले क्षेत्रों में हवा से होने वाले भू-क्षरण को रोकने में अधिक लाभदायक सिद्ध हुई है। इसे कभी-कभी हरी खाद के रूप में भी काम में लाया जाता है। इसकी हरी फलियों की सब्जी बनायी जाती है। मोठ उगाने वाले क्षेत्रों में इसको दाल के रूप में उपयोग किया जाता है। इसका पौधा हरे और सूखे, दोनों रूप में, चारे के काम आता हैं।

मोठ की फसल देश के सभी भागों में उगाई जाती है। कुल क्षेत्रफल का 4/5 भाग राजस्थान में है जहां कुल वार्षिक उत्पादन का 3/4 भाग पैदा होता है। इसके अलावा उत्तर प्रदेश, पंजाब और बम्बई मोठ के अन्य महत्वपूर्ण उत्पादक क्षेत्र हैं।

मिट्टी और जलवायु : मोठ की खेती अधिकतर जल निकास-युक्त कमजोर मिट्टियों से लेकर कछारी और भारी दुमट मिट्टियों में की जाती है। दक्षिण में इसे हल्की, पथरीली या कुछ पहाड़ी मिट्टियों में उगाया जाता है। इसके लिए सामान्य वर्षा लाभदायक होती है। भारी वर्षा से इस फसल को हानि पहुंचती है।

कृषि क्रियायें : इसकी खेती मूंग और उड़द की भांति ही की जाती है। जून या जुलाई में मानसून की वर्षा के साथ बुआई

आरम्भ होती है। छिटकवां विधि से अकेले बोने के लिए प्रति एकड़ 10-15 पौंड बीज की आवश्यकता होती है। मिश्रित फसल के लिए 2-10 पौंड प्रति एकड़ बीज पर्याप्त होता है। फसल की निराई नहीं की जाती। अक्तूबर-नवम्बर में फसल पक कर तैयार हो जाती है। पके पौधों को हँसिये से काटकर एक सप्ताह तक सुखाने के बाद बैलों से गहाई करवाई जाती है और बरसाई करके दाना अलग किया जाता है। दाल की औसतन पैदावार 200-500 पौंड प्रति एकड़ होती है।

किस्में : हरे और काले रंग के बीजों के अनुसार इसकी दो किस्में होती हैं। इनमें हरी किस्म अधिक प्रचलित है।

अरहर (*Cajanus cajan* Sprengl.)

अरहर का व्यापक प्रयोग दाल के रूप में और उसकी हरी फलियों का सब्जी के रूप में किया जाता है। प्रोटीन देने वाले खाद्य के रूप में मध्य और दक्षिणी भारत में यह आम दैनिक आहार है। इसकी हरी पत्तियों और पौधे के ऊपरी भाग को पशुओं के चारे अथवा हरी खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। फलियों के छिलके अथवा भीतरी भाग के कुछ अंश सहित बीजों को पशुओं के लिए बढ़िया दाना माना जाता है। गाहने के बाद सूखे डंठलों को टोकरी बनाने, ईंधन या छप्पर बनाने के काम में लाया जाता है। गहरी जड़ वाली फसल होने के कारण भूमि की निचली परत को तोड़कर भूमि में नया जीवन लाने की दृष्टि से और भू-क्षरण रोकने के लिए इसे झाड़ी के रूप में भी उगाया जाता है।

भारत के प्रायः हर राज्य में अरहर उगाई जाती है। प्रति वर्ष इसकी फसल लगभग 59 लाख एकड़ भूमि पर बोई जाती है, जिससे लगभग 17 लाख टन दाल की उपज प्राप्त होती है।

मिट्टी और जलवायु : गंगा और जमना की जलोढ़ मिट्टियों से लेकर बम्बई और मध्य तथा दक्षिणी भारत की सभी प्रकार की काली मिट्टियों में जिनमें चूने का अभाव न हो, प्रायः इसकी खेती की जा सकती है। किन्तु जलनिकास युक्त हल्की से मध्य किस्म की मिट्टियों में, जिनमें जड़ों के विकास के लिए पर्याप्त नमी रह सकती है, अरहर की फसल सबसे अच्छी होती है।

शुष्क और अर्ध-शुष्क दोनों प्रकार की जलवायु में इसे उगाया जा सकता है। उत्तरी भारत के कुछ भागों में जहाँ सूखी जलवायु है वहाँ इसकी फसल के लिए सिंचाई की व्यवस्था करनी होती है। फलियों के आने और पकने की अवस्था में धूप और खुले मौसम की आवश्यकता होती है। अरहर के पौधे पाले तथा अधिक पानी को सहन नहीं कर सकते। पाले से बचाने के लिए कभी-कभी फसल की सिंचाई भी की जाती है।

फसल आवर्तन : यद्यपि अरहर वर्षानुवर्षी फसल है, परन्तु वार्षिक फसल के रूप में ही यह उगायी जाती है। अरहर अकेली बहुत कम बोयी जाती है। इसे अधिकतर ज्वार, बाजरा, मकई, रागी, कपास, मूँगफली या खरीफ की अन्य फसलों के साथ सहायक फसल के रूप में उगाया जाता है। पंजाब में गन्ना और कपास के चारों ओर अरहर की फसल उगाई जाती है।

कृषि क्रियायें : मिश्रित फसल के रूप में उगाने पर मुख्य फसल के लिए की जाने वाली आरम्भिक जुताई ही अरहर के लिए

पर्याप्त समझी जाती है। अरहर की अकेली फसल के लिए भूमि की एक बार हल से और दो या तीन बार हैरो से जुताई की जाती है ताकि खेत की मिट्टी पूरी तरह भुरभुरी हो जाए। जून और जुलाई में वर्षा आरम्भ होने पर बुवाई की जाती है। मैसूर के कुछ भागों में अगेती रागी के साथ मई के महीने में अरहर बोई जाती है। मामूली सर्दी वाले क्षेत्रों में इसे कभी-कभी रवी की फसल के रूप में सितम्बर या अक्तूबर में भी बोया जाता है।

अरहर की अकेली फसल की जुताई छिटकवां तरीके से अथवा कतारों में की जाती है। मिश्रित फसल की बुआई हमेशा कतारों में ही की जाती है इसके लिये मुख्य फसल जैसे ज्वार, बाजरा तथा कपास आदि की चार से दस लाइनों के बाद एक लाइन अरहर की बोई जाती है। कभी-कभी बुआई से पूर्व सभी बीजों को मिला लिया जाता है। कतारों की बुआई में हल के पीछे कूँडों में बीज को हाथ से डाला जाता है अथवा देशी हल के साथ लगी हुई नली या पोरा द्वारा बोया जाता है। अकेली फसल की कतारों में बुआई मध्य और दक्षिणी भारत में 14-15 इंच की दूरी पर और बिहार तथा उत्तर प्रदेश में 18-24 इंच की दूरी पर की जाती है। मिश्रित फसल के लिए 1 से 5 पौंड प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है, जबकि अकेली फसल के लिए 12-20 पौंड बीज प्रति एकड़ काफी होता है।

अरहर की अकेली फसल की निराई-गुड़ाई बहुत कम की जाती है, परन्तु मिश्रित फसल में मुख्य फसल के लिए की जाने वाली निराई-गुड़ाई से लाभ होता है। निराई करते समय कतारों में पौधों को छिदरा कर दिया जाता है और प्रत्येक पौधे के लिए हल्की

भूमि में 12 इंच और उपजाऊ भूमि में 24 इंच का फासला रक्खा जाता है। जब तक खाद्यान्न या अन्य मुख्य फसल को काट कर खेत से अलग नहीं कर लिया जाता तब तक अरहर के पौधों का विकास बहुत कम होता है। मुख्य फसल के कट जाने के बाद अरहर की शाखायें स्वतन्त्रतापूर्वक बढ़ती हैं और उनमें खूब फल लगते हैं। अन्न की फसल के कट जाने के बाद बीच की भूमि की जुताई हल या हैरो से की जाती है, ताकि फसल के पनपने में सुविधा हो सके। अक्तूबर या नवम्बर में फूल खिलने आरम्भ होते हैं और अगले दो तीन महीने तक लगातार खिलते रहते हैं। जनवरी और मार्च के बीच एक ही डाल पर फूल और पकी हुई फलियाँ एक साथ पाई जाती हैं।

कटाई और पैदावार : फसल के पकने में 7-10 महीने लगते हैं। थोड़े-थोड़े समय के अन्तर पर हाथ से फलियां तोड़ ली जाती हैं। अंत में अधिकांश पत्तियों के सूखने और झड़ जाने पर भूमि की सतह से पौधों को काट कर गट्ठरों में बाँधकर, गाड़ियों में लाद कर खलिहानों में पहुँचाया जाता है। यहाँ उन्हें सुखाने के लिए खड़ा कर दिया जाता है और फिर जोर से हिलाया जाता है। इस प्रकार प्राप्त सामग्री (फलियाँ और सूखी पत्तियाँ) को डंडों से पीटते हैं अथवा इसे बैलों की मदद से गाहते हैं। बरसाई की क्रिया द्वारा बीज और उनका छिलका अलग किया जाता है। साफ बीजों को आमतौर पर मिट्टी के बर्तनों में भर कर रखा जाता है और बर्तनों के मुँह पर बालू की तह लगा दी जाती है।

मिश्रित सूखी फसल के दाने की औसतन पैदावार 200-800 पौंड प्रति एकड़ होती है। अमिश्रित अथवा सिंचित फसल की पैदावार 1,500-1,800 पौंड प्रति एकड़ तक हो सकती है।

अरहर की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
उत्तर प्रदेश	टाइप-1	हल्के भूरे रंग का बीज, शीघ्र पकने वाली ।
	टाइप-17	हल्के भूरे रंग का बीज, देर में पकने वाली, सूखारोधी अधिक उपज वाली, बहुत स्वादिष्ट ।
	एन० पी० सी० 15 (डब्ल्यू० ई०)	सफेद बीज वाली, पकाने में उत्तम, देर से पकने वाली, सूखारोधी ।
मध्य प्रदेश	नं० 148	मध्यम आकार का लाल रंग का बीज, ज्यादा पैदावार, सूखा सहने वाली ।
	ग्वालियर-3	मोटा हल्के पीले रंग का बीज, देर से पकने वाली, ग्वालियर और उसके आस-पास के जिलों के लिए उपयुक्त ।
	उज्जैन-7	मोटा हल्के रंग का बीज, शीघ्र पकने वाली ।
दिल्ली	एन० पी० 15	मध्यम आकार, सफेद बीज, पिछेती पकने वाली, सूखारोधी, पकाने में उत्तम ।
	एन० पी० सी०-15 (डब्ल्यू० ई०)	

राज्य	किस्म	विशेष गुण
	एन० पी० 41	मध्यम आकार का बीज, भूरे धब्बों वाली, देर में पकने वाली ।
	पी०-3	मोटा भूरे रंग का बीज, सामान्य अवधि में पकने वाली, सूखारोधी, पकने में उत्तम ।
राजस्थान	एन० पी० 15	
बिहार	अगेती, फैलने वाली किस्में	
	बी० आर० 13	धब्बों वाला गहरा बैंगनी रंग का बीज ।
	बी० आर० 59	गहरे बैंगनी रंग का बीज ।
	बी० आर० 182	लाल धब्बों वाला सफेद बीज ।
	बी० आर०183	चाकलेट रंग का बीज ।
	सीधे पौधों वाली	
	मध्य पिछती किस्में	
	बी० आर० 60, 65 और 71	कुछ भूरे या लाल रंग के बीज, अगेती फसलों से दुगनी उपज देने वाले ।
	पिछेती	
	बी० आर० 15	सफेद रंग के बीज वाले, फैलने वाले पौधे ।
	बी० आर० 75	भूरे रंग के बीज वाले, फैलावदार पौधे ।

राज्य	किस्म	विशेष गुण
	बी० आर० 10	भूरे रंग के बीज वाले, सीधे पौधे ।
	बी० आर० 17	पूर्ण रूप से भूरे रंग के बीज वाले, सीधे पौधे ।
	एन० पी० 15	
बम्बई	टी० 84	नासिक, अहमद नगर और खानदेश के लिए उत्तम ।
	एफ० 18 और 62	अधिक उपज वाली, सूखारोधी ।
	एन० पी० 15	मराठवाडा जिलों के लिए उत्तम है।
आंध्र प्रदेश	एन० पी० 15; सी-11	सी-11 सूखारोधी ।
मद्रास	एस० ए० 1	दक्षिणी और केन्द्रीय जिलों के लिए उत्तम ।
मैसूर	टोगरे-1	चित्तलदुर्ग जिले को छोड़ कर अन्य जिलों के लिए उपयुक्त ।
	गार्डन टोगरे	झाड़ीदार बारहमासी पौधा, बड़ा बीज ।
बंगाल	केज नं० 7	मोटा, चांदी जैसा चमकीला हल्का भूरे रंग का बीज, फैलावदार पौधे, शीघ्र पकने वाली, जलोढ़ और लैटराइट मिट्टियों के लिए उपयुक्त ।
	एन० पी० सी० 15 (डब्ल्यू० ई०)	

किस्में : अरहर की अनेक किस्में प्रचलित हैं। पौधों की ऊँचाई, प्रकृति और पकने के ढंग, फलियों और बीजों के रंग, आकार और रूप अथवा सूखा जैसी बीमारियों का मुकाबला करने की क्षमता के आधार पर इसकी किस्मों का वर्गीकरण किया गया है। राज्यवार उन्नत किस्में पृष्ठ 235-237 की **सारणी** में दी गई हैं।

शक्कर और स्टार्चधारी फसलें

भारत में शक्कर बनाने का मुख्य साधन गन्ना है, स्टार्चधारी फसलों में टैपिओका जिस की जड़ें खाने के काम आती हैं, का विशेष स्थान है।

गन्ना (*Saccharum officinarum* Linn.)

गन्ने की खेती प्रति वर्ष लगभग 45 लाख एकड़ भूमि पर होती है। और इससे लगभग 62 लाख टन गुड़ का उत्पादन होता है।

गन्ने की अधिकतम पैदावार उत्तर प्रदेश में होती है। यहाँ गन्ने की खेती के अर्न्तगत इसकी कुल भूमि का 60 प्रतिशत और कुल उत्पादन का 50 प्रतिशत भाग है।

मिट्टी : गन्ने की सबसे अधिक उपज अच्छी जलनिकास वाली मध्यम-भारी भूमि पर होती है किन्तु हल्की मिट्टी पर भी जिनमें बहुत अधिक कार्बोनेट पदार्थ और नमी होती है, इसकी अच्छी फसल होती है। गीली और कड़ी भूमि इसके लिए अनुपयुक्त पाई गई है। उत्तर भारत में गन्ने की खेती अधिकतर गंगा-सिंधु के मैदान में बाढ़ों से आई हुई दुमट और मटियार दुमट मिट्टी पर होती है और मध्य तथा दक्षिण भारत में भूरी या लाल दुमट मिट्टी

लैटराइट और कपास वाली काली मिट्टी पर होती है। बहुत से स्थान ऐसे हैं जहाँ मुरूम (एक प्रकार की चट्टानी मिट्टी) मिट्टी की तह पर 4—5 फुट गहरी उपजाऊ चिकनी दुमट मिट्टी होती है; उन स्थानों पर गन्ने की फसल उगाई जाती है। लगातार पानी भरे रहने से अथवा क्षारयुक्त होने के कारण जो जमीनें इस फसल के लिए अनुपयुक्त हो गई हैं उन भारी जमीनों पर भी जल-निकास की समुचित व्यवस्था हो जाने पर इसकी दुबारा खेती शुरू की जा सकती है।

जलवायु : गन्ने की फसल के लिए गर्म और कुछ कम गर्म जलवायु वाले क्षेत्र जहाँ सालाना बारिश औसतन 30-40 इंच होती है, सबसे बढ़िया पाई गयी है। उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, बंगाल और आसम के अपेक्षाकृत अधिक बरसाती (50-70 इंच प्रतिवर्ष) इलाकों में इस फसल के लिए सिंचाई की जरूरत नहीं पड़ती, फिर भी बहुत वर्षा और बहुत दिनों तक लगातार गर्म और सूखे मौसम का फसल पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अधिक वर्षा से गन्ने में शक्कर का अंश कम हो जाता है और ज्यादा सूखा पड़ने से गन्ने में अधिक रेशा पैदा हो जाता है।

गन्ने की फसल बुआई से पकने तक 10 से 12 महीने का समय लेती है और फसल को वर्ष के अधिकांश भाग में गर्म-नम मौसम चाहिए। 65° फैरेनाइट से नीचे और 90° फैरेनाइट से ऊपर के तापमान में पौधों का विकास रुक जाता है और पाला अक्सर घातक सिद्ध होता है। फिर भी, पंजाब और उत्तर प्रदेश के उप-पर्वतीय जिलों में बहुत सर्दी और गर्मी की हालत में अपेक्षाकृत शीघ्र पकने वाली किस्मों से अच्छी फसल होती है। गन्ने

की फसल के लिये मध्य तथा दक्षिण भारत की जलवायु आदर्श है, किन्तु भारत में गन्ने की वार्षिक खेती के अन्तर्गत कुल भूमि का केवल 14.4 प्रतिशत भाग इस क्षेत्र में आता है। दक्षिण भारत में गन्ने की खेती अधिक न करने का मुख्य कारण यह है कि वहाँ पर सिंचाई पर अधिक खर्चा आता है और ईख के लिये काफी सिंचाई की जरूरत पड़ती है। इसलिए दक्षिण भारत के किसान धान जैसी कम खर्च और कम समय में पैदा होने वाली फसल को स्वभावतः प्राथमिकता देते हैं।

फसल चक्र : उत्तरी भारत में मक्का, गेहूं, कपास, चना, मूँग-फली, अन्य तिलहन, चारे की फसल, तम्बाकू, मटर और अन्य सब्जियों के साथ तथा पूर्वी राज्यों में धान के साथ गन्ने की फसल का हेर-फेर रखा जाता है। एक जमीन पर अक्सर तीन या चार साल में केवल एक ही बार गन्ने की फसल उगाई जाती है। लेकिन यह बात तब लागू नहीं होती जब कि गन्ने की फसल पेड़ी से उगाई जाए। मध्य और दक्षिण भारत में आमतौर पर गन्ने की फसल का क्रम धान के साथ रखा जाता है। कई स्थानों पर जहाँ गन्ने की सिंचाई कुओं से की जाती है, इसका आर्वतन आलू, मिर्च, शकरकन्दी, अदरक, प्याज, हल्दी, रतालू, अरबी और यहाँ तक कि केला और पान की बेल के साथ भी रखा जाता है। कई जगह खास तौर पर बड़े शहरों के निकट जब गन्ने के पौधे छोटे होते हैं तो मेड़ों पर जल्दी उगने वाली व्यापारी सब्जियाँ, जैसे प्याज, मूली, धनिया, हरी सब्जियाँ और खीरा बोया जाता है। मैसूर और बम्बई के उन इलाकों में जहाँ नहरों से सिंचाई होती है सिंचाई के लिए भूमि के हिस्से कर लिए जाते हैं ताकि खेतों में जरूरत से ज्यादा पानी न भरा रहे और मलेरिया पर भी

नियंत्रण रखा जा सके। साथ ही, कई फसलों को सफलतापूर्वक एक साथ उगाने और नहरी जल के अपव्यय को रोकने की दृष्टि से भी सिंचाई का यह तरीका अपनाया गया है। इस सिंचाई व्यवस्था के लागू करने के लिये विभिन्न फसलों का आगे लिखा तीनवर्षीय क्रम अनिवार्य है: (क) मैसूर में प्रचलित धान, मूँगफली, ज्वार, रागी, सन इत्यादि की सूखी या हल्की सिचाई से की गई फसल और फिर गन्ना उगाना, (ख) बम्बई में प्रचलित रिवाज, गन्ना, ज्वार, मूँगफली, कपास और हरी खाद का उगाना और (ग) तेलंगाना (आंध्र प्रदेश) में गन्ना (पौधा), गन्ना (पेड़ी) धान (बरसात), धान (सर्दी में बोया गया) और सन (हरी खाद) के क्रम को अपनाना।

पूर्व तैयारी : गन्ने की खेती के लिए जमीन की अच्छी तैयारी जरूरी है। मोल्ड बोर्ड हलों से एक या दो गहरी जुताई और एक जुताई आरपार की जानी चाहिए। इसके बाद ढेले तोड़ने के लिए डिस्क हैरो, एक जूनियर कल्टीवेटर, एक बीम क्लौड क्रशर और यहां तक कि लकड़ी की बनी मूँगरियों या मजबूत डंडों को काम में लाया जाता है। खूँटों और घासपात को पूरी तरह निकाल बाहर करना जरूरी है। अच्छी फसल प्राप्त करने के लिए देशी हल से 10 या 11 बार जुताई की जाती है। बुआई के तरीके और जमीन के उपजाऊपन के अनुसार तीन, चार या पांच फुट की दूरी पर लगातार डबल मोल्ड-बोर्ड रिजिंग हल से अथवा कुदालियों और खुरपों से मेड़ें, नालियां या खाइयां बनाई जाती हैं। नालियां लगभग 12 इंच चौड़ी और 9 इंच गहरी होती हैं। इसी प्रकार खाइयां लगभग दो फुट चौड़ी और 6 से 8 इंच गहरी होनी चाहिएँ। गन्ने के फार्मों

में गहरी जुताई. ढेले तोड़ने, पटरा चलाने और मेड़ बनाने का सारा काम ट्रैक्टरों तथा उनके औजारों से किया जाता है ।

जिन इलाकों में गन्ने के लिए हरी खाद उगाई जाती है, गन्ना बोने से एक महीने पहले उसकी जुताई खेत में की जानी चाहिए । इसी प्रकार मेड़ बनाने से पहले गोबर की खाद, कम्पोस्ट (कूड़ा खाद) अथवा दूसरी धीरे असर करने वाली हरी खादें इस्तेमाल की जानी चाहिएँ । सिंचाई और धान की निकासी का भी पहले से ही उचित प्रबन्ध कर लेना चाहिए ।

बुआई का मौसम : इकसाली फसल के लिए गन्ना आमतौर पर दिसम्बर से अप्रैल तक, कई बार मई तक भी बोया जाता है । सर्दी खत्म होने और गर्मी शुरू होने पर बुवाई शुरू की जानी चाहिए जो पूरी तरह गर्मी पड़ने से पहले ही समाप्त हो जानी चाहिए। पंजाब के लिए मार्च का पहला पखवाड़ा, उत्तर प्रदेश और बिहार के लिए जनवरी - फरवरी तथा बम्बई व दक्षिण भारत के लिए दिसम्बर से फरवरी तक बुवाई का सबसे बढ़िया मौसम होता है । बुआई जल्दी करने से अधिक और उत्तम किस्म का गन्ना पैदा होता है । बुवाई में देर करने से गन्ने में तना-छेदक कीड़े लगने का डर रहता है । मध्य और दक्षिण भारत के कुछ भागों में, विशेषकर चीनी मिलों के अपने खेतों और उनके आस-पास के इलाकों में चीनी बनाने के लिए एक लम्बे अरसे तक अच्छा पका गन्ना मिलता रहे, इस दृष्टि से आगे लिखे दो मौसमों में भी गन्ना बोया जाता है : (1) अक्तूबर-नवम्बर और (2) जुलाई से सितम्बर। बरसात में बोई फसल के पकने में 16 से 18 महीने लगते हैं जबकि मौसम में या मौसम से पहले बोई फसल पकने में 10 से 12 महीने लेती है ।

बीज : अच्छी पैदावार के लिए स्वस्थ और नीरोग बीज आवश्यक हैं। अच्छी खाद से पैदा किए गए 10-11 महीने के स्वस्थ और मोटे गन्नों के ऊपरी भाग या अगौले से नीचे का चौथाई से आधा हिस्सा तक बीज के रूप में काम में लाया जाना चाहिए। गन्ने के निचली हिस्से को, जिसमें शक्कर-अंश अधिक होता है, चीनी या गुड़ बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाना चाहिए। बम्बई, आंध्र प्रदेश, मैसूर और मद्रास के कुछ इलाकों में ईख की खेती भी पौध लगाकर की जाती है। इसके लिए विशेष पौधशालाओं में गन्ने की पौद उगायी जाती है और उसको खूब खाद दी जाती है। जब फसल लगभग 6 महीने की हो जाती है तो अधपके गन्ने को काट लिया जाता है और उनकी पोरियां बुआई के काम में लाई जाती हैं।

बीज के लिए गन्ने के टुकड़ों को इस प्रकार काटा जाता है जिससे एक टुकड़े में तीन पोरियां आ जाएँ। उनकी लम्बाई 15 से 25 इंच तक की होती है। यदि बीज को दूर तक पहुंचाना है तो पत्ती सहित बिना छिले पूरे गन्नों को ही ले जाना चाहिए। यदि बीज को कुछ समय के लिए भंडारित करना जरूरी है तो उसे फूस या गन्ने की पत्ती और खोई की मोटी तह से ढक कर छाया में रखना चाहिए और समय-समय पर पानी छिड़कते रहना चाहिए, और फफ़ूँदी बीमारियों से बीज को सड़ने से बचाने के लिए 0.1 प्रतिशत मरक्यूरिक क्लोराइड या 1 प्रतिशत फार्मेलीन या 1 प्रतिशत बोर्डो मिश्रण अथवा 40 गैलन जल में 1 पौंड पेरिनौक्स दिया जाना चाहिए।

पौधों की कतारों की परस्पर दूरी और पोरियों की स्वस्थता और शक्ति के अनुसार सामान्यतः एक एकड़ भूमि के लिए 8 से 12

हजार तीन पोरियों वाले टुकड़े काफी होते हैं। गन्ने के मोटेपन या पतलेपन के अनुसार तीन पोरियों वाले लगभग 10,000 टुकड़े बनाने के लिए डेढ़ से तीन टन तक गन्ने की आवश्यकता होती है। मद्रास में प्रति एकड़ तीन पोरियों वाले 12 से 15 हजार टुकड़ों की बुआई से अच्छी फसल प्राप्त होती है। इसके विपरीत पंजाब में दो फुट की दूरी पर लगाई गई पंक्तियों में दो पोरी वाले प्रति एकड़ 40,000 टुकड़ों की बुआई बहुत अच्छी सिद्ध हुई है। देर की बुआई में 50 प्रतिशत अधिक बीज लगाया जाता है ताकि पास-पास पौधे उग सकें।

बुआई के तरीके : बुआई के लिए आमतौर पर तीन तरीके काम में लाये जाते हैं : (1) समतल भूमि पर बुआई : तीन या चार फुट की क्रमिक दूरी पर एक देशी हल से कम गहरी कूंड़े बनाई जाती हैं और उनमें पोरियों को एक सिरे से दूसरे सिरे तक दो या तीन इंच मिट्टी से ढक दिया जाता है।

(2) नालियों में बुआई : मौसमी तथा मौसम के पूर्व की बुवाई में पोरियों को नालियों के बीच में एक सिरे से दूसरे सिरे तक बोया जाता है, लेकिन बरसात की बुआई में उन्हें कूंड के एक ओर बोया जाता है।

(3) खाइयों में बुआई : खाई के बीच में खुदी हुई कम गहरी नाली में पोरियाँ उसी प्रकार रखी जाती हैं जिस प्रकार समतल भूमि में बोई जाती हैं।

समतल बुआई मैसूर के मालनाड क्षेत्र और उत्तर प्रदेश के शाहजहांपुर क्षेत्र की हल्की मिट्टियों में प्रचलित है। पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और समूचे दक्षिणी क्षेत्र में नालियों में, बुवाई

की जाती है। तटवर्ती जिलों में खाई में बुग्राई का तरीका प्रचलित है, वहाँ गन्ना बहुत लम्बा होता है ग्रौर तेज हवाएँ चलती हैं।

बुआई सूखी या पलेवा की हुई गीली दोनों प्रकार की धरती में की जाती है। सूखी धरती में पोरियों को डालने के तुरन्त बाद सिंचाई की जाती है। गीली बुवाई में पहले पानी नालियों या खाइयों में छोड़ा जाता है ग्रौर फिर गीली धरती में पोरियों को हाथ या पैर से रोपा जाता है।

जिन इलाकों में फसल को दीमक से नुक्सान पहुँचने की सम्भावना हो वहाँ बुग्राई से पूर्व नालियों में प्रति एकड़ 5 प्रतिशत बी० एच० सी० चूर्ण 30 से 50 पौंड दिया जाना चाहिए।

कई इलाकों में गन्ने के खेत के चारों ग्रोर ग्रण्डी या तूर बोकर गन्ने को तेज हवाओं से बचाया जाता है।

सिचाई : ग्रधिक पैदावार के लिए फसल बढ़ने के दौरान सभी हालतों में भूमि में काफी मात्रा में नमी का बना रहना परमावश्यक है। ग्रत: गन्ना उन इलाकों में बोया जाना चाहिए जहाँ कि पर्याप्त वर्षा होती हो ग्रथवा सिंचाई के पर्याप्त साधन हों। जमीन, मौसम, गन्ने की किस्म, बोने के तरीके ग्रौर खाद के ग्रनुपात को देखते हुए फसल से पूरा लाभ प्राप्त करने के लिए कुल 80 से 120 इंच जल की ग्रावश्यकता होती है, जिसमें वर्षा का जल भी शामिल है। सूखी बुग्राई में पहले दो बार तीन या चार दिन के ग्रन्तर से पानी दिया जाना चाहिए। पलेवा की हुई बुग्राई की फसल में पहली सिंचाई पौधों में अंकुर निकल जाने के बाद की जानी चाहिए। बाद में हल्की जमीनों (रेतीली मिट्टी) पर ग्राठ से दस दिन के अंतर पर सिंचाई की जानी चाहिए ग्रौर भारी मिट्टी (चिकनी मिट्टी)

पर दो से तीन सप्ताह के बाद पानी दिया जाना चाहिए। लम्बे अन्तर से भारी सिंचाई की अपेक्षा बीच-बीच में हल्की सिंचाई लाभकारी पाई गई है। परन्तु फसल पकने के समय (नवम्बर से फरवरी अथवा मार्च तक) दीर्घ अन्तर से की गई सिंचाई अधिक लाभदायक होती है।

निराई-गुड़ाई आदि : बुआई के तीन या चार सप्ताह बाद गुड़ाई द्वारा धरती को मुलायम बनाने और घास-पात साफ करने का प्रथम क्रम आरम्भ होना चाहिए। खेत की हालत और सिंचाई की मात्रा को देखते हुए बुआई के प्रथम तीन महीनों में दो या तीन बार गुड़ाई द्वारा फिर धरती को मुलायम बनाया जाना चाहिए। इसके लिये खेत में लगी घास-फूस को पूरी तरह से उखाड़ फेंकना चाहिए। ब्लेड हैरो, जूनियर हो, हल और रिजर द्वारा मिट्टी निकालने, चढ़ाने या खाद डालने, खरपतवार निकालने से खर्च कम होता है। वर्षा आने से पूर्व अंतिम बार मिट्टी चढ़ाने का काम पूरा हो जाना चाहिए। इसी समय खाद की दूसरी अथवा अंतिम मात्रा भी दी जानी चाहिए।

चार या पाँच महीने बाद ऊपर निकल आने वाली जड़ें हटा दी जानी चाहिएँ। पौधों को ढक देने से चूहों से बचाव होता है और उनके वहाँ रहने की सम्भावना भी कम हो जाती है।

खाद : गन्ना धरती से भारी खुराक लेता है। 30 टन प्रति एकड़ की एक फसल धरती से 80 से 105 पौंड तक नाइट्रोजन, 75 से 315 पौंड तक फास्फोरिक एसिड, 63 से 180 पौंड तक पोटाश और 66 से 75 पौंड तक कैल्शियम खींच लेती है। लगातार अच्छी पैदावार के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद देना बहुत जरूरी है।

भारत में आजकल गन्ने की खेती के अन्तर्गत कुल क्षेत्र के केवल दसवें भाग में ही खाद दी जाती है, और वह भी अक्सर अपर्याप्त मात्रा में । क राज्यों में गीली चिकनी मिट्टी, चिकनी दुमट मिट्टी अथवा हल्की रेतीली मिट्टी को सुधारने के लिए क्रमशः रेत, लाल मिट्टी अथवा तालाबों के नीचे जमी मिट्टी की तीस चालीस बैल-गाड़ियों का प्रति एकड़ दी जाती हैं ।

गन्ने को उत्तर प्रदेश में प्रति एकड़ 120 पौंड, मद्रास में 250 पौंड और मैसूर में 400 पौंड की नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है । आधे से दो तिहाई नाइट्रोजन की मात्रा खेत की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद, पेड़ की पत्तियों अथवा कारखाने में दबाई हुई कीचड़ के रूप में बुआई से काफी पहले दी जानी चाहिए और शेष अमोनियम सल्फेट अथवा खली के रूप में अथवा दोनों को मिलाकर बुआई के समय और ऊपर छिड़कने के लिए एक या दो मात्रा काम में लानी चाहिए । यद्यपि हरी खाद की एक एकड़ की खेती में 40 से 50 पौंड फासफोरस के प्रयोग की सलाह दी जाती है, फिर भी गन्ने में सीधा सुपरफास्फेट देने से गन्ने में परिपक्वता शीघ्र आती है और गुड़ बढ़िया किस्म का बनता है ।

फसल कटाई : फसल पक जाने का अनुमान आमतौर पर गन्ने के सिरे की पत्तियों के पक कर मुरझा जाने से किया जाता है और परिपुक्वता की परीक्षा के लिए एक गन्ने के रस को उबाल कर गुड़ की किस्म का अन्दाज़ लगाया जाता है अथवा सैकारोमीटर पर 20° से 22° तक पहुँचने पर इसका पता चलता है । 0·5 प्रतिशत अथवा इससे कम शक्कर का तत्व रखने वाले गन्नों को मिलों में भेजने योग्य समझा जाता है । फसल काटने से पूर्व खेत की अच्छी

पर दो से तीन सप्ताह के बाद पानी दिया जाना चाहिए। लम्बे अन्तर से भारी सिंचाई की अपेक्षा बीच-बीच में हल्की सिंचाई लाभकारी पाई गई है। परन्तु फसल पकने के समय (नवम्बर से फरवरी अथवा मार्च तक) दीर्घ अन्तर से की गई सिंचाई अधिक लाभदायक होती है।

निराई-गुड़ाई आदि : बुआई के तीन या चार सप्ताह बाद गुड़ाई द्वारा धरती को मुलायम बनाने और घास-पात साफ करने का प्रथम क्रम आरम्भ होना चाहिए। खेत की हालत और सिंचाई की मात्रा को देखते हुए बुआई के प्रथम तीन महीनों में दो या तीन बार गुड़ाई द्वारा फिर धरती को मुलायम बनाया जाना चाहिए। इसके लिये खेत में लगी घास-फूस को पूरी तरह से उखाड़ फेंकना चाहिए। ब्लेड हैरो, जूनियर हो, हल और रिजर द्वारा मिट्टी निकालने, चढ़ाने या खाद डालने, खरपतवार निकालने से खर्च कम होता है। वर्षा आने से पूर्व अंतिम बार मिट्टी चढ़ाने का काम पूरा हो जाना चाहिए। इसी समय खाद की दूसरी अथवा अंतिम मात्रा भी दी जानी चाहिए।

चार या पाँच महीने बाद ऊपर निकल आने वाली जड़ें हटा दी जानी चाहिएँ। पौधों को ढक देने से चूहों से बचाव होता है और उनके वहाँ रहने की सम्भावना भी कम हो जाती है।

खाद : गन्ना धरती से भारी खुराक लेता है। 30 टन प्रति एकड़ की एक फसल धरती से 80 से 105 पौंड तक नाइट्रोजन, 75 से 315 पौंड तक फास्फोरिक एसिड, 63 से 180 पौंड तक पोटाश और 66 से 75 पौंड तक कैल्शियम खींच लेती है। लगातार अच्छी पैदावार के लिए पर्याप्त मात्रा में खाद देना बहुत जरूरी है।

भारत में आजकल गन्ने की खेती के अन्तर्गत कुल क्षेत्र के केवल दसवें भाग में ही खाद दी जाती है, और वह भी अक्सर अपर्याप्त मात्रा में । क राज्यों में गीली चिकनी मिट्टी, चिकनी दुमट मिट्टी अथवा हल्की रेतीली मिट्टी को सुधारने के लिए क्रमशः रेत, लाल मिट्टी अथवा तालाबों के नीचे जमी मिट्टी की तीस चालीस बैल-गाड़ियों का प्रति एकड़ दी जाती हैं ।

गन्ने को उत्तर प्रदेश में प्रति एकड़ 120 पौंड, मद्रास में 250 पौंड और मैसूर में 400 पौंड की नाइट्रोजन की आवश्यकता होती है । आधे से दो तिहाई नाइट्रोजन की मात्रा खेत की खाद, कम्पोस्ट, हरी खाद, पेड़ की पत्तियों अथवा कारखाने में दबाई हुई कीचड़ के रूप में बुआई से काफी पहले दी जानी चाहिए और शेष अमोनियम सल्फेट अथवा खली के रूप में अथवा दोनों को मिलाकर बुआई के समय और ऊपर छिड़कने के लिए एक या दो मात्रा काम में लानी चाहिए । यद्यपि हरी खाद की एक एकड़ की खेती में 40 से 50 पौंड फासफोरस के प्रयोग की सलाह दी जाती है, फिर भी गन्ने में सीधा सुपरफास्फेट देने से गन्ने में परिपक्वता शीघ्र आती है और गुड़ बढ़िया किस्म का बनता है ।

फसल कटाई : फसल पक जाने का अनुमान आमतौर पर गन्ने के सिरे की पत्तियों के पक कर मुरझा जाने से किया जाता है और परिपक्वता की परीक्षा के लिए एक गन्ने के रस को उबाल कर गुड़ की किस्म का अन्दाज़ लगाया जाता है अथवा सैकारोमीटर पर 20° से 22° तक पहुँचने पर इसका पता चलता है । 0·5 प्रतिशत अथवा इससे कम शक्कर का तत्व रखने वाले गन्नों को मिलों में भेजने योग्य समझा जाता है । फसल काटने से पूर्व खेत की अच्छी

तरह सिंचाई की जाती है। पौधों को सबसे निचली गांठ तक काटा जाना चाहिए और उनकी जड़ों, पत्तियों और उन पर लगी मिट्टी साफ कर लेनी चाहिए। पौधों की हरी पत्तियों वाले सिरे भी काट लिए जाते हैं। तत्पश्चात गन्नों को शीघ्र ही गुड़ उत्पादन केन्द्र अथवा चीनी मिल भेज देना चाहिए।

पिराई और गुड़ उत्पादन : बैलों से चलाये जाने वाले लोहे के कोल्हू, तेल इंजिन अथवा बिजली से आमतौर पर 60 से 70 प्रतिशत रस निकाला जाता है। गन्ने का रस ठण्डे समय निकाला जाता है। और उसे तुरन्त उबालने रख देना चाहिए। रस रखने के लिए धातु के बर्तन बेहतर होते हैं। ईंधन के तौर पर प्राय: सभी जगह गन्ने की खोई काम में लाई जाती है। कई बार कपास, अरहर और अण्डी के डंठल भी ईंधन के काम में लाए जाते हैं। ईंधन में कम खर्चों और उबालने में पूर्णता पाने के लिए सुधरी किस्म की भट्टियाँ (मैकग्लाशन, सिदेशाही, हादी और पूना), इकहरी या दोहरी भट्टियाँ बनाई गई हैं। इस सम्बन्ध में पूर्ण विवरण राज्य कृषि विभागों से प्राप्त किया जा सकता है। चौड़ी और कम गहरी कढ़ाइयाँ रस उबालने में कम समय लेती हैं। ताजे रस की तीक्ष्णता मारने के लिए हल्का सा चूना छिड़का जाना चाहिए। रस के रंग और गुड़ की किस्म में सुधार लाने के लिए फेन, झाग और मैल हटा लेना जरूरी है। दूध, अण्डों की सफेदी, भिन्डी की जड़ों और टहनियों का सत और अण्डो व मूंगफली बीजों को पीस कर बनाए गए दूधिया तरल पदार्थ से फेन और झाग पैदा होते हैं। रस जब उबल कर 118-120° सै० तापमान प्राप्त कर लेता है तो उसमें तार बंधने लगता है और वह गुड़ बनाने के लिए तैयार समझा जाता है। इस

तैयार रस को लकड़ी के साँचे या इसी प्रकार दूसरे पात्रों में उलट दिया जाता है और ठंडा करके उसका गुड़ लिया जाता है।

उपज : असम, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान और मध्य प्रदेश में मामूली स्थितियों में 11-12 महीने की खड़ी फसल से 10-15 टन गन्ना प्रति एकड़ मिलता है। बंगाल, उड़ीसा, मैसूर और केरल में 15 से 20 टन और बम्बई, आन्ध्र प्रदेश व मद्रास में 25 से 30 टन प्रति एकड़ गन्ना मिलता है। यदि खाद और सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो जाती है तो पैदावार उपरोक्त उपज से ढाई गुना तक हो सकती है। मध्य व दक्षिण भारत की 18 महीने की फसलों से सामान्यत: एक एकड़ से 45 से 55 टन तक गन्ना प्राप्त होता है, और बम्बई के दक्खिन के भारी खाद और सिंचाई वाले इलाकों में एक एकड़ में 60 से 70 टन और कई बार तो इससे भी अधिक गन्ना पैदा होता है।

पेड़ी : गन्ने को एक बार बोने से भी उससे दो या तीन तक फसलें ली जाती हैं। दूसरी फसल के लिए पहली फसल की मिट्टी में छूटी जड़ों को ही बढ़ने दिया जाता है। इस तरह प्राप्त पौधों को पेड़ी कहा जाता है। अधिकांश राज्यों में पेड़ी से केवल एक ही फसल ली जाती है। दूसरी और बाद की पेड़ियों में आमतौर पर अधिक उपज नहीं मिलती क्योंकि कीड़े-मकोड़ों और बीमारियों से तथा साथ ही खरपतवार से फसल को नुकसान पहुँचने का खतरा बना रहता है। जिस खेत में पेड़ी छोड़ी जाती है उसमें गन्ने की पहली फसल को जमीन से मिला कर काट लिया जाता है और खेत की सिंचाई करके मोल्ड बोर्ड हल चला दिया जाता है। इसके बाद फसल की देखभाल नई फसल की तरह ही की जाती है।
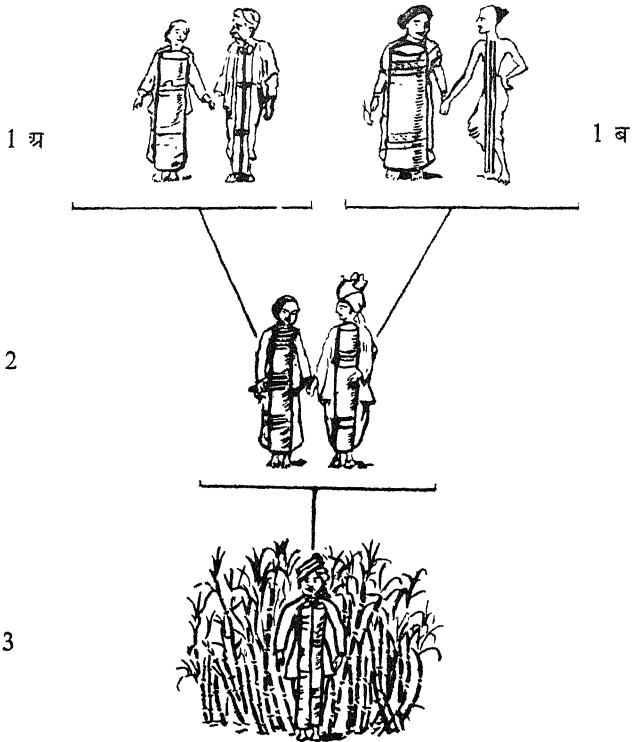
गन्ने की पतली पोरी वाली और जावा की मोटी किस्म का संकरण करके एक नई उन्नत किस्म सी० ओ० 244 विकसित की गई। चित्र 1 अ, 1 ब 2 और 3 को समझने के लिये पृष्ठ 251 देखिये।

गन्ना प्रजनन : गन्ने के प्रजनन का काम यद्यपि वैज्ञानिकों के लिए बड़ा श्रमसाध्य होता है लेकिन वह उतना ही दिलचस्प भी है। अब जरा कल्पना तो कीजिए कहाँ जावा और कहाँ उत्तर प्रदेश, लेकिन वैज्ञानिकों ने जावा के चेरीबन नामक मादा गन्ने को उत्तर प्रदेश के चन नर गन्ने से संयोग कराया और उसकी जो मादा संतान प्राप्त हुई उसका नाम पी ओ जे 213 रखा, **देखिये चित्र 1 अ**।

दूसरी ओर दक्षिण भारत के कोयम्बटूर प्रदेश के बलाई नामक मादा गन्ने को कोयम्बटूर की जंगली किस्म के नर गन्ने से संयोग कराया और उससे जो नर संकर संतान प्राप्त हुई उसका नाम वैज्ञानिकों ने सी ओ 205 रखा। **देखिये चित्र 1 ब**।

जावा के पी० ओ० 113 मादा संकर गन्ने का पी० ओ० 205 पंजाब से संयोग कराया तो उसकी जो नर संकर संतान प्राप्त हुई वह सी० ओ० 244 कहलायी। इस तरह जावा, कोयम्बटूर, उत्तर प्रदेश, पंजाब के गन्नों से प्रजनन विधि द्वारा सी० ओ० 244 प्राप्त हुआ। प्रजनन सम्बन्धी कार्यों से इससे अधिक अन्तर्प्रान्तीय सहयोग और क्या हो सकता है। **देखिये चित्र** 2।

जावा कोयम्बटूर का गन्ना मोटा और उत्तर प्रदेश की कोयम्बटूर का जंगली गन्ना पतला था—इनके संकरण से पी० ओ० जे० 213 और सी० ओ० 205 की मोटाई एक जैसी हो गई और इनके संकरण से सी० ओ० 244 गन्ने की मोटाई इतनी रह गई जितनी रहनी चाहिए। **देखिये चित्र** 3।

किस्में : विभिन्न राज्यों के लिए गन्ने की जो उन्नत किस्में अब तक विकसित हुई हैं, उनका विवरण पृष्ठ 252-253 की **सारणी** में दिया जा रहा है।

गन्ने की राज्यवार उन्नत किस्में

राज्य	उन्नत किस्में
ग्रान्ध्र प्रदेश	(क) ग्रान्ध्र: सी० ग्रो० 419, सी० ग्रो० 449, ग्रौर सी० ग्रो० 527. (ख) तेलंगाना: सी० ग्रो० 290, सी० ग्रो० 419, सी० ग्रो 467, सी०ग्रो० 527 ग्रौर पी० ग्रो० जे० 2878.
ग्रसम	सी० ग्रो० 419 ग्रौर विदेशी.
पश्चिमी बंगाल	सी० ग्रो० 419, सी० ग्रो० 421, सी० ग्रो० 527 ग्रौर विदेशी.
बिहार	(क) उत्तर : सी० ग्रो० 313, सी० ग्रो० 395, सी० ग्रो० 453, सी० ग्रो० 513 ; बी० ग्रो० 10, बी० ग्रो०11 ग्रौर बी० ग्रो० 24. (ख) दक्षिण : सी० ग्रो० 313, सी० ग्रो० 453, सी० ग्रो० 513 सी० ग्रो० के० 32 ; बी ग्रो० 10 ; बी० ग्रो० 11 ; ग्रौर सी० ग्रो० 622.
बम्बई	सी० ग्रो० 419 ; सी० ग्रो० 421 ; सी० ग्रो० 475 ; ग्रौर पी० ग्रो० जे० 2878.
केरल	पी० ग्रो० जे० 2725 ग्रौर सी० ओ० 349.
मध्य प्रदेश	सी० ग्रो० 312; सी० ग्रो० 313 ; सी० ग्रो० 419 ग्रौर सी० ग्रो० 453.
मद्रास	सी० ग्रो० 419 ; सी० ग्रो० 449 ; ग्रौर सी० ग्रो० 527.

राज्य	उन्नत किस्में
मैसूर	सी० ग्रो० 419; सी० ग्रो० 290;एच० एम० 645 ग्रौर एच० एम० 661.
उड़ीसा	सी० ग्रो० 419 ग्रौर सी० ग्रो० 421.
पंजाब	सी० ग्रो० 285; सी० ग्रो० 312; सी० ग्रो० 313; सी० ग्रो० 421; सी० ग्रो० एल० 9 ग्रौर सी० ग्रो० 453
राजस्थान	सी० ओ० 312.
उत्तर प्रदेश	सी० ग्रो० 312; सी० ग्रो० 313; सी० ग्रो० 356; सी० ग्रो० 393; सी० ग्रो० 395; सी० ग्रो० 421; सी० ग्रो० 453; सी० ओ० 513; सी० ग्रो० 527; सी० ग्रो० के० 30; सी० ग्रो० एस० 109; सी० ग्रो० एस० 245, सी० ग्रो० एस० 321 ग्रौर सी० ग्रो० एस० 443.

टैपीओका (*Monihot utilissima*)

टैपीओका को कसावा भी कहते हैं। भारत के कंद फसलों के क्षेत्रफल और कुल उत्पादन की दृष्टि से टैपीओका का प्रमुख स्थान है।

टैपीओका एक महत्वपूर्ण सहायक खाद्य पदार्थ है इसकी शकर-कन्दी जैसी बड़ी बड़ी जड़ों में स्टार्च अंश अत्यधिक मात्रा में मौजूद होता है जिसको इनसे निकाल कर तरह तरह के खाद्य पदार्थों में बनाने के लिये उपयोग किया जा सकता है। यह फसल ब्राजील देश की निवासी है और भारत के कुछ राज्यों में बड़े पैमाने पर उगाई जाती है, दक्षिणी भारत के पश्चिमी तट पर खास तौर उसकी खेती की जाती है। केरल में तो यह ग़रीबों का दैनिक आहार ही हो गया है। छिले हुए टैपीओका की जड़ों से आटा, माड़, सागो आदि कई खाद्य पदार्थ तैयार किए जाते हैं। टैपीओका की पत्तियां मवेशियों के लिए चारे का अच्छा काम देती है।

जलवायु : टैपीओका की पैदावार के लिए गर्म और नम जलवायु सर्वोत्तम है। यह उन इलाकों में अच्छी तरह पैदा होता है जहां वर्षा 40″ प्रतिवर्ष होती है। इसमें सूखा बर्दाश्त करने की अदभुत ताकत है। इसकी सिंचित फसल भी ली जा सकती है किन्तु बंधा हुआ जल इस के लिए बहुत हानिकारक होता है। इसकी खेती समुद्र तल से लेकर 3000 फुट की ऊंचाइयों तक की जाती है। छाया में इसके पौधे का विकास पूरी तरह नहीं हो पाती।

मिट्टी : टैपीओका किसी भी ऐसी ज़मीन पर उगाया जासकता है जिसमें जलनिकासी अच्छी हो लैटराइट मिट्टी अधिक उपयुक्त

रहती है। इसे पहाड़ी ढलानों और ऐसी बेकार भूमियों पर भी सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है जिनमें दूसरी फसलें आमतौर पर पैदा नहीं की जा सकतीं।

कृषि क्रियायें : हल चला कर या खोद कर और प्रति एकड़ 5 से 30 बैलगाड़ी घूरे की खाद या कम्पोस्ट डाल कर ज़मीन तैयार की जाती है। यदि लकड़ी की राख उपलब्ध हो तो उसे भी खाद की तरह काम में लाया जाता है। जहां सिंचाई के साधन उपलब्ध होते है वहां खेत को 3-4 वर्ग गज के छोटे-छोटे खंडो में बांट लिया जाता है या 3 या 4 फुट की दूरी पर मेंड बना ली जाती है। जहां सिचाई के लिए बरसात पर निर्भर रहना पड़ता है, वहाँ जमीन पर ऊपर लिखे तरीके से मेंड़ बनाई जाती है या 3 या 4 फुट की दूरी पर 1 फुट चौड़े, 1 फुट लम्बे और 1 फुट गहरे गड्ढे खोदे जाते हैं।

बीज के रूप में पिछली फसल के कुछ तने छाया में सुरक्षित रखे जाते हैं। तने के मध्य में से 6-9 इंच के टुकड़े काट कर समतल भूमि, गड्ढों और टीलों पर सीधे या कुछ तिरछे रोप दिये जाते हैं। रोपते समय काटे तने की कम से कम तीन गाँठें ज़मीन से ऊपर रहनी चाहिएं। रोपाई का मौसम उत्तर भारत में मार्च से मई (जहां सिंचाई की व्यवस्था हो) और दक्षिण भारत में जून-जुलाई है। मद्रास में जहां सिंचाई के साधन उपलब्ध हैं वहां टैपीओका की फसल दिसम्बर-जनवरी में बोई जाती है। एक एकड़ में बोने के लिए लगभग 5,000 पोरियों की जरूरत पड़ती है। सिंचित फसल को पहला पानी बुआई के दिन लगाना चाहिए। उसके बाद 5 से 15 दिन के क्रमशः बढ़ते हुए अन्तर से सिंचाई की जानी चाहिए।

फसल की गुड़ाई-निराई हर महीने 4 से 6 बार और कम से कम दो बार उस पर मिट्टी चढ़ानी चाहिए।

फसल की कटाई : पत्तियों का पीला पड़ना और झड़ना फसल पकने का लक्षण समझा जाता है। फिर भी फसल काटने का निश्चित समय जानने के लिए जड़ों के पकने की परीक्षा कर लेना उचित है। पौधों को जड़ों सहित हाथ से उखाड़ा जाता है या डण्ठलों को काट कर जड़ों को खोद लिया जाता है।

उपज : एक सामान्य पौधे में आमतौर पर चार या पांच कंद मिलती है, जिनमें से प्रत्येक का वजन 2 से 5 पौंड तक होता है। वर्षा पर निर्भर फसल की प्रति एकड़ औसत पैदावार 8,000 से 12,000 पौंड (कच्ची कंद) होती है, जबकि सिंचित खेती से प्रति एकड़ औसत पैदावार लगभग 16,000 से 20,000 पौंड तक प्राप्त होती है। लम्बे अरसे तक बनी रहने वाली किस्में आमतौर पर अधिक उत्पादनशील सिद्ध होती हैं।

फसल का इस्तेमाल : यदि टैपिओका के कंद को कुछ समय तक भंडार में रखा जाता है तो उसमें एक विषैला तत्व ग्लुकोसाइड (Cyanogenetic glucocide) पैदा हो जाता है। अतः अधिकश: पैदावार फसल कटने के तुरन्त बाद सब्जी की मण्डियों में बेच दी जाती है। इन कन्दों को उबाल कर या तल कर खाया जाता है। यदि इसे छिलके सहित या छिलका उतार कर पतली परतों में काट लिया जाये और फिर इन परतों को धूप में सुखा दिया जाय तो वे विषैले तत्व से मुक्त रहती हैं। इस रूप में इन्हें काफी दिनों तक रखा जा सकता है। मनुष्य के द्वारा खाने के उपयोग में काम में लाने के पूर्व इन्हें अवश्य ही सुखाया, उबाला या तला जाना चाहिए।

टैपीग्रोका से स्टार्च, सागो ग्रथवा इस प्रकार के ग्रन्य पदार्थ कैसे बनाये जा सकते हैं—इस बारे में राज्य कृषि विभागों से सलाह ली जा सकती है।

किस्में : विभिन्न किस्मों का ग्रन्तर उनके पकने के समय (6 से 18 मास), पत्तियों के रूप-रंग, ग्राकार ग्रौर तनों व कंददार गांठों के रंग के ग्रन्तर से जाना जाता है। स्यानोजेनेटिक ग्लुकोसाइड अंशों के ग्रनुसार इनका वर्गीकरण 'मीठी' ग्रौर 'कड़वी' किस्मों के रूप में किया गया है। 'ट्रावनकोर लाल' ग्रौर 'ट्रावनकोर सफेद' ग्रामतौर पर बोई जाने वाली दो किस्में हैं।

तिलहनी फसलें

तिलहनी फसलों से न केवल तेल निकलता है जो कि भोजन को स्वादिष्ट बनाने, तलने, मशीनों को चिकनाने ग्रादि ग्रनेक कामों में प्रयुक्त होता है वरन् कुछ की खली खाद की तरह इस्तेमाल की जाती है। कुछ पौधों के डंठलों ग्रौर तनों तक का भी उपयोग किया जाता है।

अण्डी (*Ricinus communis* Linn.)

ग्रण्डी अपने बीज के लिए बोई जाती है। इसका तेल न केवल ग्रौषधियों में काम ग्राता है, वरन् यह जलाने, मशीनों को चिकनाने, रंग ग्रौर रोगन-उद्योग तथा अनेक दूसरे ग्रौद्योगिक कामों में उपयोग होता है। इसकी पत्तियां रेशम के कीड़ों को खिलाई जाती हैं इसकी खली खाद की तरह उपयोग की जाती है।

अण्डी की खेती प्रति वर्ष लगभग 13 लाख एकड़ भूमि पर होती है। इसकी खेती की कुल भूमि का 90 प्रतिशत भाग आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र और मैसूर में है और इन इलाकों में उत्पादन का लगभग 82 प्रतिशत भाग पैदा होता है।

मिट्टी और जलवायु : प्रायः सभी प्रकार की भूमियों पर इसकी अच्छी फसल होती है किन्तु भारत के मध्य और दक्षिणी भाग में लाल रेतीली दुमट मिट्टी पर और उत्तरी राज्यों में हल्की जलोढ़ भूमियों पर आमतौर यह फसल बोई जाती है। उन घटिया जमीनों पर जो लाभदायक व्यापारिक फसलों अथवा खाद्यान्नों के योग्य नहीं हैं, अण्डी की खेती की जाती है।

अण्डी सूखा-रोधी है, यह अपेक्षाकृत शुष्क और उष्ण जलवायु में जहाँ वर्ष में 20-30 इंच तक वर्षा होती हो, अच्छी फसल देती है। भारी बरसात के कारण इसके पेड़ों में अत्यधिक पत्ते आ जाते हैं। इनके बीजों को बोने से आगे पत्तेदार पेड़ ही प्राप्त होते हैं। अण्डी की फसल पाला बर्दाश्त नहीं कर सकती। अण्डी की कुछ वार्षिक किस्में 4,000-5,000 फुट की ऊँचाइयों तक नीलगिरी आदि पर मार्च-अप्रैल के महीने में बोई जाती हैं। सदाबहार किस्में और भी अधिक ऊँचाइयों में काफी के बागानों में काफी को छाया देने के लिए उगाई जाती हैं।

फसल आवर्तन : अण्डी वर्ष की अकेली फसल के रूप में ज्वार, बाजरा, मूंगफली, कपास, लोबिया, मिर्च, तूर, रागी, कोदों, कुल्थी की फसलों के साथ आवर्तन के अनुसार अथवा इनमें से एक या दो फसलों के साथ मिलाकर एक ही क्यारा में या एक के बाद दूसरी क्यारी छोड़ कर बोई जा सकती है।

कृषि क्रियायें : बुआई का मौसम अधिकतर जून-जुलाई और एक सीमा तक अगस्त-सितम्बर में होता है। यह आमतौर पर वर्षा पर निर्भर रहने वाली फसल के रूप में बोई जाती है। लेकिन कई बार नहरों के किनारे बोया जाता है और बागों में इसकी बाड़ लगाई जाती है। तेज हवाओं को रोकने के लिए वायु रोधक की तरह अनेक वर्षों तक एक ही फसल को इस्तेमाल किया जाता है।

बुआई से पहले ज़मीन पर दो-तीन बार हल और पाटा चलाया जाना चाहिए। हल के पीछे बने कूंड़ों में डालकर या हाथ से इसका बीज बोया जाता है। प्रति एकड़ 6 से 10 पौंड तक बीज की आवश्यकता होती है। कतारों के बीच तीन से पाँच फुट का अन्तर रखा जाता है और पौधों को इस तरह छिदराया जाता है कि दो पौधों के बीच की दूरी 2 या 3 फुट हो। जिन क्षेत्रों में सिंचाई होती है और फसल वर्षानुवर्षी होती है वहाँ पौधों के बीच की दूरी और भी अधिक यानी 6 से 8 फुट तक रखी जाती है। एक-दो बार खरपतवार निकाली जाती है और गुड़ाई भी की जाती है। कभी-कभी मिट्टी चढ़ाने की जरूरत होती है। इस फसल को खाद नहीं दी जाती, पर कभी-कभी भेड़ें बैठाई जाती हैं।

फसल पकने में 6 महीने लगते हैं। अण्डी दिसम्बर में पकना आरम्भ हो जाती है और मार्च या अप्रैल तक पकती रहती है। जब गुच्छे में एक या दो फल सूखने लगते हैं तो आमतौर पर समूचे गुच्छे को तोड़कर खेत के एक कोने या किसी एक गड्ढे में दबाकर रख दिया जाता है। इस प्रकार अधपके गुच्छों को तोड़ देने से बीज के तेल अंश पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिये फल पकने पर ही तोड़े जाने चाहिएं। सारी फसल काट लेने के

अंडी की राज्यवार उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
आन्ध्र प्रदेश	टी० एम० वी-1	सूखारोधी- आन्ध्र प्रदेश के लिए उपयुक्त ।
	एच० सी०-1	छोटे बीज वाली, अधिक उपज, तेलंगाना के लिए उपयुवत ।
	एच० सी०-6	छोटे बीज वाली, अधिक उपज, तेलंगाना के लिए उपयुक्त ।
बंगाल	डब्लयू० बी०-1	छोटे कद वाली, न झड़ने वाली ।
बम्बई	कैस्टर 20	गुजरात के लिए उपयुक्त ।
	डी० बी०-31	नागपुर के लिए उपयुक्त ।
बिहार	ई० बी०-16	
	टी० एम वी०-3	लाल मिट्टियों के लिए उपयुक्त ।
मध्य प्रदेश	ई० बी-9	छोटे-छोटे बीजों वाली ।
	ई० बी०-16	बड़े-बड़े बीजों वाली ।
	ई० बी०-31	बड़े-बड़े बीजों वाली ।

राज्य	किस्म	विशेष गुण
उत्तर प्रदेश	टाइप-3	लंबी, सघन काँटेदार।
मद्रास	टी० एम० वी०-1	वर्षा पर ग्राधारित, 51 प्रतिशत तेल होता है।
	टी० एम० बी०-2	वर्षा पर ग्राधारित, बीजावरण न फटने वाला।
	टी० एम० वी०-3	सिंचित, बीजावरण समरूप से पकने वाला।
	सी० ग्रो० 1	वर्षानुवर्षा किस्म, ग्रधिक उपज, बीजों में तेल की ग्रधिक मात्रा।
मैसूर	एल० 53	छः से ग्राठ महीने में पककर तैयार होने वाली।
	एल० 54	सूखा-सहन करने वाली, कम वर्षा वाले क्षेत्रों के लिए उपयुक्त; तेल की मात्रा 47 प्रतिशत।
	एल० 242	
	एल० 73, 74, 77	साढ़े चार से छः महीने में पकने वाली; मध्यम वर्षा वाले क्षेत्रों के लिए उपयुक्त; तेल की मात्रा 48 से 49 प्रतिशत तक।

बाद कुछ दिनों तक उसे धूप में सुखाया जाता है और डन्डों या मूंगरियों से पीट कर बीज निकाला जाता है।

पैदावार : बरसात पर निर्भर रहने वाली फसल में प्रति एकड़ 200 से 500 पौंड, मिली जुली फसल में 100 से 200 पौंड और सिंचित फसल में 500 से 800 पौंड तक प्रति एकड़ उपज होती है। बीजों में लगभग 50 प्रतिशत तेल होता है। गांव की घानियों में आमतौर पर 38 से 40 प्रतिशत तक और बिजली के कोल्हू और ऐक्सपैलर द्वारा 40-41 प्रतिशत तक तेल निकाल लिया जाता है।

किस्में : अंडी की शाखाओं के विकास, तने और टहनियों के रंग, मुलायम या कड़े बीज कोष और बीज के आकार की विभिन्नता पर इसकी किस्मों को वर्गीकृत किया जाता है। विभिन्न राज्यों के लिए अंडी की प्रमुख उन्नत किस्में पृष्ठ 260-261 की **सारणी** में दी गई हैं।

नारियल (*Cocos nucifera.*)

तिलहनी फसलों में नारियल, अंडी, महुआ आदि कुछ ही वृक्षवर्ग के हैं। इनमें नारियल एक सदाबहार पेड़ है जो उद्यानों में लगाया जाता है और जिसकी खेती बागबानी की तरह की जाती है। उष्ण-कटिबन्ध के समुद्रीय तट पर स्थित असंख्य द्वीपों तथा गर्म देशों के तटवर्ती नमी वाले इलाकों में यह व्यापक रूप से उगाया जाता है। दुनिया भर में कुल 80 लाख एकड़ भूमि पर नारियल के पेड़ों की काश्त होती है। इससे लगभग प्रतिवर्ष 14 अरब नारियल प्राप्त होते हैं। इसमें से 16 लाख एकड़ भूमि भारत में है

जिसमें नारियल खड़ा है और जिनसे प्रति वर्ष 4 अरब 37.5 करोड़ नारियल प्राप्त होते हैं।

कच्चा नारियल खाने के काम में लाया जाता है, पर अधिकांश नारियल से सुखाकर खोपरा या गोला प्राप्त किया जाता है जिससे तेल निकाला जाता है। व्यापारिक खोपरे में 50 से 75 प्रतिशत तक तेल होता है। इस तेल का प्रयोग मार्गरीन (नकली मक्खन), वनस्पति घी और बढ़िया किस्म का साबुन बनाने के लिए किया जाता है। रोशनी और मालिश करने के अतिरिक्त भारत में इसको व्यापक रूप में खाना पकाने के काम में लाया जाता है। नारियल के कठोर छिलके पर जटायें होती हैं। इनको विभिन्न उद्योगों में तरह-तरह से काम में लाया जाता है। इनसे रस्सी बनाई जाती हैं, फर्श, गलीचे और कालीन बनते हैं तथा फर्नीचर में भरने और पैकिंग के काम में लाते हैं। पेड़ों के तनों से लकड़ी मिलती है और खाली व खोखले नारियल ईंधन के काम में लिये जाते हैं। नारियल की पत्तियां चटाई, झोंपड़ियों के छप्पर, टोकरियां आदि बनाने के काम में आती हैं। हरे नारियल का रस एक मीठे पेय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। कच्चे नारियल से निकाले गये रस से गुड़, चीनी, ताड़ी और सिरका आदि बनाया जाता है। इस प्रकार नारियल खाद्य होने के साथ-साथ, एक प्रकार का तन्तु या रेशा भी देता है और साथ तेल भी। वास्तव में नारियल के पेड़ का हर भाग किसी न किसी रूप में मनुष्य के लिए उपयोगी सिद्ध होता है और इसको कल्पवृक्ष कहा जा सकता है।

जलवायु : नारियल मूलतः उष्ण प्रदेश का वृक्ष है जिसे सदा-समान-जलवायु, तेज धूप, बहुत काफी नमी और एक वर्ष में 30

इंच या इससे अधिक वर्षा की जरूरत होती है। नारियल 2500 से 3,000 फुट की ऊँचाइयों तक उग सकता है। सर्दी और पाला नारियल बर्दाश्त नहीं कर सकता। बहुत समय तक सूखा या बरसात भी इस पेड़ के अनुकूल नहीं है। इसलिए अल्पकालीन वर्षा और तट से दूर इलाकों में गर्मी में पेड़ों की सिंचाई भी की जाती है।

मिट्टी : रेतीली दुमट भूमि, तटवर्ती रेतीली भूमि, डेल्टाई जलोढ़ भूमि और रेतीली नदी घाटियों में नारियल खूब अच्छी तरह पनपता है। इनके अलावा लाल मिट्टी, हल्की भूरी मिट्टी, जल विकास वाली हल्की काली कपासी मिट्टी, दलदली और नदी के मुहाने की जमीन पर यह सन्तोषजनक रूप से उगाया जा सकता है।

पौध उगाना : नारियल को उगाने के लिए आमतौर पर उसकी पौध काम में लाई जाती है। सदाबहार पेड़ होने के कारण इसकी अच्छी पौध चुनना जरूरी है। पौधशाला में बोने के लिए अच्छे फल देने वाले उचित आयु के पेड़ों से पूर्ण आकार के सुन्दर पके फल लिए जाते हैं और उन्हें रेत में दबा कर रख दिया जाता है। बरसात के बाद उन्हें 15 इंच के अन्तर पर कतारों में परस्पर एक फुट की दूरी पर बोया जाता है। देखा गया है कि फरवरी मास में बोए गए बीजू फलों से पौधे का विकास अधिकतम होता है। बीजू फलों को जमीन में इस तरह बोया जाता है कि वे धरती से आधा या एक इंच बाहर निकले रहें। हर दूसरे या तीसरे दिन खेत में पानी दिया जाता है और खरपतवार से मुक्त रखा जाता है। लगभग तीन महीने में बीज अंकुरित होकर उसमें से कोपलें निकलने लगती हैं।

नये पौधे को धूप से बचाने के लिए उसको छाया में रखा जाता है। पौद रोपने के लिए पौदशाला में उगे नौ महीने के बड़े पौधे उपयुक्त समझे जाते हैं। किन्तु अभी खोजबीन से पता चला है कि एक वर्ष का पौधा रोपना अधिक ठीक रहता है। इसके लिए जल्दी पत्तियाँ निकालने वाले मोटे तने और मजबूत जड़ वाले पौधे चुने जाने चाहिएं। गोदावरी के मुहाने की जमीनों पर 6 महीने की उम्र के पौधे एक पौधशाला से हटा कर दूसरी पौदशाला में ज्यादा जगह छोड़कर (दोनों ओर 6 फुट) लगाई जाती है। इस पौदशाला में पौधों की गुड़ाई-निराई और सिंचाई तथा खाद देने की पूरी व्यवस्था की जाती है। जब पौधे दो से तीन वर्ष के हो जाते हैं तभी उनकी रोपाई की जाती है।

जमीन की तैयारी : नयी अक्षत भूमि पर खरपतवार साफ करना, भूमि को समतल बनाना, दीमकों के बिलों को खोदकर साफ करना, दो या तीन बार हल चलाना और सिंचाई की नालियाँ बनाना जरूरी है। बुआई से दो या तीन महीने पहले सीधी कतारों में 25 से 30 फुट की दूरी पर 3 फुट × 3 फुट × 3 फुट के गड्ढे खोदे जाने चाहिएं। अनेक बागानों में पौधों को बहुत पास-पास बोया जाता है। इसके कारण प्रति पेड़ पैदावार कम होती है। पौधों की रोपाई सामान्यतः बरसात के शुरू में की जाती है। रोपाई से एक सप्ताह पूर्व गड्ढे की मिट्टी को भुरभुरा बना लिया जाता है। पौधों को गड्ढों में इस तरह रोपा जाता है कि उनका निचला भाग गड्ढे के मुंह से लगभग 12 इंच नीचे रहे। पौध लगाने के तुरन्त बाद गड्ढे में पानी दिया जाता है और यदि धूप तेज हो तो पौधे को धूप से बचाने के लिए छाया की व्यवस्था की जाती है।

प्रथम दो वर्षों में पौधों को अच्छी तरह पानी दिया जाता है, गर्मियों में धूप से बचाया जाता है और बकरी, गाय-भैंस, दीमक, कटवर्म, गुबरैला तथा जल के जमाव से सुरक्षित रखा जाता है। खाली गड्ढों के पौधे यथाशीघ्र रोप देने चाहिएं। साल में दो बार बरसात से पहले और उसके बाद $\frac{1}{2}$ पौंड एमोनियम सल्फेट और $\frac{1}{2}$ पौंड सुपरफास्फेट तथा $\frac{1}{2}$ पौंड म्युरियेट आफ पोटाश प्रति पौध दी जानी चाहिए।

बागों में नारियल के साथ अक्सर आम, कटहल और अन्य उपयोगी पेड़ बोए जाते हैं। कलकत्ता के निकट नारियल के बागों में अनन्नास और अखरोट बहुतायत से लगाये जाते हैं। जब तक पौध वृक्ष का रूप धारण नहीं कर लेती तब तक खाली जमीन में हल्दी, केला और सब्जियाँ उगाई जाती है। उत्तर केरल में काली मिर्च और नारियल की खेती उन क्षेत्रों में एक ही जमीन में साथ-साथ की जाती है जहाँ भूमि में पर्याप्त नमी हो और जल का जमाव होता है।

खाद व उर्वरक उपचार : रोपाई के 6-7 साल बाद पेड़ फल देने लगते हैं और दसवें वर्ष से लेकर 50-60 वर्ष की आयु तक बराबर फल देते रहते हैं। लगातार अच्छे फल प्राप्त करने के लिए वर्ष में एक या दो बार हल से गुड़ाई, खरपतवार निकालना और प्रत्येक वृक्ष को प्रति वर्ष 3-4 पौंड एमोनियम सल्फेट, 2-3 पौंड सुपरफास्फेट अथवा समान मात्रा में हड्डी की खाद, और 2-3 पौंड म्यूरियेट आफ पोटाश दिया जाना चाहिए। कई स्थानों में 20-40 पौंड राख, 40 पौंड ताजा मछली की खाद, 10 पौंड हड्डी की खाद और 100 पौंड गोबर की खाद प्रति वृक्ष प्रति वर्ष दी जाती है। लोबिया, सन,

क्रोटोलेरिया स्ट्रियाटा की हरी पत्तियां अथवा 50 से 100 पौंड टेफरोसिया परप्यूरिया की हरी खाद प्रति वृक्ष दिया जाना भी लाभकर पाया गया है। बम्बई के कुछ भागों में प्रत्येक वृक्ष 3 पौंड साधारण नमक भी दिया जाता है। खोजबीन से पता चला है कि अल्प मात्रा में नमक का प्रयोग पौधे को धरती से पोटाश प्राप्त करने में सहायक होता है। मैसूर गोदावरी नदी घाटी के अनेक बागानों में भेड़ों को खाद के लिए बैठाया जाता है और कभी-कभी नहरों की मिट्टी भी खाद की तरह लगाई जाती है। भारी बरसात के बाद यदि भूमि पर्याप्त गीली हो तब आसपास चारे से पांच फुट के घेरे में खाद लगाना उपयोगी पाया गया है। अनुमान लगाया गया है कि एक एकड़ भूमि में लगे 50 पेड़ जिनमें से प्रति वर्ष औसतन 50 फल मिलते हैं, धरती से प्रति वर्ष 80 पौंड नाइट्रोजन, 16 पौंड फास्फोरस और 79 पौंड पोटाश खींच लेते हैं।

फसल कटाई और पैदावार : बंगाल और बम्बई के कुछ क्षेत्रों में आमतौर पर कच्चे नारियलों को फल लगने के चार या छः महीने बाद तोड़ लिया जाता है और उनसे निकला पानी पेय के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। अन्य इलाकों में बड़े पैमाने पर कच्चे फलों को तोड़ना फिजूलखर्ची समझा जाता है। खाने, तेल निकालने और जटाओं का उपयोग करने के लिये फल आने के लगभग 11 महीने बाद फल तोड़े जाने चाहिएं। कोपरा और मोटी जटायें चुने गये फलों से अच्छी मिलती हैं। हर 6 महीने (अक्तूबर और अप्रैल) बाद अथवा एक या दो मास के अन्तराल से वर्ष में कई बार फसल ली जा सकती है। मिट्टी, किस्म, मौसम और खाद के प्रयोग के अनुसार पैदावार कम या अधिक होती है। कुछ वृक्ष केवल एक विशेष समय ही फल देते हैं। प्रति एकड़ नारियल के बगीचे से

वार्षिक पैदावार औसतन 2000 से 3000 नारियल होती है। नारियल के एक सुप्रबन्धित बाग से प्रति एकड़ 7,000 या अधिक नारियल प्रतिवर्ष भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

फलों से गोले निकालना :आमतौर पर छिले हुए नारियल को एक सप्ताह धूप में सुखा कर कप खोपरा तैयार किया जाता है। कृत्रिम तरीकों से नारियल और भी जल्दी सुखाया जा सकता है। गोला खोपरा प्राप्त करने के लिए जल्दी पूरी तरह पके नारियलों को पेड़ो से तोड़ा जाता है और उन्हें लगभग एक वर्ष तक छिलके सहित सुखाया जाता है। फिर उनका छिलका हटा कर उन्हें फोड़ा जाता है ताकि सूखा गोला पूरा बाहर निकल आए। एक हजार नारियलों से लगभग 300 पौंड गोला प्राप्त होता है।

नारियल की जटायें : 10 से 11 मास पुराने नारियल से जटायें अलग करके उनको तालाबों या सागर के बैक वाटर में 8 से 22 महीने तक सड़ाया जाता है। ताजे पानी में जटाओं को सड़ाने में केवल 6 महीने लगते हैं। सड़ी जटाओं को निकाल कर पानी में धोकर साफ करते हैं, उनको सुखाते हैं और फिर मूँगरियों से कूट कर उनसे रेशे अलग किए जाते हैं। 100 नारियलो की जटाओं से लगभग 15 पौंड रेशे प्राप्त किए जा सकते हैं। इन रेशों को कॉयर कहते हैं। कॉयर से चटाइयां, पायदान और ब्रुश बनाये जाते हैं और उनको गद्दी, सोफों, गद्दे, घर की कुर्सियों आदि में भरने के काम में लाया जाता है।

किस्में : नारियल की लम्बी और बौनी दो किस्में आमतौर पर प्रचलित हैं। लम्बी किस्म का पेड़ 50 फुट या अधिक ऊँचा होती है, यह फल निकलने में पांच से दस वर्ष लेता है और इससे

गोला, तेल और कॉयर सभी उम्दा किस्म के मिलते हैं। बौनी किस्म का पेड़ धीरे-धीरे बढ़ता है, यह केवल 25 से 30 फुट की ऊँचाई तक जाता है और रोपण के तीन या चार वर्ष बाद फल देने लगता है। बड़े पैमाने पर बोने के लिए बौनी किस्म उपयुक्त नहीं है। संकर किस्म में दोनों किस्मों की अच्छाइयां बनी रहती हैं। फिलीपाइन, कोचीन, और लक्षद्वीप से लाई गई नारियल की कुछ किस्में भारत में अच्छी तरह फली-फूली हैं।

मूंगफली (*Arachis hypogaea* Linn.)

मूंगफली एक व्यापारिक फसल है। इसका तेल खाने के काम आता है और इसके तेल को हाइड्रोजनित करके वनस्पति घी और विभिन्न पदार्थ तैयार करके विदेशों को भेजे जाते हैं जिससे काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। फसल-आवर्तन के विचार से भी मूंगफली की खेती भूमि का उपजाऊपन बढ़ाने में बड़ी मदद पहुँचाती है क्योंकि यह एक फलीदार फसल है। इसकी जड़ों में एक प्रकार के जीवाणु बैठ जाते हैं जो जड़ों में प्रवेश कर कुछ गाँठें पैदा कर देते हैं। ये जीवाणु इन गांठों में रहकर वायु की मुक्त नाइट्रोजन को ग्रहण कर लेते हैं और उससे प्रोटीन जैसे पदार्थ बनाते हैं। ये जड़ें जमीन में रह जाती हैं और भूमि को नाइट्रोजनधारी पदार्थ प्रदान करती हैं। मूंगफली ब्राजील देश की निवासी है और अब भारत, चीन, पश्चिमी अफ्रीका तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में इसकी व्यापक रूप से खेती होती है। संसार में कुल 2 करोड़ एकड़ भूमि में मूंगफली की खेती की जाती है। जिससे प्रति वर्ष लगभग 50 लाख टन मूंगफली पैदा होती है। भारत में आजकल लगभग

1·38 करोड़ एकड़ भूमि में इसकी खेती की जाती है जिससे 14·3 लाख टन उपज प्राप्त होती है।

छिलका उतार कर मूंगफली की गिरी से तेल निकाला जाता है जो खाना पकाने के अतिरिक्त वनस्पति घी बनाने के काम आता है और तेल, साबुन तथा श्रृंगार प्रसाधन उद्योगों में यह इस्तेमाल किया जाता है। मूंगफली को कच्चा भूनकर और तरह-तरह से तैयार करके खाया जाता है। मूंगफली में प्रोटीन और विटामिन ए, बी तथा बी-2 वर्ग के कुछ अन्य विटामिन का काफी अंश होता है। मूंगफली के 100 ग्राम से 349 कैलोरी गर्मी प्राप्त होती है। स्मरण रहे कि हमारे शरीर को चलाने के लिए पदार्थों से मिलने वाली गर्मी जरूरी है और ऐसी गर्मी का नाम कैलोरी होता है।

मूंगफली की खली में 7 से 8 प्रतिशत नाइट्रोजन, 1·5 प्रतिशत फास्फोरस तथा 1·2 प्रतिशत पोटाश होता है। इसका उपयोग उर्वरक तथा पशुचारे के रूप में किया जाता है। पौदे के डंठल (हरे सुखा कर या साइलेज बनाकर) मवेशियों को खिलाए जाते हैं। मूंगफली का छिलका गत्ते बनाने और कार्क की जगह काम में लाई जाने वाली चीजों के बनाने के काम में आता है।

जलवायु और मिट्टी : मूंगफली की खेती अक्षांश रेखा 45 डिग्री उत्तर और अक्षांश रेखा 30 डिग्री दक्षिण के मध्य, उष्ण और कम उष्ण प्रदेशों में लगभग 3500 फुट की ऊँचाइयों तक होती है। कम से कम 20 इंच और अधिक से अधिक 50 इंच प्रति वर्ष वर्षा वाले इलाकों में इसे सफलतापूर्वक उगाया जा सकता है।

किन्तु पाला, बहुत दिनों तक अधिक सूखा या जललग्नता मूंगफली का पौधा सहन नही कर सकता ।

मूंगफली की फसल बलुई दुमट, दुमट और जल निकास वाली काली भूमि पर सबसे अच्छी होती है । भारी और सख्त मटियार भूमि मूंगफली के लिए उपयुक्त है ।

फसल : गेहूँ, ज्वार, बाजरा, चना, अण्डी, धान और कपास तथा कुछ इलाकों में आलू, प्याज, मिर्च, लहसुन, अदरक और हल्दी के साथ मूंगफली का फसल आवर्तन किया जाता हैं । मध्य भारत के कपासी क्षेत्रों में, जहाँ पर्याप्त वर्षा होती है, ज्वार, मूंगफली और कपास की फसलों का आवर्तन प्रचलित है । मूंगफली के बाद कपास, रागी और अन्य खाद्यान्नों के बोने से पैदावार 25 से 50 प्रतिशत बढ़ जाती है । आमतौर पर मूंगफली को अकेला बोया जाता है और कभी-कभी अंडी, कपास और तूर के साथ बीच में उगाई जाने वाली फसल के रूप में भी ।

मौसम : असिंचित खरीफ की फसल के रूप में मूंगफली अप्रैल-मई से जून-जुलाई के बीच बोई जाती है और यह बरसाती जल पर निर्भर रहती है । कई इलाकों में इसे देर से (अगस्त या सितम्बर के आरम्भ में) सिंचित फसल के रूप में, जनवरी-फरवरी-मार्च और मई-जुलाई के बीच बोया जाता है और सिंचाई की पूरी व्यवस्था की जाती है ।

कृषि क्रियायें : मूंगफली की बुआई के लिए खेत की मिट्टी इकसार, मुलायम और ढीली होनी चाहिए । पिछली फसल के कट जाने के पश्चात् शीघ्र ही गहरी जुताई होनी चाहिए और गर्मियों

में हैरो चलाया जाना चाहिए। इसके बाद प्रथम वर्षा के होते ही फिर हैरो चलाकर बुआई के लिए खेत तैयार किया जाये।

साधारणतः इसे कोई खाद नहीं दी जाती। अच्छी जुताई मात्र से औसतन अच्छी जमीन पर अच्छी खेती होती है। फिर भी, पंजाब और मैसूर के कई भागों में प्रति एकड़ 20-25 पौंड नाइट्रोजन और समान मात्रा में फास्फोरस देने से अच्छी फसल होती है। कई इलाकों में 2 से 5 टन प्रति एकड़ गोबर की खाद और लकड़ी की राख आमतौर पर दी जाती है। कुछ किसान फसल को खाद देने के लिए खेतों में भेड़ें भी बैठवाते हैं।

छिलके सहित मूंगफली के बीज को सीलन और कीड़ों से बचाने के लिये सुरक्षित स्थान में रखा जाना चाहिए। बुआई से तुरन्त पूर्व फली पर से छिलका उतार लेना चाहिए और केवल सुगठित फलियों को ही बोना चाहिए। लकड़ी के हलों के पीछे-पीछे 3 से 4 इंच गहरी नालियों में 6 से 9 इंच की दूरी पर मूंगफली हाथ से बोई जानी चाहिए, अथवा 9 से 12 इंच दूर की कतारों में एक से पाँच फली वाली मशीन से बोयी जानी चाहिए। बीज की दर फैलने वाली किस्म के लिए 75 पौंड की गिरी प्रति एकड़ से लेकर गुच्छेदार किस्म के लिए 100 पौंड गिरी प्रति एकड़ तक है।

आमतौर से मूंगफली की फसल में एक निराई हाथ से और एक या दो गुड़ाई बैलों से की जाती है। पहली बार निराई गुड़ाई से लगभग तीन सप्ताह बाद और दूसरी व तीसरी बार निराई गुड़ाई क्रमशः एक पखवाड़े और एक महीने बाद करनी चाहिए। भूमि के भीतर गांठें पनपने के बाद कृषि क्रिया नहीं की जाती।

जब पौधों की निचली पत्तियाँ पीली पड़ कर मुरझाने और गिरने लगें तभी फसल काटी जानी चाहिए। बीजावरण का सही रंग और छिलके के अन्दर का गहरा रंग भी फसल पक जाने का द्योतक है। जिन भू-भागों में सूअर अधिक होते हैं फसल बोने और उसके पकने के समय रात का पहरा जरूरी हो जाता है। गुच्छेदार मूँगफली का पौधा जमीन से उखाड़ कर निकाला जाता है और फैलने वाली किस्म की मूँगफली की कटाई भूमि को खुदाई, जुताई या हल्की सिंचाई द्वारा मुलायम बनाने के बाद की जाती है। फसल कट जाने के तुरन्त या कुछ दिनों तक सुखाने के बाद पौधे से फली को अलग निकाल लिया जाता है। फलियों को जमा करके रखने या उनका छिलका उतारने से पूर्व उन्हें धूप में सुखाया जाता है। यदि सीली फलियों को भण्डारित किया जाता है तो उनसे निकले तेल में बदबू आने लगती है आमतौर पर छिलका सहित मूँगफली का ही भण्डारण किया जाता है। यदि छिलका उतार कर गिरियों को रखना है तो उनमें टूटी गिरियों की संख्या करीब-करीब नहीं होनी चाहिये और एक के ऊपर एक बोरे दस से अधिक नहीं रखे जाने चाहियें ताकि निचले बोरों की फलियां दबकर जम न जायें।

पैदावार : पर्याप्त वर्षा होने पर फैलने वाली किस्म की औसत पैदावार 1,200-1,400 पौंड (छिलका सहित) फली प्रति एकड़ और गुच्छेदार किस्म की 890 से 1,000 पौंड प्रति एकड़ है। सिंचित फसल से 3,000 पौंड या इससे भी अधिक प्रति एकड़ पैदावार होती है। फलियों के कुल भार का 70 से 75 प्रतिशत गिरी का होता है।

मूंगफली की उन्नत किस्में : आंध्र प्रदेश के लिए टी० एम० वी-2 (पटनी), टी-एम-वी-3 (कोरोमण्डल), स्पेनिश पटनी-5;

बम्बई के लिए उन्नत स्पेनिश कोपरगाँव-1, कोपरगाँव-3, स्पैनिश पीनट-5-ए-के-10, उन्नत छोटी जापान ए-के-12-24; बिहार के लिए बड़ी जापान स्पेनिश पटनी, ए-के-12-24, टी-एम-वी-1; बंगाल के लिए ए-एच-25, मध्य प्रदेश के लिए ए-के-10, ए-के-12-24; मद्रास के लिए उन्नत स्पेनिश, उन्नत छोटी जापान, टी-एम-वी-1, टी-एम-वी-2, टी-एम-वी-3, टी-एम-वी-4; मैसूर के लिए एच-जी-1 एच-जी-7, एच-जी-9, स्पेनिश उन्नत पांडेचेरी-8; पंजाब के लिए नं०1, डी-3; राजस्थान के लिए आर-एस-1 और उत्तर प्रदेश के लिए सी-9, टाइप-25 टाइप-100 उन्नत किस्में उपयुक्त हैं।

मूँगफली की दो किस्में मुख्यतः प्रचलित हैं--गुच्छेदार और इधर-उधर फैलने वाली। गुच्छेदार किस्म के पौधे सीधे खड़े होते हैं, पौधों की जड़ों में जमीन के नीचे गुच्छों में फलियां लगती हैं और उनकी गोल, मोटी, हल्की गुलाबी या लाल रंग की सजीव गिरी होती है। फैलने वाली किस्म की शाखायें धरती की सतह पर इधर-उधर फैली रहती हैं और उनमें भूरे रंग की लम्बी फलियां पैदा होती हैं। फैलने वाली किस्म से आमतौर पर अधिक पैदावार होती है किन्तु उसकी फसल पकने में गुच्छेदार किस्म की अपेक्षा अधिक समय लेती है। मूँगफली की चार मुख्य व्यापारिक किस्में है, इनमें (1) कोरोमण्डल, (2) बम्बई बोल्ड फैलने वाली है (3) स्पेनिश पटनी और (4) रैड नेटाल गुच्छेदार है।

अलसी (*Linum usitatissimum* Linn.)

तिलहन फसलों में अलसी भी एक महत्वपूर्ण फसल है। तेल के अतिरिक्त इसके पौधों का रेशा एक विशेष प्रकार का

जूट जैसा मोटा टाट बनाने के काम आता है। अलसी के तेल में जल्दी सूखने का गुण होता है। इसलिये इसका प्रयोग रंग रोगन उद्योग, छपाई की स्याही, मोमजामा और वाटरप्रूफ कपड़ा आदि बनाने में बड़े पैमाने पर किया जाता है। बहुत क्षेत्रों में इसके तेल को खाने के काम भी लाते हैं। इसकी खली एक अच्छा पशु आहार है और साथ ही अच्छी खाद भी है। पौधे के तने आदि ईंधन के काम में लाए जाते हैं और कभी-कभी उनसे मोटा रेशा भी निकाला जाता है।

अलसी की खेती अर्ध-उष्ण, समशीतोष्ण और अधिक ठंडी जलवायु में भी की जा सकती है। अलसी पैदा करने वाले मुख्य देश अर्जेंटाइना, सोवियत रूस, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका है। भारत और अर्ध-उष्ण जलवायु वाले देशों में अलसी को प्रधानतः उसके बीजों के लिए बोया जाता है, जबकि ठंडी जलवायु वाले देशों में केवल रेशा या रेशा व बीज दोनों के लिए अलसी को उगाया जाता है। भारतीय किस्म की अलसी के पौधे में अनेक शाखायें होती हैं, जबकि योरोपियन किस्म में डण्ठल होता है और पौधे की चोटी पर कुछ छोटी-छोटी शाखायें बाद में निकल आती हैं इससे टाट आदि बनाने के लिए अच्छा रेशा प्राप्त होता है। रेशे के लिए योरोपियन किस्म की अलसी भारत में उगाई गई, किन्तु अभी तक इसमें आशातीत सफलता नहीं मिली है।

भारत में प्रति वर्ष लगभग 35 लाख एकड़ भूमि पर अलसी की खेती की जाती है और जिससे करीब 37 लाख टन अलसी पैदा होती है।

मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बम्बई, बिहार और राजस्थान अलसी के प्रधान उत्पादक राज्य हैं ।

जलवायु और मिट्टी : सितम्बर-अक्तूबर से फरवरी-मार्च के बीच रबी की फसल के रूप में इसे उगाया जाता है । बीज की फसल के लिए साधारण ठंड पर्याप्त है किन्तु रेशे की फसल के लिए ठंडी और नम जलवायु अति आवश्यक है । अलसी की फसल धरती की नमी की मदद से उग और पनप सकती है, इसी कारण मध्य भारत की गहरी, मटियार, काली और गंगा-सिंधु के मैदान की जलोढ़ दुमट भूमि पर इसकी अच्छी खेती होती है । व हल्की मिट्टियों पर एक या दो बार सिंचाई की जरूरत होती है : सामान्यतः अलसी, गेहूँ और चना की फसलें एक ही प्रकार की भूमि में उगाई जाती हैं ।

फसल आवर्तन : अलसी की फसल का आवर्तन मुख्यतः गेहूँ, चना, रबी की ज्वार और कपास के साथ रखा जाता है । अलसी को वर्ष की एकमात्र फसल के रूप में अथवा इससे पूर्व मूंग, उड़द, मूंगफली और धनियां जैसी शीघ्र पकने वाली खरीफ की फसलों के बाद बोया जाता है । अलसी को अकेला या चना, राई अथवा एक एक क्यारी छोड़कर गेहूँ, चना, कुसुम और रबी की जुलाई के साथ भी उगाया जा सकता है । उत्तर प्रदेश तथा भारत के मध्य भागों मिश्रित फसल अधिक प्रचलित है ।

कृषि क्रियायें : भूमि को तैयारी प्रायः उसी तरह से की जाती है जैसे गेहूं के लिए होती है । दोनों फसलों के लिए साफ सुथरी और अधिक भुरभुरी उपजाऊ जमीन की आवश्यकता पड़ता है । अक्तूबर में नौ इंच से एक फुट की परस्पर दूरी की लाइनों में साड ड्रिल की मदद से बुआई की जाती है और फिर हैरो चलाकर मिट्टी

से बीज ढक दिया जाता है । कुछ क्षेत्रों में अलसी की छिटकवां बुआई होती है । कभी कभी बंगाल में अमन धान की लाइनों के बीच में भी अलसी को छिटक कर बोया जाता है । आमतौर पर 10-15 पौंड प्रति एकड़ बीज की जरूरत पड़ती है परन्तु मध्य प्रदेश के कुछ भागों में और उत्तर प्रदेश के दक्षिण भागों में 40 पौंड प्रति एकड़ तक बीज बोया जाता है । जब अलसी को अकेला बोया जाता है तो किसी प्रकार की खाद नहीं दी जाती है और न कृषि क्रियाएं ही की जाती हैं । बुआई के समय, खेत की भूमि और उगाई गई किस्म के अनुसार फसल जनवरी के अन्त से लेकर अप्रैल के अन्त तक पकती है । बीज कोष के पकजाने पर पौधों को उखाड़ कर अथवा धरती की सतह से उन्हें काट कर अलग कर लिया जाता है । पौधों को खलिहान में लगभग एक सप्ताह तक सुखाने के बाद उन्हें डन्डों से पीट कर अथवा पशुओं के पैरों से कुचलवा कर बीज निकाले जाते हैं और फिर उन्हें बरसाया या ओसाया जाता है । आमतौर पर बीज की मिट्टी बर्तनों में अथवा मिट्टी से पुती बांस की टोकरियों को सुरक्षित रखा जाता है ।

अलसी की उन्नत किस्में : बंगाल के लिए डब्ल्यू-बी० 37; बिहार के लिए अलसी तीसी पी० 142, बी० आर०-1, बी० आर०-2 बी० आर०-12, मलसिरस-10; बम्बई के लिए शोलापुर-300, नं० 3 नं० 55 ; मध्य प्रदेश के लिए नं० 3, नं० 55, नं० 4/29, एन० पी० 11 ; उड़ीसा के लिए मयूरभंज ; पंजाब के लिए के-2 और उत्तर प्रदेश के लिए टाइप-नं० 1, एन० पी० 12, एन० पी० 121 और नं० 124 उन्नत किस्में उपयुक्त हैं ।

पैदावार : फसल की औसतन पैदावार 150-500 पौंड प्रति एकड़ होती है। मध्य भारत की काली भूमि की तुलना में उत्तर भारत में अधिक पैदावार होती है। सिंचित फसल की उपज 800-1,000 पौंड प्रति एकड़ तक होती है।

अलसी के बीजों में 37-44 प्रतिशत तक तेल होता है लेकिन एक्सपेलर या रोटरी घानी द्वारा छोटे बीजों से 33 प्रतिशत और बड़े बीजों से लगभग 34-36 प्रतिशत तक तेल निकल पाता है। गांव की घानियों से केवल 25 से 30 प्रतिशत तक तेल प्राप्त होता है।

सरसों वर्ग (*Brassicas*)

संसार में भारत सब से अधिक सरसों पैदा करने वाला देश है। संसार में कुल जितनी सरसों पैदा होती है उसका 31 प्रतिशत भाग भारत ही पैदा करता है। सरसों शब्द लगभग एक जैसे तीन तिलहनों के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

इस वर्ग की फसलों में कई तिलहनी फसलें शामिल हैं जो अनेक बातों में समान होती है। सरसों वर्ग की इन सब फसलों की प्रतिवर्ष खेती 5.79 करोड़ एकड़ भूमि पर की जाती है जिसमें 8.96 लाख टन उपज प्राप्त होती हैं। देश में सरसों वर्ग की कुल भूमि का लगभग 59 प्रतिशत भाग उत्तर प्रदेश में और कुल उपज का 59 प्रतिशत भी इसी प्रदेश में पैदा होता है।

जलवायु और भूमि : तोरिया और सरसों की संतोषजनक उपज के लिए ठंडे मौसम की जरूरत होती है इसलिए ये फसलें रबी के मौसम में और प्रायः समूचे उत्तरी भारत में बोई जाती है। पीली सरसों और तोरिया की फसलें मौसम के अचानक परिवर्तन

को सहन नहीं कर सकती है। सभी प्रकार की सरसों की फसलों के लिये दुमट जलोढ़ भूमि अच्छी रहती है ।

पीली सरसों (*B. campestris* var. *sarson*)

यह उत्तर प्रदेश, पंजाब, बंगाल और बिहार में उगाई जाती है। इसके पौधे लम्बे और सख्त होते हैं। इसकी पत्तियों का आधार चौड़ा होता है जिससे वे डण्ठल को ढक लेती है। फलियाँ मोटी और मजबूत होती हैं तथा बीज बड़े, गोल, हल्के पीले या भूरे रंग के मुलायम और गैर-चिपचिपे होते हैं।

इसकी खेती करने का ढंग वही है जो सफेद सरसों की फसल के लिए बताया गया है। विशुद्ध फसल की औसत पैदावार 500 से 800 पौंड प्रति एकड़ तक होती है। इसके बीज में लगभग 45 प्रतिशत मोटी गंध वाला तेल होता है जिसका व्यापारिक नाम कोलज़ा तेल है। यह तेल खाना पकाने, रोशनी करने में और अंग-राग उद्योगों में इस्तेमाल किया जाता है। इसकी खली पशुओं को खिलाई जाती है।

उत्तर प्रदेश में इसको वाई एस 10 और वाई एस 151 नामक उन्नत किस्में उगाई जाती हैं। ये बड़े बीजवाली किस्में हैं और ये गेहूँ के साथ मिलाकर उगाने के लिए उपयोगी है। इनके अति-रिक्त लम्बी फलियों वाली वाई-एस-बी बी-आई, आई-बी नामक किस्म भी प्रचलित है।

तोरिया (*B. campestris* var. *toria*)

पंजाब, बंगाल, असम और उत्तर प्रदेश के उपपर्वतीय भू-भागों में तोरिया की खेती बड़े पैमाने पर की जाती है। इसके बीज छोटे

गोलाकार अथवा अण्डाकार, नीले भूरे रंग के और गैर चिपचिपे होते हैं।

वर्षा और साथ ही सिंचाई से प्राप्त जल के आधार पर इसकी फसल उगाई जाती है। यह सितम्बर में बोई और जनवरी में काटी जाती है। 30 पौंड प्रति एकड़ नाइट्रोजन से फसल की अच्छी उपज होती है। बर्षा पर आधारित विशुद्ध फसल की औसत पैदावार 400-500 पौंड प्रति एकड़ होती है, जबकि सिंचित फसल की पैदावार 1,000-1,200 पौंड प्रति एकड़ होती है। बीजों से केवल 45 प्रतिशत तेल निकलता है जो स्वाद में कुछ कड़ुवा होता है और खाने के काम में लाया जाता है। इसकी खली को पशु आहार अथवा खाद के काम में लाया जाता है।

बंगाल में तोरिया नं० 6 और असम में एम० 3, एम० 18 और एम० 27 नाम की किस्में उगाई जाती हैं।

राई (*B. juncea*)

राई की खेती उत्तर प्रदेश, पंजाब, बिहार और बंगाल में होती है। इसके बीज छोटे, गोलाकार अथवा अण्डाकार और लाल भूरे रंग के होते हैं।

इसकी औसत पैदावार 500-800 पौंड प्रति एकड़ होती है, लेकिन अच्छी जुताई होने पर उपज 1,200 से 1,500 पौंड तक भी हो जाती है। इसके बीजों से 35-41 प्रतिशत तक कड़ुवा खाद्य प्राप्त होता है। इसकी खली पशुओं को खिलाने के काम लाई जाती है।

देश के विभिन्न राज्यों में राई की यह उन्नत किस्में उगाई जाती हैं। बंगाल में राई-5, बिहार में बी० आर०-13 और बी०

आर०-40; पंजाब में एल०-18 (माहू रोधी); और उत्तर प्रदेश में लाहा आर० टी-11 (बढ़िया जमीन के लिए उपयुक्त) और 101 (मिश्रित फसल के लिए)।

काली सरसों (*B. nigra* L.)

काली सरसों की खेती उत्तर प्रदेश, पंजाब, आंध्र प्रदेश, मैसूर और मद्रास में होती है। इसके बीज छोटे, गोलाकार या बड़े अण्डाकार, गहरे भूरे तथा काले रंग के और चिपचिपे होते हैं। बीजों पर हल्की झिल्ली चढ़ी होती है।

काली सरसों अपनी जाति की अन्य फसलों की भांति रबी के मौसम में उगायी जाती है। मैसूर में मुख्य रागी की फसल के साथ इसे जुलाई से नवम्बर तक उगाया जाता है। विशुद्ध फसल की औसत पैदावार 400 पौंड और मिश्रित फसल की उपज लगभग 100-150 पौंड प्रति एकड़ होती है।

काली सरसों के बीज मसाले के रूप में और प्लास्टर या पुलटिस बनाने के काम में लाये जाते हैं। बीजों में 25 से 30 प्रतिशत तक खाद्य तेल होता है। यह तेल खाना बनाने, रोशनी करने व मशीनों को चिकनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

तारामीरा (*Eruca sativa*)

तारामीरा के पौधे दो से चार फुट ऊंचे होते हैं। इनका तना ठोस होता है और सख्त बालों से ढंका रहता है। पत्तियों पौधे के तने से निकलती है। फली के प्रत्येक भाग में दोहरी कतारों में बीज पैदा होते हैं। कठोरता सहन करने वाली यह फसल

अधिकतर उत्तरी पंजाब के उपपर्वतीय भू-भागों में बोई जाती है। इसे अकेली फसल के रूप में या जौ के साथ मिलाकर उगाया जाता है। इसकी खेती भी सरसों वर्ग की अन्य फसलों की भांति ही की जाती है। इसकी औसत पैदावार 300 से 500 पौंड प्रति एकड़ होती है और इसमें 12-25 प्रतिशत तक तेल अंश होता है।

तिल (*Sesamum orientale* L.)

तिल एक महत्वपूर्ण तिलहन है। तिल के बीज तलकर चीनी के साथ मिठाई के रूप में खाये जाते हैं। तिल का तेल दक्षिण भारत में भोजन पकाने के काम में आता है। यह तेल शरीर में मालिश करने, सुगन्धित तेलों की बनाने और औषधियों में भी काम आता है। इसकी खली निम्न वर्ग के लोगों द्वारा बड़े चाव से खाई जाती है। यह दुधारू पशुओं के लिए एक अति पौष्टिक आहार भी है।

भारत में तिल की खेती लगभग 61 लाख एकड़ भूमि पर प्रति वर्ष होती है और कुल उत्पादन लगभग पांच लाख टन है।

जलवायु और मिट्टी : यद्यपि तिल की खेती देश के कई भागों में होती है परन्तु इसकी फसल पाला, लगातार भारी वर्षा या लगातार सूखा बर्दाश्त नहीं कर सकती। ठंडे इलाकों में खरीफ की फसल और गर्म इलाकों में रबी की सफल के रूप में इसे बोया जाता है। इसकी किस्में मौसमों से सम्बंधित हैं। खरीफ में बोई जाने वाली किस्में रबी के मौसम में अच्छे फल नहीं देतीं और रबी के मौसम की किस्में खरीफ मौसम के लिए अनुपयुक्त हैं।

तिल उर्वरा भूमि पर जिसमें जल-निकासी अच्छी होती है, खूब पैदा होता है। खरीफ फसल के रूप में बलुई या हल्की भूमि इसके लिए उपयुक्त है। रबी की फसल के रूप में इसे नमी रोकने वाली, मध्यम भारी जलोढ़ या काली भूमि चाहिए।

फसल आवर्तन : खरीफ की फसल अकेली या बाजरा, ज्वार, दाल, सन (दक्खन), तूर और अंडी के साथ उगाई जाती है। आमतौर पर रबी की फसल अकेली उगाई जाती है या कपास और ज्वार के साथ इसका क्रम रखा जाता है।

कृषि क्रियायें : तिल की बुआई मुख्य खरीफ के मौसम (जून-जुलाई) में या दो महीने पहले (अप्रैल-मई) या खरीफ और रबी मौसमों के बीच (अगस्त-सितम्बर) या रबी के मौसम (अक्तूबर-नवम्बर) में की जा सकती है परन्तु इसका बोना इन बातों पर निर्भर करता है कि वर्षा कब शुरू होती है, कौन-सी किस्म बोई जानी है, और वहाँ की जलवायु कैसी है। कभी-कभी फरवरी-मार्च से मई-जून के बीच सिंचाई की समुचित व्यवस्था होने पर इसे बोया जाता है।

अगेती किस्म की फसल के लिए सामान्यतः आरम्भिक जुताई बहुत अधिक नहीं की जाती। पिछेती खरीफ और रबी फसलों की बुआई के लिए कई बार हल और हैरो चलाकर खेत को साफ-सुथरा बना लिया जाता है। बुआई छिटकवां होती है या 9 से 12 इंच दूर की कतारों में बीज बोये जाते हैं। चूंकि बीज छोटा होता है उसे अक्सर बालू या गोबर की खाद के चूरे के साथ मिलाकर बोया जाता है ताकि बीजों का वितरण समान रूप से हो सके। बीजण यंत्र को गहरा नहीं चलाना चाहिए ताकि बुआई गहरी न हो। बुआई के बाद ब्रश-हैरो चलाकर बीजों को ढक देना चाहिए। बीज-दर 2 से

5 पौंड प्रति एकड़ ठीक रहती है। वर्षा के जल पर निर्भर रहने वाली फसल की निराई और गुड़ाई केवल एक या दो बार की जाती है जबकि सिंचाई वाली फसल के लिए कुछ अधिक निराई और गुड़ाई की आवश्यकता होती है। सामान्यत: इस फसल को खाद नहीं दी जाती। अगेती किस्में 3 से $3\frac{1}{2}$ महीने में पककर तैयार हो जाती हैं जबकि दीर्घ अवधि वाली किस्में $5\frac{1}{2}$ से 6 महीने लेती हैं। पत्तियों, तनों और फलियों के पीले पड़ जाने और निचली पत्तियों के झड़कर गिरने पर फसल काटी जाती है। इस बात का ध्यान रखा जाता है कि फसल ज्यादा न पक जाये क्योंकि ज्यादा पकने पर बीज गिरने शुरू हो जाते हैं। पके पौधों को काटा या उखाड़ा जाता है और फिर खलिहान में ले जाकर एक सप्ताह तक धूप में सुखाने के लिए उनकी जड़ें नीचे को ओर रख उनका ढेर लगा दिया जाता है। उस के बाद बरसाई (ओसाई) और सफाई के बाद प्रक्रिया पूरी हो जाती है।

उपज : वर्षा के जल पर निर्भर करने वाली अमिश्रित फसल की औसत पैदावार 200 से 500 पौंड प्रति एकड़, रबी की फसल की 100 से 300 पौंड और गर्मियों मे सिंचाई की व्यवस्था से उगाई जाने वाली फसल की उपज 300 से 600 पौंड प्रति एकड़ है।

किस्में : किस्मों की विभिन्नता न केवल फलने और पकने के मौसम बल्कि पत्ती, वृक्षों में फलियों की संख्या और बीजों के आकार, रंग तथा तेल-अंश के अन्तर पर भी निर्भर करती है। सफेद, मामूली सफेद, हल्के भूरे, गहरे भूरे, लाल या काले कई रंग के तिल होते हैं और उनमें 40 से 50 प्रतिशत तक तेल होता है।

तिल की कुछ उन्नत किस्में ये हैं : एम-3-2 एम-3-3, बिहार के लिए ; नं० 85, नं० 128, नं० 8, बम्बई के लिए ; नं० 128

मध्य प्रदेश के लिएँ टी०एम०वी-1 टी०एम०वी-2, टी०एम०वी-3, मद्रास के लिए और नं० 10 उत्तर प्रदेश के लिए ।

रामतिल, कुसुम, सफेद सरसों, भूरी सरसों भी कुछ ऐसे तिलहन हैं जो अलग-अलग प्रदेशों में उगाये जाते हैं । इनके बारे में संक्षिप्त सूचना अंत में **सारणी** 14 में दी गई है ।

रेशे की फसलें

रेशे की फसलों में कपास, पटसन, सन और मेस्टा मुख्य हैं । संसार की रेशे वाली फसलों में कपास की खेती सबसे अधिक व्यापक है और भारत प्राचीनकाल से ही कपास की खेती के लिए प्रसिद्ध रहा है । पटसन भी भारत के लिए नया नहीं है । आइने अकबरी में मोटे टाट का उल्लेख मिलता है जिससे गरीब लोग पहिनने के कपड़ें बनाते थे । देश को सबसे अधिक विदेशी मुद्रा इसी फसल से प्राप्त होती हैं ।

कपास (Gossypium spp.)

रेशे वाली फसलों में कपास का विश्व में 70% से अधिक उपयोग होता है । भारत में कपास की खेती बहुत पुराने जमाने से होती आई है । 1947 तक भारत विश्व में कपास पैदा करने वाला दूसरा सबसे बड़ा देश था । देश विभाजन के बाद कपास की खेती के अन्तर्गत क्षेत्र काफी कम हो गया है । आजकल 200 लाख एकड़ भूमि पर इसकी खेती होती है और लगभग 47 लाख गाँठों का उत्पादन होता है । भारत अब छोटे, मध्यम और लम्बे रेशों वाली कपास में आत्म-

निर्भर है। फिर भी, हमें स्थानीय मांग की पूर्ति के लिए प्रति वर्ष बहुत अधिक लम्बे रेशे वाली 5 से 6 लाख गांठ कपास का विदेश से आयात करना पड़ता है।

जलवायु और मिट्टी : कपास अर्धउष्ण जलवायु की फसल है। यह मध्य भारत की 30 इंच प्रति वर्ष वर्षा के इलाकों से लेकर 100 इंच से ऊपर वर्षा के इलाकों, असम और केरल में खूब अच्छी तरह पनपती है। शुष्क भू-भागों में इसे उगाया जा सकता है बशर्ते कि सिंचाई की व्यवस्था हो। कपास की फसल को अपने आरम्भिक विकासकाल में पर्याप्त जल वृष्टि की आवश्यकता होती है किन्तु फूलने और फलने की अवस्था में अपेक्षाकृत शुष्क मौसम की जरूरत होती है। फूलने खिलने और फसल काटने के समय वर्षा निश्चित रूप से हानिकारक है। कपास की फसल 110-115 डि० फैरेनाइट तक का तापमान सहन कर सकती है, किन्तु यदि तापमान 90° फैरेनाइट से नीचे गिर जाता है तो फसल को नुकसान पहुँचता है। पाले से यह शीघ्र ही मारी जाती है।

कपास की खेती कई किस्म की जमीनों पर की जाती है। गंगा की जलोढ़ भूमि, मध्यभारत की काली भूमि पर और पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की लाल और लैटराइट भूमियों पर समान रूप से अच्छी खेती होती है। इसके लिए जल-निकास वाली भूमि चाहिए। यह पानी के ठहराव को बर्दाश्त नहीं करती। कपास की खेती मुख्यतः उत्तर भारत की सिंचाई वाली जलोढ़ भूमियों में और मध्य तथा दक्षिण भारत की काली व मध्यकाली भूमियों पर वर्षाधीन की जाती है।

कपास की किस्म, जलवायु और भूमि आदि की विभिन्नता के अनुसार विभिन्न भू-भागों में जुताई का ढंग भी भिन्न प्रकार का है।

बुआई : आमतौर पर उत्तर भारत में अगेती बुआई होती है लेकिन जैसे-जैसे दक्षिण की ओर बढ़ते जाते हैं, पिछेती बुआई की जाती है। जिस किस्म के उगने में जितना समय लगता है उतना ही उसे पहले बोया जाता है। भूमि में जितनी अधिक धारण-शक्ति होती है उतनी ही बुआई अगेती की जाती है। सिंचाई पर आधारित कपास की फसल की आमतौर पर अगेती बुआई होती है। बहुधा लम्बे रेशों वाली कपास छोटे रेशों वाली फसलों से पहले बोई जाती है।

कपास के बीजों को बुआई से पूर्व मिट्टी या गोबर या दोनों से लेपा जाता है अथवा दो मिनट तक मामूली सलफ्यूरिक एसिड में अथवा 15 मिनट तक जस्त (जिंक) क्लोराइड घोल में डुबा कर रखा जाता है। कई बार बीजों को बुआई से 6-8 घंटे पूर्व जल में भिगो कर रखा जाता है।

बीज दर 5 से 20 पौंड प्रति एकड़ के बीच होती है। उत्तर भारत में देसी कपास की बीज दर 6 से 10 पौंड प्रति एकड़ और पंजाब-अमेरिकन किस्म की 10 से 12 पौंड है। भारत के मध्य और पश्चिमी भागों में 12 से 20 पौंड और मद्रास में 10 से 16 पौंड प्रति एकड़ देसी कपास की बीज दर है। मद्रास में सिंचाई वाली अमेरिकन कपास की बीज दर 6 से 12 पौंड है जबकि बुआई कतारों में हो और 15 पौंड प्रति एकड़, जबकि बुआई छिटकवां हो।

आमतौर पर कपास की छिटकवाँ बुआई होती है लेकिन अधिकाधिक किसानों द्वारा कतारों की बुआई का ढंग अपनाया जा रहा है। कतारों में बुआई करते समय हल से लगी हुई धातु की एक नली द्वारा बीज डाला जाता है, जैसा कि उत्तर भारत में प्रचलन है, अथवा कई कतारों वाली बीज ड्रिल द्वारा। कई जगह समतल खेतों अथवा मेड़ों पर हाथ से बीज बोया जाता है।

फसल की किस्म, जल की उपलब्धि तथा भूमि की उर्वरा शक्ति के अनुसार कतारों की परस्पर दूरी निर्धारित की जाती है। कतारों की परस्पर दूरी 1 से 5 फुट के बीच रखी जाती है और कतारों में 6 से 18 इंच की दूरी पर बुआई की जाती है। अधिक शाखाओं में फैलने वाली अथवा सिंचाई वाली फसलों की बुआई में परस्पर दूरी कुछ अधिक रखी जाती है। अधिक वर्षा प्राप्त करने वाली अथवा अधिक धारण शक्ति रखने वाली भूमि पर वर्षाधीन फसलें अधिक विस्तार के साथ बोई जाती हैं। न्यून उर्वरा शक्ति वाली भूमियों में बुआई के समय परस्पर दूरी कम रखी जाती है।

खेत की तैयारी : उत्तर भारत में जहाँ कि गेहूँ के बाद सिंचाई वाली कपास की फसल का क्रम रखा जाता है, बुआई से पहले जमीन पर जल्दी से एक दो बार हल चलाया जाता है। मध्य और दक्षिणी भारत की काली भूमि पर आमतौर पर हल नहीं चलाया जाता लेकिन तीन या चार बार हैरो चलाया जाता है। गहरी जड़ों वाली घास-पात हटाने के लिए तीन से छः वर्ष के बीच केवल एक बार हल चलाया जाता है। दक्षिण भारत की लाल और लैटराइट भूमि में जहां कहीं रबी की फसल के रूप में कपास उगाई जाती है, खेत में

आमतौर पर दो या तीन बार हैरो चलाया जाता है। मद्रास में अक्सर तीन या चार बार जुताई की जाती है।

कृषि क्रियायें : जहाँ कहीं आरम्भिक जुताई नाममात्र की होती है उस भूमि पर बहुधा कृषि की जाती है। सिंचाई वाली कपास और कतारों में बोई जाने वाली फसलों में ब्लेड हैरो अथवा 'थ्री-टाइन्ड हो' अथवा देशी हल की मदद से प्रायः नियमित रूप से अन्तः कृषि की जाती है। छिटकवां बुआई की फसलों के घासपात हटाने के लिए एक या दो बार हाथ से गुड़ाई की जाती है।

खाद : आमतौर पर कपास की फसल को खाद नहीं दी जाती, किन्तु देखा गया है कि उचित ढंग से खाद देने पर फसल को बहुत अधिक लाभ होता है। कपास की खेती से पूर्व किसी भी फलीदार फसल के बोने अथवा हरी खाद के रूप में उसके प्रयोग से कपास की पैदावार बढ़ती है। कई जगह जहाँ कि बारानी फसल के रूप में कपास बोई जाती है और 5,000 पौंड प्रति एकड़ गोबर की खाद का प्रयोग किया जाता है। सिंचाई वाली कपास की खेती के लिए 40-80 पौंड नाइट्रोजन, 40-80 पौंड पोटाश और 20-40 पौंड फास्फेट प्रति एकड़ का संतुलित उर्वरक मिश्रण काम में लाया जाना चाहिए। नाइट्रोजन की आधी मात्रा बुआई के समय और शेष आधी 6-8 सप्ताह बाद दी जानी चाहिए। यदि फसल को हरी खाद दी गई हो तो नाइट्रोजन की मात्रा आधी की जा सकती है। वर्षा से जल प्राप्त करने वाली फसल के लिए आधी मात्रा काफी है।

सिंचाई : कपास प्रधानतः वर्षा से जल प्राप्त करने वाली फसल है। कपास की खेती के अन्तर्गत कुल भूमि के केवल 6-7 प्रतिशत भाग पर सिंचाई की जाती है। जहां कहीं अपर्याप्त वर्षा

होती है फसल की सिंचाई आवश्यक हो जाती है, विशेषतः लम्बे रेशे वाली अमेरिकन किस्मों के लिए जो कि उगने में अधिक समय लेती हैं। उत्तर भारत में बुआई से पूर्व भूमि की सिंचाई की जाती है। बीजों के अंकुर निकलने के तीन चार सप्ताह बाद दूसरी बार हल्की सिंचाई की जाती है। आगे चल कर वर्षा के अनुसार सिंचाई का प्रबन्ध किया जाता है। फसल के फूलने और फलने के समय जल की सबसे अधिक आवश्यकता होती है। इस समय अपर्याप्त जल से कलियां और फूल झड़ कर गिरने लगते हैं। फल निकलने के बाद सिंचाई बन्द कर देनी चाहिए बशर्ते कि फूलों की परिपक्वता के लिए भूमि में काफी नमी हो।

फसल आवर्तन : कपास सदा ही अन्य फसलों के साथ क्रम से बोई जाती है। उत्तर भारत में प्रचलित फसल-क्रम ये हैं-कपास-गेहूँ, कपास-ज्वार और कपास-गेहूँ-तोरिया। कई भागों में कपास-फलीदार फसल-गेहूँ का क्रम रखा जाता है जिसमें गोल मटर, बरसीम, मेथी या मूंग की फलीदार फसल होती है। मध्य और पश्चिमी भारत में आमतौर पर कपास-ज्वार, कपास-बाजरा, कपास-गेहूँ, कपास-चना, और कपास-तिल का क्रम रखा जाता है। हाल में ज्वार (अथवा गेहूँ)-मूंगफली-कपास का क्रम आरम्भ किया गया है। दक्षिण भारत में कपास-ज्वार अथवा कपास-रागी का क्रम प्रचलित है।

कपास की फसल आमतौर पर मिश्रित फसल के रूप में उगाई जाती है। मध्य भारत में मक्का, ज्वार, अम्बाडी, तिल, दालों अथवा सब्जियों के साथ मिश्रित फसल के रूप में कपास की खेती की जाती है। गुजरात के कई भागों में धान अथवा अंडी के साथ कपास की

अंतः फसल की जाती है। मद्रास और आन्ध्र प्रदेश में रागी, मिर्च अथवा मूंगफली के साथ अंतः फसल का प्रचलन है।

कटाई और पैदावार : पकने पर फलों या गूलर से कपास चुनी जाती है। गुलर से कपास खेत में ही निकाल ली जाती है। बन्द गूलर वाली कपास की फसल में आंशिक रूप से खुले फलों को खेत में ही पौधों से तोड़ लिया जाता है और कपास को बाद में निकाला जाता है। फल तोड़ लेने के बाद सूखे डंठलों को हटा देना उचित है, क्योंकि यदि उन्हें खेत में रहने दिया जाता है तो उनमें कीड़े पनपने लगते हैं। फसल चुनाई का समय कपास की किस्म पर निर्भर करता है। सामान्यतः अक्तूबर से मार्च अथवा अप्रैल तक देश के कई भागों में चुनाई का मौसम शुरू होता है। बीच में की जाने वाली चुनाई आमतौर पर सब से भारी होती है।

कपास की किस्म और वर्षा अथवा सिंचाई से जल प्राप्त करने आदि भिन्न-भिन्न कारणों से एक भूभाग से दूसरे भूभाग की पैदावार में अन्तर हो जाता है। सिंचाई वाली फसल की औसत पैदावार पंजाब में 200-300 पौंड प्रति एकड़, राजस्थान और उत्तर प्रदेश में 160-190 पौंड और मद्रास में 300 पौंड है। वर्षा से जल प्राप्त करने वाली फसल की औसत पैदावार पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और गुजरात में 100-110 पौंड प्रति एकड़, मध्य प्रदेश और खान देश में 80 पौंड प्रति एकड़, सौराष्ट्र, कच्छ और मैसूर में 60-77 पौंड और आन्ध्र प्रदेश में 55 पौंड है। अखिल भारतीय औसत पैदावार सिंचाई के इलाकों में 190 पौंड प्रति एकड़ और बारानी इलाकों में 80 पौंड प्रति एकड़ है।

सी आईलैंड कॉटन : हाल ही की खोज से पता चला है कि एंड्रयूज किस्म केरल व मैसूर के क्रमशः मलाबार और दक्षिण कैनारा के तटवर्तीय प्रदेशों में तथा असम के कुछ भागों में वर्षा के जल पर निर्भर फसल के रूप में अच्छी तरह उगती है। जो भी हो कपास की फसल को कीड़ों कौर बीमारियों का बहुत भय रहता है। उचित ढंग की खेती से प्रति एकड़ 500 पौंड से अधिक पैदावार प्राप्त करना सम्भव हो सका है। खेत की जमीन को कई बार हल चलाकर तथा ढाई फुट की दूरी पर लगभग बारह इंच ऊँची मेढ़ बनाकर तैयार किया जाता है। बरसात शुरू होने पर मेढ़ों पर एक फुट की दूरी पर एग्रोसन जी० एन० पूर्व से उपचारित कपास के तीन बीजों को बोया जाता है। तीन सप्ताह बाद पौधों की छटाई की जाती है। हल चलाने के समय 200 पौंड सुपरफास्फेट, 100 पौंड पोटेशियम सल्फेट की छः बैलगाड़ी गोबर की खाद प्रति एकड़ के हिसाब से दी जाती है। नन्हें पौदों की छटाई के शीघ्र ही बाद ऊपर से 100 पौंड अमोनियम सल्फेट का छिड़काव किया जाता है और फिर उसी प्रकार फसल के फूलने के समय और 100 पौंड एमोनियम सल्फेट की मात्रा दी जाती है। फसल की समय-समय पर निराई की जाती है। जुलाई मास में पैरेनोक्स का छिड़काव और फिर यदि कीड़े न दिखाई देते हों तो भी हर दो सप्ताह पश्चात् एंडरिन (सवा छः गैलन जल में एक औंस) अथवा फोलीडोल (साढे बारह गैलन जल में एक औंस) का छिड़काव किया जाना चाहिए। फसल की कटाई के समय केवल अच्छी तरह प्रस्फुटित पुष्पों को ही तोड़ा जाता है। प्रति एकड़ 1,600 पौंड कपास की पैदावार प्राप्त की जा सकती है।

बिक्री : किसानों द्वारा कपास गाँव के व्यापारियों को अथवा बिनौले से रूई निकालने वाली मिलों के एजेंटों को बेची जाती है। बिनौले से रूई निकाल लेने के बाद बिनौले से निकाली गई रूई ढीली या दबी हुई गांठों में बांधी जाती है। ढीली गांठों को बोरा या डोकरा कहते हैं और उनमें प्रति गांठ 200-300 पौंड रूई होती है। स्थानीय परिवहन के लिए इस प्रकार की गाँठें उपयुक्त हैं, जब कि दबी हुई गांठें, जिनमें प्रति गाँठ 392 पौंड रूई होती है और जिसका घनत्व 40 पौंड प्रति घनफुट होता है, दूर भेजे जाने, गोदामों में स्टोर करके रखने अथवा निर्यात के काम में लाई जाती है। चूँकि किसान से वस्त्र-निर्माता के बीच कई हाथों से रूई गुज़रती है, कई तरह के गोल माल की आशंका बनी रहती है, जैसे कि पानी देना और घटिया किस्म की मिलावट। इन कठिनाइयों को दूर करने की दृष्टि से विक्रय सहकारी समितियाँ स्थापित की गई हैं और नियमित मंडियों की स्थापना के लिए तथा एक इलाके से दूसरे इलाके में कपास ले जाने के बारे में कई राज्यों ने कानून जारी कर रखे हैं। कृषि पैदावार (क्रम-स्थापन तथा विक्रय) ऐक्ट के अधीन वस्तुओं की सूची में कपास को शामिल कर लिया गया है। उन्नत किस्मों की शुद्धता बनाए रखने के लिए कपास ओटाई और प्रेसिंग फैक्टरी ऐक्ट जारी किया गया है।

उन्नत किस्में : उन्नत किस्म के बीजों के वर्धन और वितरण का कार्य भारतीय केन्द्रीय कपास समिति तथा राज्य सरकारों द्वारा किया जा रहा है।

भारत में उगाई जाने वाली कपास की वैज्ञानिक दृष्टि से चार किस्में हैं—(1) जी० आरबोरियम (2) जी० हरबेसियम, (3)

जी० हिरसुतम और (4) जी० बरबैडे्न्स। पहली दो किस्में देशी कपास की हैं जो मध्यम आकार के रेशों की होती हैं। जी० हिरसुतम एक टेट्राप्लोयड (2 एन = 52 क्रोमोसोम) है और अमेरिकन तथा कम्बोडियन कपास की किस्म है। इसके रेशे मध्यम से लेकर लम्बे आकार के होते हैं। जी० बरबैडे्न्स भी एक टेट्रा-प्लोयड है और वह मिश्री किस्म की फसल है जिसके रेशे बहुत अच्छे और बहुत लम्बे होते हैं।

आजकल देसी और अमेरिकन कपास की कई उन्नत किस्में विकसित की गई हैं। इनमें कुछ प्रमुख उन्नत किस्मों का विवरण अन्त में **सारणी** 15 में दिया गया है।

जूट (*Corchorus capsularis* and *C. olitorius*)

जूट उत्तरी पूर्वी भारत की एक अति महत्वपूर्ण फसल है। जूट का निर्यात विदेशी मुद्रा अर्जन का एक अच्छा साधन है। इसकी खेती प्रति वर्ष लगभग 16 लाख एकड़ भूमि पर की जाती है। सूखे रेशों का उत्पादन लगभग 38 लाख गाँठें प्रतिवर्ष है, जबकि प्रत्येक गांठ 400 पौंड की होती है।

कुल वार्षिक उत्पादन के लगभग 67 प्रतिशत भाग का उपयोग भारत में जूट की मिलों द्वारा किया जाता है, 7 प्रतिशत किसानों के पास रह जाता है और शेष भाग ब्रिटेन, बेल्जियम, जर्मनी, फ्राँस, इटली और संयुक्त राज्य अमेरिका को निर्यात किया जाता है।

जूट के रेशों का प्रयोग कपास, ऊन, खाद्यान्न और दालों के भंडारन आदि के परिवहन और उनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए गठरी बाँधने के टाट-कपड़े और बोरे

आदि बनाने के लिए किया जाता है । कालीन, दरियाँ, पर्दे, घरों की सजावट का सामान, अस्तर और रस्सियाँ बनाने के काम में भी इसे लाया जाता है । सी. ओलीटोरियस की हरी पत्तियाँ खाने के योग्य होती हैं । रेशा रहित डण्ठल ईंधन और गनपाउडर का चारकोल बनाने के काम में लाया जाता है ।

जलवायु और मिट्टी : जूट की खेती के लिए गरम और नम जलवायु की आवश्यकता है । इसके लिए तापमान 75° से 95° फारनहाइट के बीच हो और आपेक्षिक आर्द्रता 90 प्रतिशत होनी चाहिए । निरन्तर अथवा असामयिक वर्षा इसके लिए हानिकारक होती है । परन्तु फसल अपने विकास के उत्तर कालीन क्रम में एक सीमा तक बाढ़ भी बर्दाश्त कर सकती है ।

आमतौर पर हल्की, बलुई डेल्टाई दुमट मिट्टी में जो समयपर बाढ़ के जल से सिल्ट प्राप्त करती हो, जूट की खेती की जाती है । बहुत हल्की, पथरीली अथवा लैटराइट भूमि पर जूट की खेती संतोषजनक नहीं होती ।

फसल आवर्तन : निचली भूमियों पर जूट, परती, अमन धान का साधारण क्रम रक्खा जाता है, जबकि ऊंचे क्षेत्रों में चना, मटर, अन्य दालें, गेहूं, जौ, राई और औस धान के साथ जूट की फसल का क्रम रखा जाता है । कभी कभी सन या ढ़ेंचा की खेती जूट की बुआई से पहले की जाती है ।

कृषि क्रियायें : जूट के लिए साफ सुथरी, ढेलों रहित मिट्टी की आवश्यकता होती है, इसलिए खेत पर कई बार सीधा और आड़ा हल और पाटा चलाया जाता है । इसके लिए सर्दियों की जुताई बहुत लाभदायक होती है ।

प्रतिवर्ष ताजा सिल्ट प्राप्त करने वाली भूमियों में खाद देने की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु अन्य भूमियोंपर बुआई से एक सप्ताह पूर्व 50 से 100 मन गोबर की खाद या कम्पोस्ट और 400 पौंड लकड़ी या घास पात की राख प्रति एकड़ की दर से देनी चाहिए। पुरानी जलोढ़ भूमियों में 30--60 पौंड नाइट्रोजन की मात्रा दो बार में देनी चाहिए। आधी मात्रा बुवाई से पहले और शेष आधी अंकुरण के एक सप्ताह बाद देनी चाहिए। कहा जाता है कि पोटाश और चूना प्रयोग करने से भी अच्छी फसल प्राप्त होती है।

नीची भूमि पर जहाँ बाढ़ों की संभावना रहती है, फरवरी में बुवाई की जाती है। मध्य तथा ऊंची भूमियों पर बुवाई क्रमशः मार्च--अप्रैल और मई--जून में की जाती है। बिहार और उत्तरप्रदेश में बुवाई मध्य जुलाई तक चलती रहती है। आमतौर पर जुट की छिटकवां बुवाई होती है अथवा कम गहरी नालियों (डेढ़ इंच से दो इंच गहरी) में हल के पीछे बीज डाला जाता है। हाल के कुछ वर्षों में सीड ड्रिल की मदद से लाइनों में बुवाई करने का ढंग अधिकाधिक अपनाया जा रहा है, जिससे बीज कम खर्च हो और बैलों की मदद से गुड़ाई करने में सुविधा रहे। इस प्रकार जुताई पर कम खर्च आता है। छिटकवाँ विधि से बुवाई करने पर 10--15 पौंड और ओलीटोरियस की बुआई के लिए 6--10 पौंड प्रति एकड़ बीज की आवश्यकता होती है। कतारों में बुआई करने के लिए बीज की कम आवश्यकता होती है।

फसल की पहली गुड़ाई बीड़ा या अचरा से की जाती है जब कि पौधे 3 से 9 इंच के होते हैं। बाद में दो या तीन निराई हाथ

से की जाती हैं और पौधों की परस्पर दूरी छिदरा कर अंततः 4″ × 4″ अथवा 6″ × 4″ कर दी जाती है।

फसल कटाई : बुआई के समय और फसल की किस्म के अनुसार जून से अक्तूबर तक फसल काट ली जाती है। फली निकल आते ही फसल काटने का समय हो जाता है। पिछेती कटाई करने से पैदावार तो बढ़ जाती है लेकिन रेशा मोटा और भद्दा पैदा होता है, जबकि बहुत अगेती कटाई से पैदावार कम और रेशा कमजोर होता है। बाढ़ के भय से अथवा इसके बाद बोई जाने वाली धान की फसल की समय पर बुआई करने के लिए कभी कभी जूट के पौधों को जल्दी काट लेना जरूरी हो जाता है।

फसल की कटाई भूमि की सतह अथवा उसके समीप से पौधों को काट कर की जाती है। जलमग्न भूमि में पौधों को जड़ सहित उखाड़ लिया जाता है। आमतौर पर काटे गए पौधों को सुखाने के लिए दो या तीन दिन तक सूखी जमीन पर रखा जाता है और जब पत्तियाँ सूख कर सड़ जाती हैं तो पौधों को गट्ठरों में बाँध कर अन्य तीन या चार दिन के लिए पत्तियों, घासपात और मिट्टी से ढक कर रख दिया जाता है। तदुपराँत गट्ठरों को हिला कर उनके ऊपर का कचरा हटा दिया जाता है और पौदों को गहाने से पूर्व उसकी शाखादार चोटियों को काट लिया जाता है।

गलाई और छिलाई : हल्की गति से बहने वाला, काफी गहरा, साफ हल्का और नम गरम पानी पौधों को गलाने के लिए सर्वोत्तम होता है। कीचड़ युक्त या बन्द पानी में और छिछले तालाबों में पौदों को गलाने से और उनके तनों में कीचड़ लग जाने से रेशों का रंग खराब और उनकी कीमत कम हो जाती है। पौदों

के धड़ को पूरी तरह पानी में डुबो देना बहुत जरूरी है किन्तु बहुत गहरे पानी में डुबोने से गलाई की प्रक्रिया में विलम्ब होता है। जिस पानी में जूट के पौदों की गलाई एक बार हो चुकी हो उसमें दूसरी बार गलाई जल्द होती है। जड़ों को पूरी तरह गलाने के लिए, समूचे पौदों को गलाने से पूर्व, गट्ठरों को जल में दो या तीन दिन के लिए इस प्रकार रखा जाना चाहिए ताकि जड़ें पानी में डूबी रहें। गलाई की प्रक्रिया जुलाई से सितम्बर तक 10 से 15 दिन में पूरी हो जाती है। इसके बाद जब पानी का तापक्रम कम हो जाता है तो 25 या अधिक दिनों में यह क्रिया पूरी होती है, जलमग्न सामग्री की एक सप्ताह बाद से समय समय पर जांचकी जाती है ताकि उनके पूरी तरह गल जाने का विश्वास हो जाए। पूरी तरह गलाई हो जाने के बाद एक बार में आठ या दस डण्ठल निकाले जाते हैं और उनकी जड़ों के छोरों को मूंगरियों से पीट कर निकाले गए रेशों को उंगलियों में लपेट लिया जाता है और तनों को जल में रख दिया जाता है, जब तक कि रेशा पूरी तरह से अलग होता है। इस प्रकार निकाले गए रेशों को पानी में धोकर, साफ करके और निचोड़ कर साफ सुथरी जमीन पर उनका ढेर लगा दिया जाता है। अन्त में ऐंठन निकाल कर सूखने के लिए धूप में लटका दी जाती है। पौधों के तने से 4.5 से 7.5 प्रतिशत तक रेशे मिलते हैं।

उपज : सूखे रेशे की पैदावार फसल की किस्म, भूमि की उर्वरा शक्ति, पौधों का फासला और फसलकी कटाई के समय आदि पर निर्भर करती हैं। कैप्सुलरिस के रेशे की औसत पैदावार 10-15 मनप्रति एकड़ और ओलीटोरियस की 15--20 मन प्रति एकड़ है।

उत्तम कृषि-क्रियाओं के अन्तर्गत रेशे की पैदावार 30 मन प्रति एकड़ तक हो सकती है ।

किस्में : सी. केप्सुलरिस और सी. ओलीटोरियस दोनों किस्में व्यापारिक रूप से उगाई जाती हैं । इनमें से पहली किस्म जूट के कुल वार्षिक क्षेत्रफल के 3/4 भाग पर उगाई जाती है । सी. कैप्सुलरिस एक कठोर और परिस्थितियों के अनुसार स्वयं को ढालने वाली किस्म हैं, जो निचली और ऊंची दोनों प्रकार की भूमियों पर समान रूप से अच्छी तरह उगती है जबकि ओलीटोरियस बाढ़ की हालत को सहन नहीं कर सकती और केवल ऊंची भूमियों पर ही उगाई जाती है । इसके अलावा सी. कैप्सुलरिस की पत्तियां कड़वी, फलियाँ गोल, अण्डाकार गहरे भूरे रंग के बीज, और सफेद किन्तु रेशा कमजोर होता है, जबकि दूसरी किस्म की पत्तियां खाने योग्य, वर्तुलाकार फलियाँ नीले या काले बीज, सुंदर और मजबूत परन्तु कुछ फीके रंग का रेशा होता है । सी. केप्सुलरिस की आमतौर पर उगाई जाने वाली किस्में, फंदुक धालेश्वरी, फुलेश्वरी, देसी हाट, काक्या, बम्बई, डी 154 और आर० 85 हैं । ओलीटोरियस की प्रधान किस्में देसी, तोसाह, आर० 26 और चिनसुरा ग्रीन हैं । यह आखिरी किस्म चिनसुरा ग्रीन, ओलीटोरियस की फसल के अंतर्गत कुल भूमि के 75 प्रतिशत भाग पर उगाई जाती है अभी हाल में केन्द्रीय जूट अनुसन्धान शाला, कलकत्ता ने जूट की कुछ उन्नत किस्में विकसित की हैं उनका विवरण आगे **सारणी** (पृष्ठ 300) में दिया गया हैं ।

बीज-उत्पादन : अच्छी किस्म के रेशे प्राप्त करने के लिए बीजों के पकने से पहले ही आमतौर पर फसल काट ली जाती है ।

अतः बीजोत्पादन के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ता है । ऊंची भूमि पर की जाने वाली खेती का लगभग 4 प्रतिशत भाग बीजों के लिए छोड़ दिया जाता है । बीज वाली फसल अक्तूबर-नवम्बर में पक कर तैयार होती है । कैप्सुलरिस की औसत पैदावार 4 से 5 मन प्रति एकड़ और औलीटोरियस की 2 से 3 मन बीज प्रति एकड़ होती है । बीजों को चारसे पाँच दिन तक धूप में सुखाना चाहिए और भंडारण से पूर्व 3 पौंड प्रति मन बीज के हिसाब से उन्हें एग्रोसन जी० एन० से उपचारित कर लेना चाहिए ।

जूट की कुछ उन्नत किस्में

किस्म	जाति	विशेष गुण
सी० कैप्सुलरिस	सी० 321	अधिक उपज वाली, उम्दा किस्म का रेशा
	सी० 212	अधिक उपज वाली, उम्दा किस्म का रेशा, शीघ्र पकने वाली
	सी० 42-13	अधिक उपज, देर से पकने वाली
सी० ओलीटोरियस	0.620	अधिक उपज, उम्दा किस्म का रेशा
	0.632	अधिक उपज, पौधों पर अधिक शाखाएं निकलती हैं, उम्दा रेशे वाली

मेस्टा (*Hibiscus cannabinus* Linn.)

मेस्टा, सन कोकड़ा, पटसन अथवा बिमलीपाटम जूट की खेती देश के बहुत से भागों में होती है । इसकी फसल के अन्तर्गत

वार्षिक क्षेत्रफल और रेशों का उत्पादन क्रमशः लगभग 582 हजार एकड़ और 1,176 हजार गांठें हैं जबकि प्रत्येक गांठ में 392 पौंड रेशा होता है।

मोटे रस्से, मछली पकड़ने के लिए जाल और कुछ मात्रा में बोरे तथा कैनवास बनाने के लिए पटसन उगाया जाता है।

चीनी के लिए बोरे बनाने के लिए इसे जूट के साथ भी मिलाया जाता है। इसकी पत्तियाँ, कोपलें और फल बहुत कड़ुवे होते हैं और गमले की बूंटी के रूप में उनका प्रयोग किया जाता है। पौधों की चोटी और शाखाएँ पशुओं को खिलाई जाती हैं। पटसन का बीज दुधारू पशुओं का आहार है। इसके बीजों को दूध देने वाले पशुओं को खिलाया जाता है और सूखे डण्ठल ईंधन के काम में लाए जाते हैं तथा सूखे तराशे गए डन्ठल दियासलाई की सींकें बनाने के काम में आते हैं।

जलवायु और मिट्टी : 20-30 इंच वर्षा वाले इलाकों में, जहाँ 5 से 6 महीनों के बीच में इतनी वर्षा होती है, पटसन की खेती खरीफ की फसल के रूप में अच्छी होती है। अधिक तेज हवा, भारी वर्षा और पाले का फसल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। बहुत से इलाकों में इसे आंशिक रूप से सिंचित फसल के रूप में उगाया जाता है।

हल्की काली भूमि, बलुई कछारी दुमट और यहाँ तक कि लैटराइट व पथरीली भूमियों पर भी आमतौर पर मेस्टा की खेती की जाती है। जलमग्न अथवा निचली भूमियाँ इसकी खेती के लिए उपयुक्त नहीं हैं।

फसल आवर्तन : पटसन की फसल अधिकांशतः बाजरा, ज्वार, रागी, दालें और खरीफ की कपास के साथ तथा कभी-कभी गन्ने की सिंचित फसल आदि के साथ मिलाकर किनारों पर उगाई जाती है। बहुत से क्षेत्रों में इसे खाद्यान्न, दालों और अन्य फसलों के बाद अकेला उगाया जाता है। मिश्रित फसल के रूप में इसे मुख्य फसल के बीच में छिटक दिया जाता है अथवा मुख्य फसल की प्रत्येक 5 या 6 कतारों बाद अकेली कतारों में इसे उगाया जा सकता है।

कृषि क्रियायें : मेस्टा की अकेली फसल के लिए दो या तीन बार जुताई व आड़ी जुताई की जाती है और हैरो चलाकर बुआई के लिए खेत को अच्छी तरह भुरभुरा बना लिया जाता है। खाद शायद ही कभी दी जाती है, यद्यपि अजैविक अथवा जीवांश खाद के रूप में 20 से 30 पौंड नाइट्रोजन देने से अच्छी प्रतिक्रिया होती है। प्रधान फसल के लिए आरम्भिक जुताई, खाद-देने, अंतः कृषि और सिंचाई की जो व्यवस्था की जाती है, इससे मेस्टा को मिश्रित फसल के रूप में लाभ प्राप्त होता है।

मेस्टा की फसल मानसून के आरम्भ और साथ में मिश्रित रूप से उगाई जाने वाली फसल का ध्यान रखते हुए मई से जुलाई के बीच बोई जाती है। विशुद्ध फसल की बुआई छिटक कर अथवा कतारों में 8 से 12 इंच की दूरी पर बीजण यंत्र से की जाती है। एक या दो बार गुड़ाई की जाती है और आवश्यकता होने पर फसल को छिदराया जाता है। पौधों को शाखा रहित रखने के लिए पौधों की परस्पर दूरी 4 से 6 इंच रक्खी जाती है।

रेशे वाली फसल को फूल खिलने पर काटा जाता है। पौधों को उखाड़ कर धूप में सुखाया जाता है और फिर 30-40 पौधों को एक साथ गट्ठरों में बांध कर उनकी चोटी को काट दिया जाता है ताकि जो कुछ फल पैदा हो गए हों उन्हें हटाया जा सके। इसके बाद जड़ों वाले छोर को दो या तीन दिन तक पानी में रखा जाता है ताकि पौधे के कठोर भाग मुलायम पड़ जायें। अन्त में पौधों को गलाई के लिए पानी में लिटा कर डुबो दिया जाता है और जरूरत होने पर उन पर वजन भी रखा जाता है। जल के तापमान, कटाई के समय और पौधों की अवस्था के अनुसार गलाई में 10 से 20 दिन लगते हैं। गलाने की प्रक्रिया पूरी होने के बाद रेशा उसी तरह निकाला जाता है जिस प्रकार जूट का रेशा निकाला जाता है। विशुद्ध फसल की पैदावार मिश्रण में पटसन के अनुपात पर निर्भर करती है। सूखे डंठलों के वजन का लगभग 16 प्रतिशत रेशा होता है।

बीज उत्पादन : बीज की उपलब्धि के लिए आमतौर पर फसल का थोड़ा सा हिस्सा दिसम्बर-जनवरी तक खड़ा रहने दिया जाता है। यदि फूल खिलने के बाद फसल काटी जाती है तो डंठलों को पानी में गलने से पूर्व उन्हें डंडों से पीट कर उनके बीजों को बाहर निकाल दिया जाता है। इस से निकाला गया रेशा मोटा, चमक रहित और कमजोर होता है। पौधों के सूख चलने की अवस्था में बीज की फसल काट ली जाती है। पौधों को जमीन की सतह से काट कर सुखाया और डण्डों से पीटा जाता है। अधिक अन्तराल तथा अपेक्षाकृत पिछेती बुआई की बीज फसल की पैदावार 500 से 800 पौंड प्रति एकड़ होती है।

किस्में : पौधों की ऊँचाई और तनों, पत्तियों व फूलों के रंग के अनुसार पटसन की विभिन्न किस्में हैं। उत्तर भारत में खेती के लिए एन० पी० 3 और एन० पी० 6 नामक दो किस्में उपयोगी है। इनमें से पहली किस्म के सुदृढ़ लम्बे, शाखा रहित और मजबूत तनों वाले पौधे होते हैं। दूसरी किस्म की फसल जल्दी पकती है और उसकी पैदावार अधिक तथा रेशा बढ़िया होता है। हाल में कई राज्यों में फसल सुधार सम्बन्धी कार्य आरम्भ किया गया है। खेती के लिए किन किस्मों की सिफारिश की जाती है, यह सूचना राज्यों के कृषि विभागों अथवा केन्द्रीय जूट अनुसन्धानशाला, कलकत्ता से प्राप्त की जा सकती है।

बिक्री : आमतौर पर किसान अपनी पैदावार स्थानीय व्यापारियों को बेच देते हैं और ये व्यापारी इस पैदावार को बिक्री के मुख्य केन्द्रों तक पहुँचाते हैं। सफेद, मुलायम, चमकदार, नमीरहित अशुद्धताओं और काले धब्बों से मुक्त रेशा सबसे अधिक कीमती समझा जाता है। निर्यात-व्यापारी रेशों की दर्जाबंदी करते हैं और निर्यात से पूर्व 300 से 400 पौंड की गांठों में उन्हें दबाकर भरते हैं। मेस्टा का निर्यात बहुत कम होता है और इसकी कोई अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त दर्जाबन्दी नहीं होती।

मेस्टा को अक्सर रोजेल के रेशों के साथ मिला कर बेचा जाता है। क्योंकि रोजेल के रेशे पटसन के जैसे ही होते हैं और हिविसकस सेबडेरीफा नामक सजातीय पौधों से प्राप्त होते हैं। कई इलाकों में यह किस्म बिमली जूट का स्थान ले रही है। रोजेल बिमली जूट की तुलना में कहीं अधिक गरम, अधिक नम और गीला मौसम बदर्शत कर सकता है किन्तु पाले और कुहरे से नुकसान

पहुँचने की सम्भावना भी अधिक रहती है। इसकी जुताई और गलाई का तरीका प्रायः वही है जो कि जूट के लिए काम में लाया जाता है। औसत पैदावार भी प्रायः जूट के बराबर ही होती है। बंगाल, बिहार, मद्रास और असम में एन० पी० सेब्रडरीफा-5 की उन्नत किस्म लाभकर सिद्ध हुई हैं।

सन (*Crotalaria juncea* Linn.)

यह एक महत्वपूर्ण फसल है जो कि रेशे के लिए या हरी खाद बनाने के लिए उगाई जाती है। सन का रेशा हल्के रंग का, कुछ मोटा, मजबूत और टिकाऊ होता है। रस्से व जाल और अनाज की बोरियों के लिए, मोटा कपड़ा बनाने में इसका उपयोग किया जाता है और पौधों के डण्ठल व पत्तियाँ सूखे चारे के रूप में पशुओं को खिलाई जाती है।

सन की वार्षिक फसल के अन्तर्गत 600 हजार एकड़ से अधिक भूमि है। यद्यपि सन भारत के सभी भागों में उगाया जाता है, पर उत्तर प्रदेश, बिहार, आंध्र प्रदेश. मद्रास और मध्य प्रदेश इसकी खेती में प्रमुख हैं।

जलवायु और मिट्टी : सन की सबसे अच्छी फसल उष्ण और अर्ध-उष्ण जलवायु में होती है, जहां फसल पकने के क्रम में सुवितरित वर्षा होती हो, कम से कम 20 से 30 इंच प्रति वर्ष। कई भू-भागों में फसल की सिंचाई हर पन्द्रह दिन के नियमित अन्तराल से की जाती है।

रेशे की पैदावार के लिए हल्की, अर्ध सिंची हुई कछारी दुमट, लाल दुमुट और हल्की से बिचली काली भूमियों पर खेती की

जा सकती है। हरी खाद की पैदावार के लिए निश्चित वर्षा या सिंचाई की व्यवस्था होने पर सब प्रकार की भूमियों पर खेती की जा सकती है।

फसल आवर्तन : रेशे की पैदावार के लिए सन की फसल का आर्वतन सदा ही अनाज, कपास और तिलहन की फसलों के साथ किया जाता है। हरी खाद की पैदावार के लिए आमतौर पर इसे अकेला उगाया जाता है लेकिन कई बार गन्ना व अन्य बागों की फसलों के बीच क्यारियों में या नारियल और कभी-कभी आलू तथा फलों के पेड़ों के बीच सन की हरी खाद दी जाती है। बीजोत्पादन के लिए कई बार रागी या ज्वार की फसलों में कुछ कतारें सन की बोई जाती हैं।

कृषि क्रियायें : सन की फसल अधिकांशत: खरीफ फसल के रूप में मानसून की वर्षा पर निर्भर करती है, लेकिन मद्रास, मैसूर, बम्बई और तटवर्ती आंध्र प्रदेश में इसे खाद या चारा प्राप्त करने के लिए अनाज की फसल से ठीक पहले या बाद में रबी की फसल के रूप में धान के खेतों में उगाया जाता है। रबी की फसल की एक या अधिक बार सिंचाई की जाती है।

अच्छी बुआई के लिए मानसून की प्रथम फुहार (अथवा सिंचाई) के बाद दो या तीन बार हल और फिर हैरो चलाया जाना आवश्यक है। आमतौर पर सन की फसल को खाद नहीं दी जाती लेकिन हरी खाद के रूप में 160 पौंड सुपरफास्फेट प्रति एकड़ देने से पौधे के विकास को प्रोत्साहन प्राप्त होता है और परिणामस्वरूप उसके हरित तत्व में वृद्धि होती है।

खरीफ में रेशों और हरी खाद की फसल जून जुलाई और रबी में सितम्बर या अक्तूबर में (सन की) बुआई की जाती है। बीज-दर 25 से 120 पौंड प्रति एकड़ है। आमतौर पर 60 से 80 पौंड प्रति एकड़ बीजों की बुआई की जाती है। बहुधा जल्द उगने वाले पौधे धरती पर छा कर घासपात को दबा देते हैं। अतः बुआई के बाद अन्तः कृषि बहुत कम की जाती है। शाखारहित किस्म की हरी खाद की फसल के पौधों के ऊपरी सिरों को हंसिये से काट लिया जाता है या मवेशियों को खिला दिया जाता है ताकि पौधे सीधे न बढ़ें और उनके किनारों से पत्तियां निकल सकें।

हरी खाद की फसल बुआई के दो-ढाई महीने बाद यानी जब कि समूची फसल में फूल निकल आयें हों, भूमि में देने के लिए तैयार हो जाती है। इस अवस्था में हरित तत्व नवजात होने के कारण वजन में अधिकतम होता है। साधारणतः 3-4 टन वजन हरित पदार्थ प्रति एकड़ पैदावार होती है किन्तु यदि फास्फोरस और पोटाश के अतिरिक्त 60 से 100 पौंड प्रति एकड़ नाइट्रोजन का प्रयोग किया जाए तो पैदावार 8-12 टन प्रति एकड़ तक होती है। खड़ी फसल पर हल चला कर अथका जमीन की सतह से पौद तनों को काट कर अथवा उन पर एक बड़ा पटरा फेर कर फिर उन्हें मिट्टीपलट अथवा लकड़ी के भारी हलों की सहायता से नालियों में पूर्ववत् गाड़ा जाना चाहिए। भूमि में हरी खाद देने के बाद यदि मौसम सूखा रहता है तो खाद को समय पर गलाने के लिए एक बार हल्की सिंचाई की जा सकती है। धान की दोहरी फसल के लिए हरी खाद कहीं दूसरी जगह से उगा कर, काट कर और गाड़ी पर लाद कर लाई जाती है। फिर धान की दूसरी बुआई

से कुछ दिन पहले उस हरी खाद के छोटे-छोटे टुकड़े गंदले खेत में डाले जाते हैं ।

सन की फसल चार-साढ़े चार महीने में पक कर तैयार हो जाती है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में पौधों पर फली निकलने की अवस्था फसल कटाई के लिए उपयुक्त समझी जाती है जब कि दक्षिण में पूरी तरह फूलने पर ही फसल कटाई की जाती है । कई जगह पौधों के बिलकुल पक जाने पर ही फसल काटी जाती है । पौधों को उखाड़ा या जमीन की सतह से काटा जाता है ।

गलाई और छिलाई : काटी गई फसल को कुछ दिनों तक जमीन पर पड़ा रहने दिया जाता है । इस दौरान पत्तियाँ सूख कर गिर जाती हैं और तने आंशिक रूप से सूख जाते हैं । फिर डण्ठलों को सुविधाजनक आकार के गठरों में बांध लिया जाता है और यदि कुछ पकी फलियाँ उसमें लगी रह जाती हैं तो डण्डों से पीटकर उन्हें अलग कर लिया जाता है । फिर गठरों को स्वच्छ, मंद गति से बहने वाले अथवा प्रवाहहीन जल में लगभग एक सप्ताह डुबो कर गलाया जाता है । कई बार पौधों की कटाई के तुरन्त बाद ही गलाई की जाती है । डण्ठलों के मुलायम हो जाने के बाद उनके निचले छोर को तोड़कर ऊपर की ओर छीलते हुए रेशा निकाला जाता है । छिले हुए रेशों को पानी में पीट कर खूब अच्छी तरह साफ कर लिया जाता है । तत्पश्चात् दो या तीन दिन तक धूप में उन्हें सुखा कर लच्छों में लपेट लिया जाता है और फिर स्टोर करके रखा जाता है अथवा गांठों की शक्ल में उनका निर्यात किया जाता है । हर गाँठ 400 पौंड वजन की होती है ।

उपज : सूखे डंठलों में केवल 8 प्रतिशत रेशा होता है। रेशे की पैदावार 450 से 800 पौंड प्रति एकड़ के बीच है और कभी-कभी 1,200 पौड प्रति एकड़ तक पहुँच जाती है। अच्छे रंग का मजबूत रेशा प्राप्त करने के लिए फसल की गहरी बुआई की जानी चाहिए ताकि पौधे पूरी तरह पनप सकें और शाखा न फूटें फली निकल आने पर फसल की कटाई का समय हो जाता है। इसकी गलाई पौधों को सुखाए बिना ही की जानी चाहिए। गलाने के लिए साफ पानी काम में लाया जाना चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि गलाई जरूरत से ज्यादा न हो।

सन की राज्यवार कुछ उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेष गुण
उत्तर प्रदेश	कानपुर 12	अधिक उपज, उम्दा किस्म का रेशा, सूखा रोधी
मध्य प्रदेश	एम० 18	शीघ्र पकने वाली, अधिक उपज, सूखा रोधी
	एम० 35	शीघ्र पकने वाली, अधिक उपज, तना छेदक रोधी
	एम० 19	तना छेदक रोधी
बिहार	बी० ई० 1	अधिक उपज, उम्दा किस्म का रेशा
बम्बई	डी 9	मुर्झान रोग-रोधी
मद्रास	कानपुर 12	

किस्में : पौधों पर शाखाओं के निकलने के ढंग, फसल पकने के समय (80 से 120 दिन) और पैदावार तथा रेशे के दर्जे की

भिन्नता के अनुसार विभिन्न किस्में प्रचलित हैं । देश के विभिन्न राज्यों में सन की जो उन्नत किस्में उगाने की सिफारिश की गयी हैं उनका विवरण ऊपर **सारणी** में दिया गया है ।

मसालों की खेती

मसालों की खेती भारत में पिछले लगभग तीन हजार वर्षों से होती आई है । यहाँ पर आज से दो हजार वर्ष पहले भी मसालों का व्यापार होता था । उस जमाने में मिर्च और मसाले हिन्दुस्तान से या हिन्दुस्तान से होकर पश्चिमी देशों को जाते थे । मसालों के व्यापार से हिन्दुस्तान को इतनी अधिक आय होती थी कि पश्चिमी देश वाले हिन्दुस्तान को सोने की चिड़िया कहते थे । हमारे देश में मसालों में काली मिर्च, इलायची, हल्दी, लाल मिर्च, अदरक आदि मुख्य रूप से उगाये जाते हैं । इनका विवरण आगे दिया जा रहा हैं ।

इलायची (*Elettaria Cardamomum* Matton.)

भारतीय मसालों में इलायची का मुख्य स्थान है । यह साग-सब्जियों को स्वादिष्ट और रुचिकर बनाने और चबाने के लिए इस्तेमाल की जाती है । इसके बीजों से 3-4 प्रतिशत एक औषधि-वान उड़नशील तैल प्राप्त होता है जो स्वाद में अच्छा और जिसकी तासीर ठण्डी होती है । यही कारण है कि इलायची औषधि रूप में भी इस्तेमाल की जाती है ।

दक्षिणी भारत के सदाबहार जंगलों में विशेष रूप से नमी वाले क्षेत्रों में यह पैदा होती है । इसकी फसल केरल और मैसूर के पश्चिमी घाटों में और मदुरई के कुछ भागों में, नीलगिरी और

मद्रास के तिरुनेलवैली जिले में होती है। कहीं-कहीं पर यह फसल अकेले उगाई जाती है और कुछ इलाकों में सुपारी के बगीचों में सहायक फसल के रूप में पैदा की जाती है। जंगलों में यह अपने आप उग आती है बाद में यहाँ पर इसकी खेती की जाती है। पर कुछ साल बाद खेती करके यह जगह छोड़ दी जाती है और फिर ऐसे ही दूसरे इलाकों में इसकी खेती शुरू कर दी जाती है।

जलवायु और मिट्टी : इलायची उष्ण कटिबन्ध के सदाबहार जंगलों में ढाई हजार से पांच हजार फुट की ऊँचाई पर खूब होती है। इसकी खेती के लिए प्रति वर्ष 60 से 250 इंच वर्षा वाले क्षेत्र उपयुक्त रहते हैं। इसकी खेती के लिए 50-90° फै० तापक्रम की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु खेतों में पानी भरा नहीं रहना चाहिए। इसके पौधे तेज हवा सहन नहीं कर सकते। इसकी फसल मुख्यत: जंगल की उपजाऊ दुमट भूमि में की जाती है। लैटराइट मिट्टी से भी इसके लिए भूमि में जल निकास का भी प्रबन्ध होना चाहिए। जमीन में अगलित जीवांश (ह्यूम्स) और काफी पत्तियाँ पड़ी रहनी चाहिएं।

जमीन की तैयारी : इलायची की पौध लगाने के लिए जो जंगल चुना जाय उसकी पूरी तरह सफाई की जानी चाहिए। सफाई करते समय उन पेड़ों को रहने देना चाहिए, जो इलायची के पौधों के लिए आवश्यक घनी छांह पहुँचाते हैं। अगर छाया छितरी और काफी नहीं है तो एरिथ्रिनास के शीघ्र बढ़ने वाले पौधे लगाने चाहिएँ या ऐसे पेड़ लगाये जायं जो लम्बे-चौड़े हों और जल्दी ही बढ़कर छांह देने लगें। इस प्रकार जमीन में 18 इंच चौकोर या 24 इंच चौकोर गढ़े खोदे जाते हैं। गढ़ों और उनकी

कतारों में पांच से दस फुट तक का फासला होता है। इन गढ़ों में कुछ उपजाऊ मिट्टी, पत्तियाँ और गोबर की खाद डाल दी जाती हैं।

कृषि क्रियायें : इलायची लगाने के लिए अच्छी तरह जमे पौधे की कन्द (बल्ब) लगायी जाती है या पौदशाला में बीज उगाकर पौद तैयारी की जाती है।

कन्द लगाने के लिए प्रत्येक गढ़े में बढ़िया और ऊँची उपज देने वाली किस्म की डेढ़ या दो साल की कन्द लगायी जाती है। यद्यपि यह विधि लाभदायक है फिर भी यह कम अपनायी जा रही है क्योंकि पर्याप्त मात्रा में स्वस्थ जड़ें नहीं मिलतीं।

अधिकांश क्षेत्रों में इलायची की खेती पौधों को रोपकर की जाती है। पौद लगाने के लिए बढ़िया किस्म की पकी हुई मोटी इलायची के गुच्छों से नीरोग बीज लेकर रात भर पानी में भिगोये जाते हैं फिर ये दो फुट चौड़ी, 9 से 12 इंच ऊँची और 12 से 15 फुट लम्बी क्यारियों में बिखेर दिए जाते हैं। बोये हुए बीच पत्ती और अच्छी मिट्टी से ढक दिये जाते हैं। बोआई मैसूर और कुर्ग में सितम्बर या अक्तूबर में और केरल, तिरूनेलवैली और कोयम्बटूर में फरवरी-मार्च में की जाती है। पौदशालाओं में पानी देने और पौद को धूप से बचाने के लिए छाया का प्रबन्ध किया जाता है। 30-40 दिन में अंकुर फूटने लगते हैं। जब पौद तीन महीने की हो जाती है उन्हें दूसरी पौदशाला में रोपा जाता है जहाँ कम से कम साल भर तक रखी जाती है। कीटों से पौद को बचाने के लिए हर पखवाड़े 1 प्रतिशत बोर्डो मिश्रण का छिड़काव किया

जाना चाहिए। एक एकड़ की रोपाई के लिए एक पौंड बीजों की पौद काफी होती है।

लगभग दो साल की जड़ या पौद हर गढ़े में जून-जुलाई या सितम्बर-अक्तूबर में लगायी जाती है। जड़ वाली गाँठ को 3 इंच गहरी गाड़ कर मिट्टी से अच्छी तरह दबा देते हैं। पौद को मजबूत डंडे का सहारा दिया जाता है ताकि वह मानसून में वर्षा के पानी या हवा से नीचे न गिर पड़े।

रोपाई के बाद पहले साल में कम से कम निराई चार बार, दूसरे वर्ष तीन बार और इसके बाद हर वर्ष दो बार होनी चाहिए। पौधों में गोबर और कम्पोस्ट की खूब खाद दी जाती है। बड़े पैमाने की खेती में अण्डी की खली, हड्डी का चूरा, मछली की खाद, अमोनियम सल्फेट और म्यूरेट आफ पोटाश देना लाभकारी पाया जाता है। इससे पौधों को प्रति एकड़ 30-40 पौंड नाइट्रोजन, 30 पौंड फास्फोरस और 50-60 पौंड पोटाश मिल जाता है।

उपज : स्थायी रूप से पौद लग जाने के तीन साल बाद इलायची के पेड़ पर फल आने शुरू होते हैं और सात आठ वर्ष में पूरी फसल मिलने लगती है। अप्रैल-मई में फूल खिलते हैं जो जुलाई-अगस्त तक आते रहते हैं। सब फल एक साथ नहीं पकते। इसलिए अगस्त से जनवरी तक हर 15-20 दिन के बाद फल चुनने पड़ते हैं। पूरी तरह पकने से पहले ही इलायची के फल डंठल सहित तोड़ लिए जाते हैं। पूरी तरह पके फल सूखकर फट जाते हैं और बहुत कच्चे फल सूख कर सिकुड़ जाते हैं। तोड़े हुए फल तीन चार दिन तक धूप में अथवा कृत्रिम गर्मी में सुखाए जाते हैं। अच्छी फसल से 100 -- 150 पौंड प्रति एकड़ सूखी इलायची प्राप्त होती है।

छोटे बागों में जहां अच्छी देखभाल नहीं हो पाती, इसकी पैदावार 50 पौंड प्रति एकड़ या उससे भी कम होती है।

किस्में : इलायची की आमतौर पर 'मालाबार' और 'मैसूर' नामक दो किस्में उगाई जाती हैं। मालाबार किस्म के पौधे मध्यम आकार के होते हैं। इसमें अधिकांश गोल और छोटे फल लगते हैं। यह किस्म अधिकांशतः मैसूर और कुर्ग में कुछ सीमा तक केरल में उगाई जाती है।

इलायची की मैसूर नाम की किस्म के पेड़ बड़े आकार के होते हैं। उनकी पत्तियां खुरदरी होती है। इस किस्म से बड़े आकार की तिकोनी नसदार इलायचियाँ मिलती हैं। यह किस्म ऊंचे क्षेत्रों में उगाने के लिए उपयुक्त है। यह अधिकाँशतः केरल और तिरुनेलवैली में उगाई जाती है। इलायची की एक बड़ी किस्म "सिलौना" नाम से मशहूर है। अभी कुछ समय से केरल में इसका प्रचार बढ़ रहा है। यह चित्ती रोग को सहन कर सकती है। मद्रास के कृषि विभाग ने इलायची की दो नई किस्में—नं० 71 और नं० 81 विकसित की है। कहा जाता है कि इनसे अधिक उपज मिलती है।

लाल मिर्च (*Capsicum annuum ; Capsicum frutescens*)

लाल मिर्च भी मसालों में एक खास फसल है। यह हरी और सूखी दोनों तरह से खाने और साग-भाजी को चटपटा बनाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। यह चटनी और अचारों में भी काम आती है तथा इसका उपयोग औषधि के लिए भी होता है।

दक्षिणी अमरीका से 17 वीं शताब्दी में लाल मिर्च लाकर इसकी खेती भारत में शुरू की गई थी। आजकल यह भारत के

लगभग सब भागों में पैदा होती है। इसकी खेती हर वर्ष 15 लाख एकड़ भूमि में की जाती है जिससे लगभग 3.65 लाख टन सूखी मिर्च प्राप्त होती है। देश की कुल पैदावार का 65 प्रतिशत आन्ध्रप्रदेश, बम्बई, मैसूर और मद्रास में होता है।

मिट्टी और जलवायु : मिर्च की फसल समुद्र तल की ऊंचाई से लेकर 5,000 फुट ऊंचाई तक उष्ण कटिबंधीय और उप उष्ण कटिबंधीय जलवायु में होती है और 25--50 इंच तक वार्षिक वर्षा वाले क्षेत्रों में होती है। फसल की बढ़त के दिनों में अत्यधिक वर्षा निश्चित रूप से हानिकारक पाई गई है। कम वर्षा और गर्म मौसम वाले इलाकों में यह सिंचित फसल के रूप में उगाई जाती है।

असिंचित फसल के रूप में यह गहरी, उपजाऊ और काली दुमट में (जैसी जमीन कपास के लिए चाहिए) अच्छी होती है। इसके खेतों में पानी निकास का प्रबन्ध अच्छा होना जरूरी है क्योंकि थोड़े दिन भी पानी भरा रहने से पौधों की पत्तियां झड़ जाती हैं और पीली पड़ जाती हैं। सिंचाई और अच्छी खाद देने से रेतीली और हलकी जलोढ़ दुमट और लाल दुमट में भी अच्छी फसल हो सकती है।

फसल आवर्तन : वर्षा पर निर्भर मिर्च की फसल, ज्वार, रागी, कपास, मूंगफली, तूर और अंडी से अदल-बदल कर की जाती है। जहां पर सिचाई की फसल होती है वहाँ पर ईख, हल्दी, रागी, मक्का, और किसी सब्जी के साथ इसकी अदल-बदल की जाती है क्योंकि मिर्च, बैंगन और आलू के रोग समान होते हैं इसलिए इसका बैंगन और आलू के साथ फसल आवर्तन नहीं करना चाहिए। सिंचित फसलों में कभी कभी मिर्च, ज्वार, बाजरा, मूंगफली, कपास और कुछ सब्जियों के साथ बोई जाती है।

कृषि क्रियायें : जमीन को तैयार करने के लिए तीन-चार बार जोता जाता है और उस पर हैरो चलाया जाता है। आखिरी जुताई के समय प्रति एकड़ 30-40 गाड़ी गोबर की खाद डाली जाती है। बहुत से इलाकों में सिंचित फसल में इसके अतिरिक्त 600 पौंड प्रति एकड़ मूँगफली की खली की खाद भी दी जाती है। खाद के लिए कभी-कभी खेत में भेड़ें आदि बैठाई जाती हैं। सिंचित फसल में लाल मिर्च 6 से 8 फुट वर्ग की क्यारियों में अथवा मेड़ों पर 18 से 36 इंच के अन्तर पर बोई जाती है।

रबी की फसल जुलाई से सितम्बर तक बोई जाती है और खरीफ की फरवरी-मार्च में। पहले नरसरी में बीज बोकर पौद उगाई जाती है और फिर पांच या छः सप्ताह की होने पर उसे उठाकर खेत में रोपा जाता है।

पौध लगाने के लिए अच्छी किस्म की फली से बीज निकाले जाते हैं और उन्हें राख या मिट्टी में मिलाकर अच्छी तरह तैयार की की गई क्यारी में बो देते हैं। रोगरोधी बनाने के लिए सेरेसन या एग्रोसन से बीजों का उपचार कर लिया जाता है। एक एकड़ जमीन के लिए डेढ़ या दो पौंड की बीज की पौध काफी होती है। रोपण क्यारी में बीज बहुत घना नहीं बोना चाहिए, इससे पौधे पतले उगते हैं और कीट व्याधियों को बल मिलता है। अंकुरित बीजों को तेज धूप से बचाने के लिए घास या मिट्टी की पतली पलवार बिखेर दी जाती है, जो सात या दस दिन बाद अंकुर निकलने पर हटा ली जाती है। पौधों की सिंचाई हर तीसरे दिन की जाती है। और अमोनियम सल्फेट की खाद दी जाती है। बहुत लम्बी पौध के सिरे तोड़ दिये जाते हैं ताकि उनमें शाखायें फूट आएँ।

खेत में पौद सायंकाल ऐसे समय लगाई जाती है जब घना बादल हो, वर्षा की आशा हो या फिर हल्की बूँदाबांदी हो रही हो। पौद लगाते ही यदि हल्की वर्षा हो जाय तो पौधे जल्दी जड़ जमा लेते हैं। अगर वर्षा न हो तो हल्की-हल्की सिंचाई कर देनी चाहिए। कतारों का अन्तर दो से तीन फुट और पौधों का 18-24 इंच रखा जाता है। मैसूर में दो-दो फुट पर दोनों ओर से कूँड़ निकाले जाते हैं। हर कूँड़ के एक-दूसरे के काटने (क्रास) के स्थान पर दो पौधे लगाये जाते हैं जिनमें कुछ सड़ी हुई गोबर की खाद भी साथ ही डाल दी जाती है। सिंचाई की खेती में मेड़ों पर एक ओर पौधे लगाये जाते हैं जिनमें 9 से 18 इंच का फासला रखा जाता है। पौधों के बीच में 18 से 24 इंच तक का फासला होना चाहिए।

सिंचित खेती में हाथ से तीन या चार निराई और गुड़ाई होती हैं। कुछ जगहों पर खड़ी फसल में 250 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से अमोनियम सल्फेट भी डाला जाता है। लेकिन वह उर्वरक एक साथ नहीं दी जाती। फसल की वृद्धि और मौसम के अनुसार हर सात या दस दिन बाद सिंचाई की जाती है। अच्छी जुताई, खाद और सिंचाई से यह फसल अच्छी फलती-फूलती है। वर्षा के पानी पर निर्भर फसल की दो तीन गुड़ाई की जाती हैं और मिट्टी ऊँची कर दी जाती है ताकि फालतू पानी बह जाये।

फसल उतारना : रबी की फसल में अक्तूबर के महीने से फूल लगने शुरू हो जाते हैं जो फरवरी के महीने तक चलते हैं। नवम्बर में मिर्च लगने लगती हैं। इसके बाद तीन या चार महीनों में चार से दस बार तक मिर्चें तोड़ी जाती हैं। अगर हरी मिर्च की

अच्छी मांग हो तो पहली बार चुने गये फल इस काम आ सकते हैं। गर्मी की तो सारी फसल हरी मिर्च के रूप में ही खत्म हो जाती है। पकते हुए फल चुनकर घर के अन्दर तीन या चार दिन तक ढेर में रखे जाते हैं ताकि कुछ कच्चे कम पके फल भी ठीक लाल रंग के हो जाएं। फिर वे धूप में कई दिन तक सुखाए जाते हैं और बाजार में भेजने से पहले उनको छोटे-बड़े आकार और रंग के आधार पर अलग-अलग छांट लिया जाता है।

उपज : खरीफ की खेती में सूखी मिर्च की पैदावार लगभग 500 पौंड प्रति एकड़ होती है और सिंचित फसल से प्रति एकड़ 1200 से 1500 पौंड मिर्चें प्राप्त होती हैं। सूखकर इनका वजन केवल 25 - 30 प्रतिशत रह जाता है।

किस्में : आकार, रंग आकृति, और तीक्ष्णता के अनुसार मिर्च की कई किस्में होती हैं। ये पतली और लम्बी, बड़ी और मोटी, छोटी और गोल, इत्यादि कई प्रकार की हो सकती हैं। कच्ची मिर्चें हरी, पीली और नारंगी रंग की हो सकती हैं।

भारत में खासकर दो तरह की लाल मिर्च होती हैं—कैप्सिकम एनम और कैप्सिकम फ्रूटसेंस। बाजार में सूखी पहले वर्ग की लाल मिर्च ही अधिक चलती है।

दिल्ली की भारतीय कृषि अनुसंधानशाला ने निम्नलिखित उन्नत किस्में विकसित की हैं :

एन० पी० 34, एन० पी० 41, एन० पी० 46, संकर 17-1-1. एन० पी० 41 अधिक उपज देने वाली और तेज चरपरी मिर्चें होती हैं। एन० पी० 46 पर कीटों का कम असर होता है। मिर्च की

संकर 17-2-1 किस्म अधिक पैदावार और हरी मिर्च के लिए अच्छी है। कम चरपरी और सब्जी योग्य दो अमरीकी किस्में निम्न लिखित हैं :

वर्ल्ड बीटर और बैल पेपर, और एक रूसी किस्म आर० 449 दिल्ली और कुछ अन्य स्थानों में अधिक उपज देने वाली सिद्ध हुई हैं।

आन्ध्र प्रदेश में सुधरी हुई किस्में जी-1 और 1402 कीटरोधी हैं और ज्यादा उपज देने वाली हैं।

अदरक (*Zingiber officinale* Roscoe)

कहते हैं भारत अदरक का सबसे बड़ा उत्पादक है। सूखी अदरक को सोंठ भी कहते हैं। अदरक हरे या सूखे रूप में खाने के लिए इस्तेमाल की जाती है। यह अचार और चटनी में भी काम आती है, पर बहुत थोड़ी मात्रा में अदरक को सुखाकर सोंठ का रूप दिया जाता है। भारत में अदरक का वार्षिक उत्पादन दस हज़ार टन अनुमाना गया है। इसकी खेती उष्ण-उपोष्ण कटिबन्धीय देशों में की जाती है। भारत में लगभग सभी प्रदेशों में और विशेषकर केरल, मैसूर, मद्रास, बम्बई, बंगाल और बिहार राज्यों में इसकी खेती होती है।

मिट्टी और जलवायु : यह फसल समुद्र तल से लगभग 5,000 फुट की ऊंचाई तक के स्थानों में उगायी जाती है। इस के लिए भारी वर्षा (प्रति वर्ष 50 से 100 इंच तक) आवश्यक है या फिर सिंचित फसल के रूप में यह उगायी जाती है। छायादार स्थानों में यह अच्छी होती है, यद्यपि खुले में भी बहुत से इलाकों में इसकी खेती की जाती है।

अदरक के लिए ह्यूमसधारी, जलनिकास वाली भुरभुरी दुमट मिट्टी अच्छी रहती है। सिंचित फसल के लिए अधिक नमी वाली रेतीली और लैटराइट दुमट में, काली दुमट में भी अदरक अच्छी तरह पैदा होती है।

फसल आवर्तन : सिंचाई की खेती में अदरक को पान की बेल, केला, हल्दी, प्याज, लहसुन, लाल मिर्च, अन्य सब्जियों, गन्ना, मक्का, रागी और मूंगफली के साथ अदल-बदल कर बोते हैं। वर्षा पर निर्भर खेती में तीन या चार वर्ष में एक बार शकरकन्दी, रतालू, लाल मिर्च, धान और टैपीओका से अदल बदल कर इसकी खेती करते हैं। यह अकेली भी उगायी जा सकती है या छाया देने वाले पौधों जैसे केला, तूर, अंडी के पेड़ और ग्वार के साथ भी बोई जा सकती है। पश्चिमी घाट में नारियल, काली मिर्च और संतरे के बागों में इसे अन्तः फसल के रूप में बोया जाता है।

कृषि क्रियायें : जमीन तैयार करने के लिये इसकी 5-6 बार जुताई की जाती है। आखिरी जुताई के साथ प्रति एकड़ तीस या चालीस गाड़ी गोबर की खाद डाली जाती है। खेत में सुविधानुसार क्यारियां बनाई जाती हैं।

अदरक की गांठ के कम से कम एक अंकुर वाले एक या दो इंच लम्बे रोग रहित टुकड़े बीज के रूप में लिये जाते हैं। इनको जमीन में दो इंच गहरे और एक दूसरे से 6 से 12 इंच के फासले पर गाड़ा जाता है, ऊपर से हाथ से मिट्टी डाल दी जाती है। एक एकड़ के लिये 700 से 1,500 पौंड अदरक की गांठें काफी होती हैं। उसकी बुआई दक्षिण भारत में मई या जून में की जाती है और उत्तर भारत में कुछ पहले। सिंचित खेती में फौरन बोने के बाद एक पानी

दिया जाता है । वर्षा पर निर्भर फसल की क्यारियों को पौधों के पलवार से ढक देते हैं, ताकि तेज धूप और पानी से उनका बचाव हो सके । क्यारियों की मेड़ों पर ग्वार, तूर या अंडी बोई जाती हैं । दस बीस दिन में अंकुर निकल आते हैं । पौधे बड़े होने पर जमीन की तीन-चार बार हाथ से निराई की जाती है और पौधों की जड़ों पर एक-दो बार मिट्टी चढ़ाई जाती है । आवश्यकतानुसार 4 से 10 दिन बाद पानी दिया जाता है । सिंचित खेती में, विशेषकर उत्तर भारत में गोबर या खली की खाद दी जाती है । बम्बई में दो-तीन बार लगभग तीन-चार हजार पौंड प्रति एकड़ अंडी की खली खाद की तरह दी जाती है । वर्षा पर निर्भर फसल में निराई-गुड़ाई और मिट्टी चढ़ाने के समय दो या तीन बार जैविक खाद लगाई जाती है ।

फसल की खुदाई : आमतौर पर नवम्बर के बाद जब पत्तियां पीली पड़ जाती हैं और तने सूखने लगते हैं फसल तैयार समझी जाती है । अगर हरी अदरक की अच्छी मांग हो तो कुछ अदरक इससे पहले भी निकाली जा सकती है । अगर फसल कम बढ़े और मांग कम हो तो एक साल तक भी अदरक खेत में ही छोड़ी जा सकती है ।

पैदावार : हरी अदरक की पैदावार 5 से 10 हजार पौंड प्रति एकड़ तक है । अदरक सूख कर वजन में पांचवां भाग रह जाती है ।

बीज रखना : पश्चिमी घाट के कुछ स्थानों में नीरोग और अच्छी अदरक की गांठें छायादार स्थानों में गढ़ा खोद कर रखते हैं । इस गढ़े में ऊपर से हवा पहुँचने के लिए जगह खाली रहने देते हैं । फिर गढ़े को लकड़ी के तख्तों से ढक देते हैं और ऊपर से मिट्टी

डाल देते हैं । कुछ स्थानों में विशेषकर बम्बई में बढ़िया किस्म की अदरक की गाँठों का ढेर एक ठंडे, नम और हवादार कमरे में फैले हुए सूखी रेत या राख पर फैला देते हैं । इस बीज की कई बार पड़ताल होती है और खराब गांठें निकाल दी जाती हैं । इस प्रकार 15 से 20 प्रतिशत बीज नष्ट हो जाता है ।

किस्में : खेती में तो एक ही प्रकार की अदरक होती है परन्तु आकार और रंग के अनुसार इसके भेद होते हैं । व्यापारिक तौर पर अदरक को पैदा होने के स्थान के नाम या लदान के बन्दरगाह के नाम से पुकारा जाता है या जैसे छिलका उतरी या बिना छिलका उतरी, शोधित या अशुद्ध ।

काली मिर्च (*Piper nigrum* Linn.)

भारत में काली मिर्च की खेती अति प्राचीन काल से होती आई है । दक्षिणी प्रायद्वीप के पश्चिमी घाट के नीचे अर्द्ध पहाड़ी क्षेत्रों में इसकी खेती बड़े पैमाने पर की जाती है । कुछ लोगों का विचार है कि सफेद मिर्च, जिसे दक्खिनी मिर्च भी कहते हैं, काली मिर्च की ही एक किस्म है । परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है । यह काली मिर्च से ही तैयार होती है । जब काली मिर्च का मुलायम छिलका उतार लिया जाता है तो उसका सफेद रूप हो जाता है । पर सफेद मिर्च बनाने के लिए काली मिर्च को विशेष प्रकार से उपचारित किया जाताहै । खाद्य पदार्थों को खुशबूदार और स्वादिष्ट बनाने के लिए इसका प्रयोग होता है । मोटापन या बादी दूर करने के लिए भी काली मिर्च खाई जाती है । यह मसाला बहुत मंहगा है और इससे देश को काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है ।

जलवायु और मिट्टी : काली मिर्च के लिए गर्म और तर जलवायु की आवश्यकता होती है इसलिए 100 इंच या अधिक वार्षिक वर्षा वाले ऐसे क्षेत्र उपयुक्त रहते हैं जहां ताप आमतौर पर 50--100° फै० रहता हो। समुद्र तल से लगभग 4,000 फुट की उंचाई तक के स्थानों पर इसकी खेती हो सकती है। इसके लिए उपजाऊ भुरभुरी और पर्याप्त अगलित जीवांश (ह्यूमस) वाली मिट्टी बहुत अच्छी रहती है। यह लाल लैटराइट जमीन, पहाड़ी ढलानी और सपाट जमीन पर भी पैदा होती है। ऐसे ढलानों पर इसकी खेती नहीं की जाती जहां गर्मी में झुलसाने वाली धूप पड़ती हो।

पौध लगाना : इस की खेती आमतौर पर जड़ कलमें या सादा कलमें लगाकर की जाती है। कभी कभी बीज भी बोये जाते हैं परन्तु इस विधि में बहुत मेहनत होती है पैदावार देर में होती है और फसल का भरोसा भी नहीं रहता। कलम लगाने के लिए 10-15 वर्ष का पौधा लिया जाता है कलम के टुकड़े या तो पुरानी बेल से (जैसे मलाबार में) या बेल के ऊपरी भाग से लटकती हुई लम्बी टहनियों से (जैसे ट्रावनकोर कोचीन में) लिये जा सकते हैं। जड़ कलमें, मिट्टी से भरी टोकरी में बेल दबा कर (जैसे मलाबार में) या मिट्टी में दबा कर (जैसे मैसूर में) और या पौध लगाकर (जैसे कुर्ग में) प्राप्त की जाती है।

जड़ कलम जल्दी जड़ पकड़ती है और इसमें शीघ्र ही फूल आने लगते हैं। कलम जहां तक हो द्विलिंगी (हर्माफोइट) बेलों से लेनी चाहिए परन्तु जहां तक लिंगी किस्म की ही कलम लेनी हो तो

मादा किस्म से ही लेनी चाहिए परन्तु परागण के लिए कुछ नर लिंग की कलमें भी लेनी चाहिए।

काली मिर्च की बेलों को किसी सहारे की जरूरत होती है। भारत में इसके लिए शीघ्र बढ़ने वाले पौधे लगाए जाते हैं। काली मिर्च के पौधे को छाया और नियमित प्रकाश चाहिए, इसलिए छाया देने वाले पौधों के चुनाव में इस बात का ध्यान रखना चाहिए। आमतौर पर इरीथ्रीना इंडिका, गरूगा पिन्नाटा और स्पोंडियास मेंगीफेरा इस काम में आते हैं। वर्षा काल में हर वर्ष इनकी काट छांट की जाती है। फूल आने और फल लगने के समय बहुत छाया फसल को हानि पहुंचाती है।

काली मिर्च की बेलें कभी कभी आम, कटहल और अन्य पेड़ों के साथ और कभी कभी काफी नारियल संतरे, सुपारी के बागों में फसल के रूप में उगाई जाती हैं। बागों के ये वृक्ष काली मिर्च के लिये सहायक वृक्ष का काम देते हैं।

काली मिर्च की पौध लगाने के लिये चुने गये स्थान को अच्छी तरह साफ कर लेते हैं। जहाँ आवश्यक हो वहाँ खेत को सीढ़ीदार बनाते हैं। अक्तूबर-नवम्बर में 18 × 18 × 18 इंच के गढ़े खोदे जाते हैं। इनके बीच का फासला 8 से 12 फुट तक रखा जाता है। अप्रैल में गढ़ों में ऊपर मिट्टी और पत्ती की खाद भर दी जाती है और सहायक पेड़ों की कलम या बीज मई-जून में लगा दी जाते हैं। तीन या चार सप्ताह में ये पेड़ जम जाते हैं। तब जुलाई-अगस्त के महीने में प्रत्येक सहायक पेड़ के उत्तरी और पूर्वी तरफ काली मिर्च की 5—6 कलम लगा दी जाती हैं। तेज धूप से बचाने के लिए कलम के चारों ओर सूखी पत्तियाँ या सूखे डंठल रखे जाते हैं।

खाद : ऐसी भूमि में जहां पहले कभी खेती न की गयी हो, मिट्टी में कई वर्ष तक खाद देने की खास जरूरत नहीं होती। इसके बाद जीवाँश बढ़ाने के लिये गोबर और पत्तियों की खाद दी जाती है। 20 पौंड पत्ती की खाद या कम्पोस्ट, एक पौंड चूना और चार औंस पोटाशियम सल्फेट प्रति बेल प्रति वर्ष देने से वेल को बढ़ने और शाखा फूटने में बहुत मदद मिलती है। लैटराइट जमीन में चूना देना लाभकारी सिद्ध हुआ है।

कृषि क्रियायें : दक्षिणी पश्चिमी मानसून शुरू होने पर खर-पतवार नष्ट करने के लिये बेल की जड़ के चारों तरफ की मिट्टी की गहरी खुदाई की जाती है। उत्तर पूर्व मानसून के अन्त में हल्की खुदाई की जाती है ताकि मिट्टी नमी ग्रहण कर ले। बेल की जड़ मजबूत करने के लिए उस पर मिट्टी भी चढ़ाई जाती है। बेल लगाने के दो तीन साल बाद सीढ़ियां बनाने का काम पूरा हो जाता है और रस्सी या सन से ये बेलें सहायक पेड़ों पर चढ़ा दी जाती हैं।

प्रत्येक मुख्य शाखा को पूरी तरह प्रस्फुटित होने का अवसर मिले, इसके लिए कभी कभी बेलें सहायक पेड़ों से हटा ली जाती हैं और वह पांच छः फुट ऊंची हो जायें तो पेड़ की जड़ के पास एक गोल गढ़े के चारों तरफ फैला दी जाती हैं। फिर उनका सिरा मिट्टी से एक फुट ऊपर उठाकर मिट्टी ही में दबा देते हैं। कहा जाता है कि ऐसा करने से नयी जड़ें जमती हैं और नयी शाखें निकलती हैं। कभी कभी बेलों की काट छाँट की जाती है ताकि वे और अधिक फूटें।

फसल उतारना: बेल पर तीसरे वर्ष से फल आने शुरू हो जाते हैं। बेल से पैदावार सातवें आठवें वर्ष पूरे जोरों से मिलनी शुरू हो जाती है। बेल के 20-25 साल बड़ी होने के बाद यह घटनी शुरू

हो जाती है। फूल मई से अगस्त तक खिलते हैं। इसके बाद मिर्च गुच्छों में लगने लगती हैं। छः या आठ महीनों में फल पक जाते हैं। कम ऊंचाई वाले स्थानों में दिसम्बर या फरवरी में और अधिक ऊंचे स्थानों में फरवरी मार्च में मिर्चों के गुच्छे उतार लिए जाते हैं। गुच्छे की एक या दो मिर्च लाल पड़ने पर सारा गुच्छा तोड़ दिया जाता है और इनको सुखा लिया जाता है। सूखकर छिलका काला पड़ जाता है और गूदा सिकुड़ जाता है। यही काली मिर्च है।

पैदावार : इस फसल की पैदावार अच्छी देखभाल पर निर्भर करती है। यदि जून और जुलाई में काफी वर्षा होती है तो फल भी खूब लगते हैं। अगस्त सितम्बर में हल्की बौछारें पड़ने से फसल अच्छी रहती है और खूब फल आते हैं। हर ऋतु में अलग-अलग पैदावार होती है। औसतन 300 बेल वाली प्रति एकड़ 200 से 500 पौंड उपज प्रति वर्ष प्राप्त होती है। सुखाने पर हरी मिर्च का भार सूखकर 75 प्रतिशत रह जाता है।

किस्में : पकने की अवधि, गुच्छों की लम्बाई, फलों का आकार आदि के अनुसार काली मिर्च पैदा करने वाले क्षेत्र में काली मिर्च की विभिन्न किस्म पायी जाती हैं। गुच्छा और फलों में आकार पर स्थानीय जलवायु और खेती करने के ढंग का भी बड़ा असर होता है। मलाबार क्षेत्र में उगाई जाने वाली काली मिर्च की विभिन्न किस्मों में निम्नलिखित प्रमुख हैं : कलुवल्ली, बेलनकोटा, चेरियाकोडी उथिरनकोट्टा।

मैसूर में उगायी जाने वाली मिर्च की किस्मों में मालीगसारा, तट्टीसारा, डोडागा और मोराता अधिक लोकप्रिय है। केरल में उगायी जाने वाली किस्मों में चुनाली, कोथानडऊ, मुण्डी, थुलकोडी और करुवाली प्रमुख हैं।

हल्दी (*Curcuma longa* Roxb.)

प्रत्येक भारतीय घर में हल्दी का उपयोग एक महत्वपूर्ण मसाले के रूप में किया जाता है। भारत में बहुत प्राचीन काल से इसकी खेती होती आई है। इसको वस्त्र रंगने के काम भी लाते हैं लेकिन इसका रंग पक्का नहीं होता। शरीर में दर्द और चोट के समय इसे बाहर शरीर पर दवा के रूप में भी इस्तेमाल करते हैं। पके हुए खाने को सुचारु और रुचिकर बनाने के लिए भी इस्तेमाल किया जाता है। कहीं-कहीं सौन्दर्य प्रसाधन के रूप में उबटन की तरह इसको मुख और शरीर पर मला जाता है।

लगभग सभी राज्यों में और विशेषकर मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, बम्बई, बंगाल और उड़ीसा में इसकी खेती होती है। पूर्वी तथा पश्चिमी घाटों के जंगलों के पहाड़ी ढलानों और घाटियों पर यह जंगली फसल के रूप में उग आती है।

मिट्टी और जलवायु : इसकी फसल के लिये गर्म वा तर जलवायु की आवश्यकता होती है। पश्चिमी घाट के बहुत वर्षा वाले इलाकों में इसकी फसल बिना सिंचाई किये ही उगायी जाती है, जबकि अन्य क्षेत्रों में इसकी खेती सिंचाई द्वारा होती है। इसकी खेती समुद्र तल से लगभग 4,000 फुट की ऊँचाई तक होती है और जंगली फसल इससे भी अधिक ऊँचाइयों पर उगती है।

इसकी खेती के लिये उपजाऊ रेतीली, मटियार, मध्य काली, लाल या जलोढ़ दुमट, पर्याप्त अगलित जीवांश और उपयुक्त जल निकास वाली मिट्टी अच्छी रहती है। सख्त और पथरीली जमीन में इसकी खेती अच्छी नहीं होती। इसकी खेती आमतौर पर उन जमीनों

में की जाती है, जो भारी वर्षा सहन कर सकें। परन्तु कुछ इलाकों में उन तालाबों के नीचे की सख्त मिट्टी में भी इसकी खेती होती है जिनमें अधिक पानी को बाहर निकलने के लिए नालियों की अच्छी व्यवस्था हो।

फसल आवर्तन : वर्षा वाले क्षेत्रों में हल्दी को धान, गन्ना, केला आदि से तीन या चार साल में एक बार अदल-बदल कर बोते हैं। बाग की जमीन में इसे गन्ना, लाल मिर्च, प्याज़, लहसुन तथा अन्य सब्जियों और सिंचाई वाले क्षेत्रों में गेहूँ, रागी, मक्का और चने के साथ तथा गुजरात में अदरक से भी अदल-बदल कर बोते हैं। अन्य क्षेत्रों में रतालू, लाल मिर्च और शीघ्र होने वाली सब्जियों की सहायक फसल के रूप में इसकी खेती करते हैं। हल्दी के पौधों को छाया देने के लिये मेड़ों पर अंडी या तूर के पौधे लगाये जाते हैं। बंगाल में आम, लीची और कटहल के बागों में, पश्चिमी घाट पर नारियल के बागों में भी अन्तः फसल के रूप में यह उगाई जाती है।

कृषि क्रियायें : हल्दी के लिये खेती की तैयारी बुआई, सिंचाई, और दूसरी कृषि क्रियायें अदरक की तरह ही की जाती हैं। बोने के लिये लम्बी और छोटी दोनों प्रकार की गांठें काम में लाई जाती हैं। परन्तु हर गांठ 1—$1\frac{1}{2}$" लम्बी और उनमें अंकुवा होना चाहिये। कभी-कभी बोने से पहिले गांठों को भूसे के नीचे दबाकर उसमें अंकुर निकाल लेते हैं। गाँठें एक-दूसरी से 9 से 15 इंच की दूरी पर जमीन में तीन इंच गहरी गाड़ दी जाती हैं। बोने के फासले और साथ की फसल के अनुसार बीज की मात्रा 1,000 से 2,000 पौंड प्रति एकड़ तक रखते हैं। फलदार बागों में बोने के लिये बीज 400

से 500 पौंड प्रति एकड़ ही काफी पाया गया है। फसल मध्य अप्रैल से अगस्त तक बोई जाती है।

खुदाई और गांठों की रचाई : दिसम्बर-फरवरी में पौधों की पत्तियां पीली पड़ जाती हैं और सूखने लगती हैं। फसल जनवरी से अप्रैल तक खोदी जाती है। अगली फसल के लिये बीज प्राप्त करने के लिये फसल का कुछ हिस्सा एक महीने तक जमीन में ही रहने देते हैं।

गांठें खोदने से कुछ दिन पहले हल्दी के पौधों के तने काट लिये जाते हैं। निकाली हुई हल्दी को लम्बी और गोल गांठों के अनुसार छांट लिया जाता है, उनसे जड़ के रेशे और मिट्टी अलग कर दी जाती है और अगर जरूरत पड़े तो गांठों को काटकर छोटी-छोटी कर लिया जाता है। फिर उन्हें मिट्टी के या लोहे के बड़े बर्तन में पानी में डुबोकर भट्टी पर चढ़ा देते हैं। बर्तन के ऊपर हल्दी की सूखी पत्तियां या टाट के टुकड़े फैला देते हैं। पानी को लगभग एक घण्टे तक उबालते हैं। इसके बाद हल्दी की मुलायम गांठों को निकाल लेते हैं और 10-15 दिन तक धूप में सुखाते हैं। लगी हुई गांठों के टुकड़ों को हाथ से साफ करते हैं और सूखी हुई हल्दी को या तो बेच देते हैं या लटकी हुई बाँस की टोकरियों में जिनमें ग्रेनाइट के छोटे-छोटे टुकड़े होते हैं डालकर इस पर पालिश कर देते हैं। हल्दी पर पालिश करने के लिये मद्रास कृषि विभाग द्वारा पालिश करने का एक यंत्र विकसित किया गया है। यह कम खर्च में, जल्दी और अच्छी पालिश कर देता है। पालिश करने में जो पीली धूल बच जाती है वह धान के लिये खाद के काम आती है।

पैदावार : हल्दी की शुद्ध फसल की पैदावार 2,000 से 5,000 पौंड प्रति एकड़ तक होती है। अनुकूल परिस्थितियों, खूब

खाद और सिंचाई की व्यवस्था ठीक होने पर इसकी पैदावार 7,000 पौंड प्रति एकड़ तक हो सकती है। हल्दी की सूखी गाँठों का वज़न ताजे का लगभग $\frac{1}{5}$ होता है।

किस्में : मलाबार और कोचीन की हल्दी बड़ी होती है। पटना की हल्दी अपने गहरे रंग के लिये प्रसिद्ध हैं। बम्बई में दो किस्म की हल्दी होती है। (1) लोखंडी नामक हल्दी की गांठें सख्त और चमकीले रंग की होती हैं जिनसे रंग निकाला जाता है और (2) दूसरी किस्म की गांठें हल्के रंग की और मुलायम होती है जिन्हें मसाले के काम में लाते हैं।

नशीली फसलें

भारत में प्राकृतिक रूप से उगने वाली और खेत में पैदा होनी वाली नशीली फसलों में आगे लिखी तीन फसलें मुख्य हैं : (1) अफीम (2) भांग और (3) तम्बाकू। अफीम और तम्बाकू वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से नरकोटिक वर्ग में आते हैं।

अफीम पैपावेर सौम्नीफेरम नाम के पौधे से प्राप्त की जाती है। यह पौधा 3—5 फुट तक ऊंचा होता है। इसके फल या ढोंढी को पौधों में ही कच्ची अवस्था में छिछला चीर दिया जाता है और उससे जो रस निकलता है उसी को सुखाने और साफ करने से अफीम बनती है।

गाजीपुर, उत्तरप्रदेश में अफीम तैयार करने का एक बड़ा सरकारी कारखाना है, जिसके लिए यहां पर अफीम की खेती की जाती है। भांग का पौधा आमतौर पर जंगली अवस्था में उगता

है। किन्तु कहते हैं कि यह भी नशीले पदार्थ तैयार करने में काम आती है। भारत में आमतौर पर अफीम खाना तथा भाँग और तम्बाकू पीना बुरा समझते हैं।

तम्बाकू (*Nicotiana tabacum* L.)

तीन चार सदी पहले आधुनिक संसार में स्पेनवासियों ने तम्बाकू की खेती का प्रचलन किया। भारत में इसकी खेती और उपयोग 17वीं सदी के शुरू में पुर्तगालियों के यहाँ पहुंच जाने के बाद शुरू हुई। तम्बाकू की पत्ती सुखाने के बाद धूम्रपान अथवा सुँघनी के रूप में इस्तेमाल की जाती है और अनेक तरह से इसकी सुर्ती बनाकर इसे चबाते हैं। भारत में प्रति वर्ष लगभग $9\frac{1}{2}$ एकड़ भूमि पर तम्बाकू की खेती की जाती है जिससे लगभग 64 करोड़ पौण्ड पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। तम्बाकू की दो प्रमुख किस्में आमतौर पर देशी और विलायती कहलाती हैं। देशी तम्बाकू (निकोटियाना रस्टिका) की पत्तियाँ लम्बी चौड़ी होती हैं और यह सिगरेट, सिगार, चुरुट और बीड़ी आदि में इस्तेमाल की जाती है। यह खाने तथा सूँघने के काम भी आती है। विलायती तम्बाकू (निकोटियाना टेबेकम) की पत्तियाँ खासतौर पर हुक्के वाले तम्बाकू में इस्तेमाल होती है तथा चबाने और सूँघने के रूप में काम आती हैं।

मिट्टी और जलवायु : तम्बाकू तरह-तरह की मिट्टियों और विभिन्न जलवायु की दशाओं में पैदा होता है। देशी तम्बाकू तो विशेष रूप से सारे भारत में पैदा होता है। विलायती या कलकतिया तम्बाकू केवल उत्तर पूर्व के ठंडे इलाकों में पैदा होता है।

सिगरेट का तम्बाकू, जिसे वर्जिनिया तम्बाकू कहते हैं, मुख्य रूप से जाड़ों के मौसम में रबी की फसलों में उगाया जाता है। यह तम्बाकू जहाँ सिंचाई की सुविधाएं नहीं हैं, वहाँ पर भारी काली मिट्टियों में पैदा किया जाता है। बिहार और उत्तरप्रदेश की जलोढ़ मिट्टियों में यह खरीफ में उगाया जाता है। क्षारीय और लवणीय मिट्टियों का इस पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। बम्बई और मैसूर राज्यों में, कैरा और बेलगाम जिलों को छोड़कर, काली चिकनी या दुमट मिट्टियों में प्रायः बीड़ी का तम्बाकू पैदा किया जाता है। कैरा और बेलगाम की क्रमशः जलोढ़ और लाल मिट्टियों में भी बीड़ी का तम्बाकू पैदा होता है। चुरुट का तम्बाकू मदुरा, तिरुचिरापल्ली और कोयम्बटूर में, जहां की मिट्टी लाल और हल्की कंकरीली से रेतीली दुमट होती है, पैदा होता है। खाने का तम्बाकू सारे देश में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टियों और जलवायु में पैदा होता है। हुक्के का तम्बाकू प्रायः उत्तर प्रदेश और पंजाब की जलोढ़ मिट्टियों में पैदा किया जाता है।

फसल आवर्तन : आन्ध्र प्रदेश में सिगरेट का तम्बाकू प्रायः बिना फसल आवर्तन के पैदा किया जाता है। कभी-कभी दो साल के आवर्तन में तम्बाकू के बाद मूँगफली और सोरगम बोया जाता है। खरीफ में मक्का बोने के बाद यदि रबी में तम्बाकू बोया जाए तो सबसे अच्छा परिणाम होता है। बीड़ी की तम्बाकू के साथ चरोतर में किसी दूसरी फसल का क्रम नहीं रखा जाता जबकि निपानी में इस फसल का क्रम ज्वार और अरहर या चने के साथ रखा जाता है। चुरुट का तम्बाकू प्रायः बाजरा या चारे के लिए उगाये जाने वाले बाजरे के बाद पैदा किया जाता है। मैसूर में मिर्चों के बाद

चुरुट का तम्बाकू पैदा किया जाता है। मद्रास में खानेवाले तम्बाकू का क्रम बाजरा या ज्वार के साथ रखा जाता है।

बिहार में खाने वाले तम्बाकू के बोने से पहले मक्का और गेहूँ या मक्का और अरहर का क्रम रखा जाता है जबकि चरोतर में बाजरा या कोदों-अरहर का क्रम रखा जाता है। हुक्के के तम्बाकू के साथ मिर्च या आलू का आमतौर पर क्रम रखा जाता है।

पौद लगाना : उम्दा तरीके से तैयार की गई जलनिकास वाली जमीन से कुछ ऊँची उठी क्यारियों में तम्बाकू की पौद लगाई जाती हैं। सिगरेट का तम्बाकू अगस्त-सितम्बर में, बीड़ी का जुलाई में, चुरुट का अगस्त में और हुक्के का नवम्बर-दिसम्बर में बोया जाता है।

बोने के लिये सिगरेट का तम्बाकू 2 से 4 पौंड, और बीड़ी के तम्बाकू का बीज 10 से 20 पौंड प्रति एकड़ लगता है। क्यारियों में बिहार में देशी तम्बाकू के बीज की दर 2 से 4 औंस और विलायती तम्बाकू की $\frac{1}{2}$—1 पौंड प्रति 500 से 800 वर्ग फुट है। चरोतर में 400 वर्ग फुट में 1 पौंड बीज लगता है। हुक्के के तम्बाकू के बीज की दर क्यारियों में बोए जाने पर प्रति एकड़ 40 पौंड है। देशी और विलायती तम्बाकू के बीजों की दर घटा कर क्रमशः 10 और 20 पौंड तक की जा सकती है।

जब पौद तीन से चार सप्ताह की हो जाती है तब सप्ताह में एक बार नाइट्रोजनधारी उर्वरक का घोल दिया जाना चाहिए। यह क्रम चार पांच सप्ताह तक चलना चाहिए। इसके बाद हर बार पत्तियों से उर्वरक झाड़ने के लिए पानी का छिड़काव किया जाना चाहिए। लेकिन जब पौधों को रोपने का समय आ जाए तो उसके

एक सप्ताह पहले पानी के छिड़काव की मात्रा कम कर देनी चाहिए ताकि पौद थोड़ी मजबूती से जड़ पकड़ ले।

खेत की तैयारी : पौद रोपने के पहले खेत को पाँच छः बार जोता जाता है, जोतते समय घूरे की खाद दी जाती है। हुक्के के तम्बाकू के लिए 40 से 50 गाड़ियां और सिगरेट के तम्बाकू के लिए 5 से 10 गाड़ियाँ खाद की जरूरत होती है। इसके अलावा अमोनियम सल्फेट या खली या दोनों ही दी जानी चाहिएं। गुन्टूर में सिगरेट के तम्बाकू के लिए 20 पौंड नाइट्रोजन दिया जाता है। बीड़ी तम्बाकू के लिए निपानी में 50 से 80 पौंड नाइट्रोजन और चरोतर में 100 से 120 पौंड नाइट्रोजन या तो पौद रोपने के एकदम पहले दिया जाता है या दो बार में (1) पौद रोपने के पहले और (2) पौद रोपने के पांच या छः सप्ताह बाद बराबर मात्रा में दिया जाता है। खाने वाले तम्बाकू के लिए बिहार में 20 से 25 पौंड नाइट्रोजन देना उपयुक्त पाया गया है। चरोतर में 20-40 पौं० नाइट्रोजन दो बार बराबर-बराबर मात्रा में दिया जाना चाहिए। उत्तरी भारत में हुक्के के तम्बाकू के लिए यह मात्रा बढ़ाकर 100 पौं०कर दी जाती है।

जब पौद 8 से 10 सप्ताह बड़ी हो जाती है तब उसे रोपा जाता है और उन्हें अन्य फसल की बड़ी और चौड़ी पत्तियों से ढका जाता है। जो पौद मुरझा जाती हैं उनकी जगह दूसरी पौद 1 सप्ताह के अन्दर-अन्दर लगा दी जाती है। रोपाई का अन्तर सिगरेट वाले तम्बाकू के लिए 33″ × 33″ निपानी में, 42 × 30 इंच और चरोतर में 36 × 30 इंच रखा जाता है, मद्रास में 24 × 24 इंच और बिहार में 36 × 36 इंच देशी तम्बाकू के लिए और 24″ × 24″

विलायती तम्बाकू के लिए, चरोतर में खाने वाले तम्बाकू के लिए रोपाई का अन्तर 24×24 इंच और हुक्के के तम्बाकू के लिए 15×9 इंच (देशी) या 12×6 इंच (विलायती के लिये) अन्तर रखा जाता है। गुंटूर में सिगरेट के तम्बाकू की खेती के लिए प्रायः सिंचाई नहीं की जाती। हाँ, अच्छी फसल के लिए दिसम्बर के अन्त में दो हल्की सिंचाई करना लाभदायक है। निपानी और चरोतर के क्षेत्रों में बीड़ी के तम्बाकू के लिए वर्षा पर निर्भर रहना पड़ता है। चुरुट और खाने के तम्बाकू की खेती में प्रायः सिंचाई की जाती है। बिहार में खाने वाले तम्बाकू में पौद रोपने के बाद दो तीन दिन तक सिंचाई की जाती है और उसके बाद एक या दो बार खुटकने तक सिंचाई की जाती है। चरोतर में पीलीयू की फसल की तीन बार सिंचाई की जाती है, एक बार खुटकने से पहले और दो बार बाद में। पौध उगने के बाद हुक्के के तम्बाकू की फसल की सात या दस दिन के अन्तर से सिंचाई की जाती है। बाद में 4 या 5 दिन के अन्तर से सिंचाई करनी पड़ती है। खेत को खरपतवार आदि से मुक्त रखने के लिए निराई करते रहना चाहिए।

चुंटाई और सकरना : पत्तियों के आकार और किस्म को सुधारने के लिए खुटकना और सकरना दो मुख्य क्रियायें हैं सिगरेट के तम्बाकू की फसल में चुंटाई से पत्तियों के आकार-प्रकार में वृद्धि होती है। यह बात उन पौधों पर लागू नहीं होती जिनके गहरे काले पत्ते होते हैं। निपानी में बीड़ी के तम्बाकू की फसल में केवल 10-12 पत्तियाँ छोड़ने का रिवाज है और चरोतर में लगभग 12 पत्तियां। चुरुट के तम्बाकू में लगभग 14 पत्तियाँ रखी जाती हैं। मद्रास में 8 से 15, बिहार में 12 से 18 और चरोतर में 18 से 20

पत्तियाँ खाने के तम्बाकू की फसल में रखी जाती हैं। फिर भी सबसे अच्छा तरीका 14 पत्तियां रखने का है।

कटाई : बीड़ी के तम्बाकू की फसल रोपाई के साढ़े चार महीने बाद जनवरी-फरवरी में काटी जाती है, चुरुट के तम्बाकू की फसल 90 से 100 दिन में पक जाती है और हुक्के की मई या जून के मध्य में काटी जाती है। वर्जीनिया और नाटू सिगरेट के तम्बाकू की फसलें गुंटूर में दिसम्बर-फरवरी में तथा उत्तर प्रदेश में सितम्बर में काटी जाती हैं।

तम्बाकू की अलग-अलग किस्मों के लिए कटाई के तरीके भी अलग-अलग हैं। सिगरेट के तम्बाकू की पत्तियां छटाई द्वारा कई बार काटी जाती हैं अर्थात् ज्यों-ज्यों वे पककर हल्की हरी होती जाती हैं, त्यों-त्यों वे काट ली जाती हैं।

बीड़ी, चुरुट, हुक्का और खाने के तम्बाकू के पौधों को भूमि से मिलाकर काटा जाता है जबकि चरोतर में पौदे के तने का काफी भाग भूमि में ही छोड़ दिया जाता है और उससे पत्तियों को अलग कर लिया जाता है। काटने के बाद सब प्रकार के तम्बाकू की फसल को सूखने के लिए दो से तीन दिन तक खेत में ही छोड़ दिया जाता है। तम्बाकू के सूखने की जांच पत्तियों के रंग में परिवर्तन होने से की जाती है। सूखने पर चुरुट-तम्बाकू की पत्तियां पीलापन लिए हुए हरे रंग की हो जाती हैं और मुरझाने लगती हैं, बीड़ी के तम्बाकू की पत्तियां सूखने पर हरापन लिए हुए पीले रंग में बदल जाती हैं और उन पर लाल भूरे रंग की चमक आ जाती है। हुक्का के तम्बाकू की पत्तियां सूखने पर हल्के पीले रंग में बदल जाती हैं।

नारियल के बगीचे तटवर्ती क्षेत्रों में ही अधिक मिलते हैं

सुपारी का बगीचा

पत्तियों का उपचार : कटाई के बाद पत्तियों को आवश्यक रंग और गंध देने के अनुसार सुखाया जाता है। वर्जिनिया तम्बाकू को चिमनी लगे भंडार में सुखाया जाता है, जिसमें चिमनी के द्वारा गर्म हवा पहुंचायी जाती है। पत्तियों को सुखाने के लिए बांस के डंडों पर सूतली से बांधकर लटका दिया जाता है। आमतौर पर बीड़ी के तम्बाकू को ज़मीन पर फैलाकर ही सुखाया जाता है। इस विधि में पौधों को सुबह के समय भूमि पर फैला दिया जाता है और शाम को ढेर में इकट्टा कर दिया जाता है। ढेर की पत्तियों को उलटने पलटने से उनमें अधिक गर्मी पैदा नहीं हो पाती। बम्बई में तम्बाकू की पत्तियों को रैकों पर रखकर उपचारित किया जाता है। करीब-करीब सभी जगहों में चुरुट का तम्बाकू रैकों पर रखकर सुखाया जाता है। मद्रास, बम्बई और पंजाब में खाने के और हुक्के के तम्बाकू की पत्तियां गड्ढों में रखकर उपचारित की जाती है।

उपज : तम्बाकू की पत्तियों की औसत उपज लगभग 550 पौंड प्रति एकड़ होती है। सिगरेट, बीड़ी, चुरुट, खाने वाले और टैबैकम और रस्टिका प्रकार के हुक्के के तम्बाकू की पैदावार क्रमशः 500 से 900 पौंड, 1,200 से 1,500 पौंड, 1,000 से 1,500 पौंड, 800 से 1,000 पौंड और 1,200 से 1,600 पौंड प्रति एकड़ तक होती है।

वनस्पति शास्त्र की दृष्टि से तम्बाकू की लगभग 60 प्रामाणिक जातियां हैं किन्तु इनमें से केवल निकोटियाना टेबेकम (Nicotiana Tabacum) और निकोटियाना रस्टिका (Nicotiana Rustica) नामक दो किस्में व्यापक रूप में उगाई जाती हैं। भारत में ये दोनों प्रजाति चलती हैं। यहां पर टेबेकम की फसल देश के सभी भागों में उगाई जाती है, जबकि रस्टिका ठंडे मौसम में अच्छी पनपती है।

टैबेकम के पौधे ऊंचे और पत्तियां लम्बी तथा चौड़ी होती है। उसकी सिगरेट, चुरुट, बीड़ी, हुक्के का तम्बाकू, खाने की सुर्ती और सुंघनी तैयार करने के लिए अनेक किस्में विकसित की जा चुकी हैं।

रस्टिका के पौधे छोटे होते हैं, इसकी पत्तियां गोल सिकुड़ी हुई होती हैं। रस्टिका की पत्तियाँ हुक्के के तम्बाकू, खाने की सुर्ती और सुंघनी तैयार करने के काम आती है।

सिगरेट : (1) हैरीसन स्पेशल-गुंटूर, किस्तना और गोदावरी के पूर्वी तथा पश्चिमी जिले (आन्ध्र प्रदेश) के लिए उपयुक्त है। चैथेम नाम की सुधरी किस्म आन्ध्र प्रदेश के लिए है।

बीड़ी : (1) केल्यू-49 चरोतर (बम्बई) के लिए ; (2) केल्यू-20 चरोतर (बम्बई) के लिए (3) सूरती-20 निपानी (बम्बई) के लिए उपयुक्त है।

चुरुट : लंका-27 गोदावरी के आसपास के क्षेत्र के लिए उपयुक्त है।

खाने वाला (1) एन० पी० 70 हैवैकम (बिहार) (2) एन० पी० 18 (रस्टीका) (3) पिल्यू-19 चरोतर (बम्बई) के लिए और हुक्का तम्बाकू की एन० पी० 18 (रस्टीका) बिहार के लिए उपयुक्त पाई गई हैं।

बागानी फसलें

इस शीर्षक के अन्तर्गत आमतौर पर वे फसलें आती हैं जिनको बड़े पैमाने पर बागान लगाकर उगाया जाता है। ये आमतौर पर व्यापारी फसलें होती हैं और इनके निर्यात से देश को काफी

विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। सुपारी, काफी, चाय, रबर, सिनकोना, नारियल और काजू इसी प्रकार की फसलें हैं। नारियल की खेती तिलहन फसलों में और काजू की खेती का विवरण आगे फलदार फसलों वाले अध्याय में दिया गया है। यहाँ पर सुपारी, काफी, चाय और रबर की खेती का संक्षिप्त वर्णन ही दिया गया है।

चाय (*Camelia thea*)

चाय पैदा करने वाले देशों में भारत का प्रथम स्थान है। संसार में जितनी चाय पैदा होती है, उसकी लगभग आधी मात्रा हमारा देश पैदा करता है। इसलिये चाय के जितने बगीचे हमारे देश में हैं, उतने बगीचे संसार के अन्य किसी देश में नहीं पाये जाते।

1958 में संसार में 15 लाख 72 हजार पौंड चाय इस्तेमाल की गयी थी। इसमें भारत ने 7 लाख 75 हजार पौंड चाय 7,273 बगीचों द्वारा पैदा की। 60 हजार पौंड चाय भारत ने 27 से भी अधिक देशों को भेजी। इसका मूल्य 136.5 करोड़ रुपये होता है। चाय उद्योग में 113 करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है, इसके कारण 20 लाख आदमियों को रोजी मिलती है। सन् 1900 ई० में चाय की प्रति एकड़ उपज केवल 384 पौंड थी। सन् 1956-57 में बढ़कर यह 880 पौंड प्रति एकड़ हो गई है। इसका मुख्य कारण इसकी खेती में वैज्ञानिक तरीकों का इस्तेमाल होना है।

चाय एक सदाबहार झाड़ी है। इसकी पत्तियों में टैनीन और कैफीन होता है। कैफीन अंश के ही कारण चाय आज संसार का लोकप्रिय पेय बन गया है। चाय का पौधा असम और उससे मिले हुए बर्मी क्षेत्र का निवासी समझा जाता है, क्योंकि इन दोनों

क्षेत्रों में चाय जंगली रूप में उगती है। देश के कुल चाय उत्पादन का 5/6 भाग उत्तरी भारत में पैदा होता है। यहाँ पर चाय का क्षेत्रफल 7·8 लाख एकड़ है जिससे 65 करोड़ पौंड चाय प्रतिवर्ष पैदा होती है। उत्तरी भारत में असम घाटी, सुरमा, दोआर की तराई, त्रिपुरा घाटी, दार्जिलिंग और जलपाईगुड़ी के जिले चाय की खेती के लिए प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त रांची, देहरादून, कांगड़ा और कुमाऊं जिले में भी चाय की खेती होती है।

दक्षिण भारत में चाय की खेती पश्चिमी घाट के पर्वतीय क्षेत्रों में होती है : इनमें केरल राज्य और दक्षिणी मलावार, कोयम्बटूर और नीलगिरी जिले प्रमुख हैं।

चाय की मुख्य किस्में असम और चीन हैं। असम किस्म का पौधा लम्बा और मुलायम पत्तियों वाला होता है और यह 5,000 फुट ऊँचे स्थानों पर उगाया जाता है। चीन किस्म का पौधा छोटा होता है यह समुद्र सतह से 8,000 फुट तक की ऊँचाई पर उगाया जा सकता है।

जलवायु : चाय गर्म व तर जलवायु में जहाँ वर्षा का वार्षिक औसत 60-100 इंच तक हो तथा 50-100° फै० औसत ताप हो—खूब फलती-फूलती है। कहते हैं अधिक ऊँचाई पर उगी चाय की किस्म अधिक अच्छी होती है और वह काफी समय तक रखी जा सकती है। किन्तु ऊँचाइयों पर चाय की उपज कुछ कम होती है। अच्छी चाय की पत्ती लम्बी और बढ़िया होती है। चाय के पौधे पर पाले का बुरा असर पड़ता है।

मिट्टी : चाय के लिए गहरी दुमट या ह्यूमस वाली जंगलों की मिट्टी बहुत उपयुक्त रहती हैं। भारत के जिन क्षेत्रों में चाय को

खेती की जाती है वहाँ की मिट्टियों में चूना अंश कम पाया जाता है इसलिये ये मिट्टियाँ कुछ तेजाबी होती हैं। चाय वाली मिट्टी की भूगत-तल कठोर नहीं होनी चाहिये।

चाय बागान की तैयारी : जहां पर चाय के बागान लगाने हों वहाँ की भूमि पर खड़े लगभग सब वृक्ष हटा दिये जाते हैं, केवल कुछ चुने हुए छायादार पेड़ों को चाय के पौधों को छाया प्रदान करने के लिए छोड़ दिया जाता है। सब प्रकार के जीवांश पदार्थों को मिट्टी में मिला देते हैं। वातरोधी रोग के लिये बलूत के भारी वृक्ष बगीचे के चारों ओर लगाये जाते हैं। पहाड़ियों में बगीचों को सीढ़ीदार बनाया जाता है और उसमें जल निकास का आवश्यक प्रबन्ध किया जाता है। मिट्टी का कटाव रोकने के लिये आवश्यक सावधानी बरती जा रही है। 12 इंच से 18 इंच तक गहरे, 9 इंच व्यास के गड्ढे, 4 से 5 फुट के फासले पर सीधी कतारों में खोदे जाते हैं। गड्ढों का क्रम या तो वर्गाकार या आयताकार रखा जाता है। चाय की पौध रोपने से पहले इन गड्ढों में जीवांशधारी मिट्टी भर दी जाती है। चाय की झाड़ियों को छाया प्रदान करने के लिए अल्बीजिया, डलबरजिया ऐसामिका, डेरस रोबस्टा, ल्यूसीना ग्लोका और गरेविलिया रोबस्टा इत्यादि के पेड़ 40 से 50 फुट की दूरी पर लगाये जाते हैं। चाय को आमतौर पर बीज बोकर उगाया जाता है अधिक उपज और ऊँची किस्म वाली चाय की पौद रोपने से- तैयार पौधे से अधिक उपज मिलती है। यदि पौद कली बिठाकर, कलम चढ़ाकर तैयार की जाती है तो भी पौधा सफलता से उगता है।

चाय के बीज पहले पौदशालाओं में उगाये जाते हैं इसके बाद इन पौधों को जंगली पौदशालाओं या टोकरी वाली पौदशाला में

रोप दिया जाता है। टोकरी वाली पौदशाला में पौधा जब टोकरी में आधे साल से डेढ़ साल बड़ा हो जाता है या जंगली पौदशाला में डेढ़ से दो वर्ष बड़ा हो जाता है तो उनको अप्रैल-मई या सितम्बर-अक्तूबर में ऊपर तैयार किये गये गड्ढों में लगा देते हैं। जो पौधे अच्छी तरह नहीं पनप पाते या नष्ट हो जाते हैं उनके स्थान पर नयी पौदें लगा दी जाती हैं। 24-30 साल पुरानी झाड़ियों को उखाड़ कर फेंक देते हैं और उनकी जगह पर नयी-नयी झाड़ियां लगा दी जाती हैं। चाय के बगीचों की बरसात के महीने में 3 से 4 बार निराई-गुड़ाई की जाती है और खरपतवार निकाले जाते हैं। चाय की जड़ों के शाखाओं में लगी काई छुटा दी जाती है जिससे उनमें छिपी कीट व्याधियाँ पौधों को कुछ नुकसान न पहुँचा सके। छाया देने वाले वृक्षों की कटाई इस दृष्टि से की जाती है कि वे अधिक क्षेत्र में छाया प्रदान कर सकें।

कटाई-छटाई : चाय की झाड़ियों की कटाई-छँटाई नियमित रूप से की जाती है। झाड़ी को धरातल से 3-4 फुट की ऊंचाई पर काटा जाता है।

रोपाई के एक वर्ष बाद, जबकि पौधा $1\frac{1}{2}$ फुट के लगभग ऊंचा हो जाता है तो झाड़ी का मुख्य तना भूमि से कुछ इंच ऊपर से काट दिया जाता है। पौधे के दायें-बायें, आगे-पीछे की नई वढ़वार को दोबारा कुछ ऊंचाई से छांटा जाता है। यह क्रिया बराबर दोहराई जाती है। चार या पाँच वर्ष में पौधा बढ़ कर $1\frac{1}{2}$–2 फुट ऊंची झाड़ी बन जाता है और इसकी पत्तियां फसल के लिए तैयार हो जाती हैं। झाड़ी के बीच में उगी सीधी सभी शाखाओं को हटा देना चाहिए। कटाइयों का एक चक्र जब पूरा हो जाता है तो झाड़ी को

दोबारा पहली कटाई से एक इंच नीचे काटा जाता है । इससे झाड़ी का नवीन विकास होता है और उससे पत्तियों की अच्छी उपज मिलती है ।

खाद : पत्तियों की अधिक उपज प्राप्त करने के लिए नाइट्रोजनधारी उर्वरक जरूरी होते हैं । हर वर्ष अधिक मात्रा में कम्पोस्ट देने के बावजूद भी धरती में नाइट्रोजन की मात्रा बढ़ाने के लिए फलीदार फसलें उगायी जाती हैं, जिनकी पत्तियां बाद में हरी खाद के रूप में दी जाती हैं । उर्वरकों का उपयोग झाड़ियों की छँटाई हो जाने के बाद करना चाहिए ।

पत्तियों की चुनाई (चुटाई) : भारत में चाय की पत्तियां हाथों से चुनी जाती हैं और यह काम अधिकतर नारियाँ करती हैं ये अपने साथ बांस की टोकरियां रखती हैं जिनमें पत्तियाँ चूंट-चूंट कर रखी जाती हैं । पर रूस में चाय की पत्तियां चुनने या चूंटने की एक ऐसी मशीन बनाई गई है, जो एक घंटे में 503 किलोग्राम पत्तियां चूंट लेती है, इसकी कार्यक्षमता 138 व्यक्तियों के बराबर है जो एक घंटे में इतनी ही पत्तियाँ चुन पाते हैं । कहते हैं कि इस मशीनी चुटाई में पत्तियों को कोई नुकसान नहीं पहुंचता । इस मशीन की एक कमी यह है कि इसमें कुछ चुनने वाली कोपलें झाड़ी पर ही रह जाती हैं । टोकलाई के चाय-परीक्षण-केन्द्र में पत्ती चूंटने के एक ऐसे यन्त्र का विकास किया गया है, जो हाथों से चलता है ।

पत्तियों को हाथ से चूँटना अपने में एक कला है । चुनने का सही तरीका यह है कि एक बार में टहनी में लगी दो पत्तियां और उनके बीच की कोंपल को तोड़ा जाये । यदि चुनाई में इससे कम पत्तियां तोड़ी जाती हैं तो वह "महीन चुनाई"

कहलाती है और यदि इससे अधिक पत्तियां ली जाती है तो उसे "मोटी चुनाई" कहते हैं।

चुनाई के तरीकों पर चाय की अच्छी या बढ़िया किस्म निर्भर करती है। पत्तियों का कमावक अंश आयु के साथ घटता जाता है और कम कमावक अंश वाली पत्तियों से तैयार चाय घटिया होती है।

मोटी चुनाई से पत्तियों की मात्रा और चुनने वाले को मजदूरी तो अधिक मिलती है पर इससे चाय घटिया किस्म की बनती है। देश के अलग-अलग क्षेत्रों में चुनाई के मौसम भी अलग-अलग हैं। उत्तरी भारत के मैदानी इलाकों में चाय के मौसम में पत्तियों की चुनाई हर 7वें या 8वें दिन की जाती है, जबकि पहाड़ी इलाकों में, जहाँ पर कि पत्तियों के बढ़ने की गति धीमी होती है, चुनाई 12वें या 15वें दिन करनी पड़ती है। दक्षिणी भारत में चुनाई साल भर बराबर चलती रहती है। पर उत्तरी भारत में जाड़ों में चुनाई नहीं की जाती।

पत्तियों की उपज : एक झाड़ी से एक वर्ष में दो पौंड हरी पत्तियाँ उतरती हैं। हिसाब लगाने पर इस तरह एक एकड़ से एक साल में 1,040 पौंड तैयार चाय प्राप्त होती है। ऊंचाई पर स्थित चाय के बगीचों में इसके मुकाबले में उपज कुछ कम होती है। उत्तरी पूर्वी भारत में प्रति वर्ष प्रति एकड़ लगभग 400 पौंड चाय तैयार होती है। यानि एक एकड़ से यहाँ 2,000 पौंड हरी पत्तियाँ प्रति वर्ष उतरती हैं। पत्तियों की इतनी मात्रा बिना खाद दिये उन बगीचों से प्राप्त हो जाती है, जिनकी निराई बराबर होती रहती है और जिन बगीचों में छायादार पेड़ नहीं होते। ऐसे बगीचों की

अधिक देखभाल नहीं की जाती और इनकी जमीन को उपजाऊ रखने पर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। चाय की इससे अधिक मात्रा प्रति एकड़ प्राप्त करने के लिये बगीचों को खाद देना जरूरी होता है। अनुकूलतम जलवायु, उपजाऊ भूमि व ठीक व्यवस्था से एक बगीचे से, प्रति झाड़ी, साढ़े चार पौंड हरी पत्तियाँ प्रति वर्ष तक ली जा सकती हैं।

पत्तियों का कुम्हलाना : चाय की पत्तियों को आंशिक रूप से सुखाने का तरीका ही पत्तियों को कुम्हलाना कहलाता है। इससे तैयार पत्ती के गुण और किस्म सुधर जाती है। बांस की टोकरियों में रखी चुनी हुई हरी पत्तियाँ पहले तोली जाती हैं। इसके बाद ट्रेक्टरों और ट्रेलरों में भर कर उनको चाय तैयार करने के लिये कारखानों में लाया जाता है। यहाँ पर इनको पहले फैला कर कुम्हलाया जाता है। इसके लिए जाली या मढ़े हुये टाट काम में लाये जाते हैं, जो सायबानों में रखे रहते हैं। कुम्हलाने के लिये बांसों के टांड या रैक भी इस्तेमाल किये जाते हैं। तख्तों, टांडो या रैकों पर इनको झीना करके समान रूप में फैला दिया जाता है। यहाँ पर ये करीब 18 घन्टे तक रखी जाती हैं। इस अर्से में ये काफी कुम्हला जाती हैं और इनकी नमी काफी (लगभग 40 प्रतिशत अंश) कम हो जाती है।

पत्तियों का ऐंठना : कुम्हलाई पत्तियों को एक विशेष प्रकार के यंत्र में से गुजारा जाता है, जो पत्ती को बेलकर ऐंठ देती है। इससे पत्ती के कोष कुचल और टूट जाते हैं, इन कोषों में कुछ विशेष प्रकार के रस और प्रकिण्व पदार्थ (एन्ज़ाइम) बंद होते हैं। कुचलने पर वे बाहर निकल आते हैं चाय उद्योग में इस क्रिया को 'फफदना'

(फारमैंटेशन) कहते हैं। इससे पत्ती का रंग बदलना शुरू हो जाता है और उसमें से तैयार चाय की गंध आने लगती है। पत्ती को ऐंठन देने के लिये जो यन्त्र काम में लाया जाता है उसको 'टी रोलिंग' मशीन कहते हैं।

पहली बार पत्तियों को हल्का ऐंठा जाता है और ऐंठनें की अवधि 10 से 20 मिनट रखी जाती है। अब इसे छान लिया जाता है। छानस में बची पत्तियों के मोटे भाग को दोबारा खूब बेलते हैं। आमतौर पर कारखानों में इन अंशों को तीसरी बार बेल कर ऐंठन नहीं दी जाती। पर जहाँ कहीं भी तीसरी बार ऐंठने का रिवाज है वहां इनको 10 मिनट से अधिक नहीं बेलते। अलग अलग कारखानों में कुचलने का समय अलग अलग होता है।

चाय का फफदना : ऐँठी हुई पत्तियों के मोटे और महीन अंशों को "फफदावक कक्ष" में ले जाया जाता है। पत्तियों का रस हवा के संयोग से ऑक्सीकृत होने लगता है। चाय उद्योग में इसी क्रिया को 'फफदना' कहते हैं। यहां पर इनको सीमेंट के साफ फर्श, प्लास्टिक या एल्युमीनियम के बड़े बड़े तख्तों या इसी तरह के दूसरे चबूतरों पर फैला देते हैं। फैलाने में मौसम और पत्ती की दशा के अनुरूप ढेर की मोटाई 1 से 4 इंच तक रखी जाती है और इसको 2 से 6 घंटे तक फफदने के लिए छोड़ दिया जाता है। इसी क्रिया में पत्तियों का हरा रंग बदल कर चमकीला ताँबे जैसा लाल हो जाता है। यह "फफद क्रिया" नमी व ताप नियंत्रित कमरों में की जाती है।

ऐंठी हुई पत्तियां "रोल ब्रेकर" नाम के यंत्र में से गुजारी जाती हैं। असल में ये बड़े बड़े छेदों वाली छलनियां ही होती हैं, जो

यंत्रों द्वारा चलती हैं। इनसे निकली पत्ती के महीन अंश फफदने के लिये अलग कर लिए जाते हैं और छलनी में बची छानस या मोटे अंश को फिर कुचला जाता है।

सुखाना : अब पत्ती को गर्मी देकर सुखाया जाता है। चाय का सुखाना एक सतत क्रिया है जो स्वतः चालित यंत्रों द्वारा बराबर जारी रहती है। इसके लिये फफदी हुई पत्ती को गर्म हवा की धारा के सम्पर्क में लाया जाता है। हवा का ताप 130 डि० फै० से कम नहीं रखते। इसके बाद जैसे जैसे हवा यंत्र में से गुजरती जाती है, उसका ताप बढ़ता जाता है और यंत्र से निकलते समय उसका ताप 190 डि० फै० हो जाता है। सुखाने की क्रिया में आमतौर पर 30 से 40 मिनट लगते हैं और पके हुए माल में 3 से 4 प्रतिशत नमी रह जाती है।

काफी (*Coffea* Spp.)

काफी भी चाय की तरह ही एक लोकप्रिय पेय है। यह मूल रूप में अफ्रीका और एशिया के गर्म महाद्वीपों की वनस्पति है। पर अब यह अनेक अन्य गर्म देशों में पैदा होने लगी है। यहाँ तक कि दक्षिणी अमेरिका के ब्राजील देश में संसार को निर्यात की जाने-उपज की वाली कुल मात्रा का आधे से अधिक भाग पैदा किया जाता है। दृष्टि से भारत का काफी पैदा करने वाले देशों में सबसे नीचा स्थान है, पर उत्तमता की दृष्टि से वह सबसे ऊंची मानी जाती है और काफी ऊंची कीमत से बिकती है।

काफी के बीजों को भून कर और पीसकर उबलते पानी में मिलाने से एक सुगंधित और हल्का नशीला पेय तैयार होता है। इसे

आमतौर पर दक्षिणी भारत में मैसूर स्थित पश्चिमी घाट की निचली पहाड़ियों, मद्रास स्थित पूर्वी घाट की निचली पहाड़ियों तथा केरल में उगाया जाता है।

काफी की अरेबिका, रोबस्टा और लिबैरिका नामक तीन किस्मों की खेती आमतौर पर की जाती है। अरेबिका की फसल के अधीन सबसे अधिक क्षेत्रफल है और वह 2,500 से 5,00 फुट तक की ऊंचाइयों के लिए विशेषतः उपयुक्त है। रोबस्टा एक मजबूत किस्म है जिसे केरल की नीची भूमि पर उगाया जाता है और जिसके फल छोटे होते हैं। लिबोरिया के पौधे मजबूत और फल बड़े होने पर भी उसका महत्व अधिक नहीं है।

जलवायु : आर्द्र जलवायु समान 80″ अथवा अधिक वर्षा 55° से 90° फा० काफी के लिए उपयुक्त पाया गया है। इसके लिए पाला घातक है। गर्म प्रदेशों में काफी के पौदों के लिए छाया आवश्यक है। फसल अच्छी तरह पक सके इसके लिए दिसम्बर और जनवरी में सूखा मौसम जरूरी है।

भूमि : गहरी, उर्वरा, जल-निकासी वाली सम्पन्न वन प्रांत की दुमट भूमि पर जिसका ढलान उत्तर या पूर्व में हो, काफी की अच्छी फसल होती है।

कृषि क्रियायें : जहाँ पर काफी के बगीचे लगाते हैं वहाँ पर नीचे की सारी घासपात और अनावश्यक पेड़ों को काट दिया जाता है। ढलवां भूमि पर सीढ़ीदार खेत और मेड़ों की नालियाँ बनाई जाती हैं। जनवरी से अप्रैल के बीच पेड़ों के किनारे 18″ × 18″ और 18″ अथवा 24″ गहरे गड्ढे खोदे जाते हैं। इस की

कतारों की आपसी दूरी और कतारों में गड्ढों की दूरी अबेरिका किस्म के लिए 5 से 6 फुट और रोबस्टा के लिए 8 से 12 फुट होती है।

भारतीय जलवायु में गर्मी और भारी वर्षा से बचाव के लिए पौद लगाने से एक वर्ष पहले छायादार वृक्षों का उगाया जाना आवश्यक है। कई बार इन पेड़ों को काफी के साथ साथ उगाया जाता है। इन वृक्षों के ऐरीथ्रीना लिथोसपरमा, ग्रेविलिया रोबस्टा (सिलवर ओक), आर्टोकारपस इन्टीग्रीफोलियस (जैक), टरमीनालिया बेलेरिका और अलबीजिया लेबेक प्रमुख हैं। इन वृक्षों से पत्तियों का अच्छा पलवार भी प्राप्त होता है।

कलम पौदे की अपेक्षा बीजों को बोकर बगीचे लगाना अधिक ठीक रहता है। कुछ अधिक उपजाऊ चुनिन्दा झाड़ियों जैसे कि केन्ट किस्म की झाड़ियों के पके लाल फलों से गूदा निकाल कर बीज अलग कर लिये जाते हैं। इस प्रकार के निकाले गए स्वस्थ और एक रूपी बीजों को 6" इंच ऊंचे तथा 3" चौड़े और 20 से 30 फुट लम्बे खाद वाले बगीचों में 2 से 3 इंच की परस्पर दूरी पर जनवरी से मार्च के बीच बोया जाता है। बीजों की पत्तियों की खाद अथवा कम्पोस्ट से ढक कर उन पर घासपात की तह बिछा दी जाती है और पहले सप्ताह में दिन में दो बार और आगे चल कर प्रति दिन एक बार पानी दिया जाता है 6 से 8 सप्ताह में बीज अंकुरित हो जाते हैं। फिर इस की जगह छप्पर कर दिया जाता है। मार्च से मई के बीच जब पौदे 2" इंच बड़े हो जाते हैं तो दूसरी ऊंची उठी हुई, छायादार पौदशाला में उनकी पौद लगाई जाती है अथवा सुविधाजनक आकार की टोकरियां में वन की मिट्टी और गोबर भर कर अलग अलग छाया में उगाया

जाता है। इन पौधों की व्यवस्थित ढंग से सिंचाई और निराई होती है। जब टोकरियों के पौदे एक वर्ष बड़े हो जाते हैं तो जन से सितम्बर के बीच वर्षाकाल में उनको रोप दिया जाता है। सुकुमार पौदों को सहारे के लिए पतली खपच्चियों से बांध दिया जाता है या किसी चीज से ढक दिया जाता है। कतारों के बीच में हरी खाद के लिए क्रोटेलेरिया स्ट्रीएटा, टेफरोसिया केनडिड और इंडिगोफेरा स्पेसिओसा जैसी फसल कतारों में बोई जाती हैं।

प्रतिवर्ष 5 से 10 टन गोबर की खाद या कम्पोस्ट के अतिरिक्त प्रति एकड़ 30 से 40 पौंड नाइट्रोजन, 40-60 पौंड सुपरफास्फेट और 60 से 80 पौंड पोटाश का प्रयोग वर्षाकाल में किया जाता है। कई बागानों में प्रत्येक चार या पांच वर्ष बाद एक टन प्रति एकड़ के हिसाब से चूना भी दिया जाता है।

बुआई के पहले साल गहरी खुदाई और निराई आवश्यकतानुसार कई बार की जाती है। फिर वर्ष में दो बार फरवरी-मार्च और सितम्बर नवम्बर में अच्छी तरह निराई की जाती है।

जब पौधे लगभग 2½ फुट की ऊँचाई प्राप्त कर लेते हैं तो मुख्य तने की प्राथमिक शाखाओं के सिरों को छांट दिया जाता है ताकि वे लम्बे बढ़ सकें और इनमें दूसरी शाखाएं निकल सकें। फिर जब पौदे लगभग पांच फुट के हो जाते हैं तो उनकी फिर कटाई छंटाई की जाती है।

काफी की झाड़ियों की कटाई छंटाई भी चाय की तरह उसी तरह की जाती है जिससे इनके ऊपर का भाग गोल मेज की तरह का आकार ले सके।

फसल का उपचार : काफी की झाड़ी पर तीसरे चौथे वर्ष फल आने लगते हैं और 50 वर्ष तक आते रहते हैं। मार्च अप्रैल की वर्षा पर उपज काफी निर्भर करती है। इसके फल 8-9 महीने में पक जाते हैं। अरेबिका किस्म के फल अक्टूबर-नवम्बर में तोड़े जाते हैं और रोबस्टा के जनवरी मार्च में। मैसूर और कुर्ग में एक फसल में 3-4 बार और अधिक ऊंचाइयों पर 12 बार फल चुने जाते हैं।

काफी के बीजों को उपचारित करने के लिए गीली और सूखी विधियां काम में आती हैं। सूखी विधि में फलों को धूप में सुखाया जाता है। उनसे बीज निकाल कर उनको कूटा जाता है। गीली विधि में फल से गूदा निकालना, उसको फफदाना, धोना, सुखाना और बीजों को निकाला जाता है। गीली विधि बड़े बगीचों में काम आती है जिसमें यंत्रों की आवश्यकता पड़ती है। सूखे गूदे रहित बीज का छिलका उतारा जाता है और उनको विभिन्न किस्मों में वर्गीकृत किया जाता है।

काफी की अरेबिका किस्म की उपज 200-300 पौंड प्रति एकड़ होती है। रोबस्टा किस्म से उपज लगभग दुगनी मिलती है। काफी के 5-4 पौंड फलों से 1 पौंड उपचारित काफी प्राप्त होती है। इसके बीजों में 3 प्रतिशत तक कैफीन पायी जाती है।

कोको (*Theobroma cacao*)

कोको से भी चाय और काफी की तरह का एक पेय तैयार होता है, परन्तु अभी तक भारत में इसकी खेती बड़े पैमाने पर नहीं फैली है। यद्यपि भारत में 40 वर्ष पहले ही इसकी खेती आरम्भ हो

गई थी। अभी तक इसकी खेती दक्षिणी भारत के नीलगिरि पर्वत की निचले पहाड़ी क्षेत्र में ही होती है। पर यहाँ पैदा होने वाली कोको बहुत बढ़िया किस्म की मानी जाती है।

कोको का प्रयोग चौकलेट, कोको-पाउडर, कोको बटर और अन्य पदार्थों के बनाने में किया जाता है। फलियों के छिलके पशु आहार अथवा खाद के काम में लाए जाते हैं।

जलवायु और भूमि : कोको की फसल के लिए 60-80 इंच वर्षा प्रति वर्ष वाली नम और गरम जलवायु चाहिए। सतह से 2,000 फुट की ऊँचाई तक इसकी फसल पैदा की जा सकती है। ह्यूमस और जल-निकास वाली जंगल की नम अछूती मिट्टी कोको की खेती के लिए उपयुक्त होती है।

बुआई और कृषि क्रियायें : जंगल में जिस स्थान पर कोको के बगीच लगाते हैं, वहाँ वे छायाहीन वृक्ष और झाड़ियाँ निकाल दी जाती हैं। आवश्यक हो तो फलीदार व छायादार पेड़ यहाँ उगाये जाते हैं। ज़मीन की अच्छी खुदाई की जाती है। अब 15 फुट के अन्तर पर $2' \times 2' \times 2'$ गड्ढे खोदे जाते हैं। इसके बगीचे बीज बोकर भी उगाए जा सकते हैं और पौधों को रोपकर भी वृक्ष पैदा किये जा सकते हैं। अन्य देशों में कोको की कलम बांध कर चश्मा चढ़ाकर और दाब कलम लगाकर पौद प्राप्त की जाती है।

दक्षिणी-पश्चिमी मानसून आरम्भ होते ही एक वर्ष की आयु की पौद रोपी जाती है और घास-फूस की अस्थायी छत से उन्हें छाया दी जाती है। पौधों को साया देने के लिए बाद में इसकी कतारों के बीच केला अथवा ग्लिरिसीडिया उगाया जाता है। जमीन की

निराई और गुड़ाई प्रति वर्ष 4 या 5 बार की जाती है। धूप आने और खरपतवार की रोकथाम के लिये कई बार छायादार पेड़ों की कुछ कटाई कर दी जाती है।

फसल कटाई : पेड़ के नंगे तने और बड़ी शाखाओं पर एक प्रकार के गुदगुदे स्थल से छोटे-छोटे फूल एक के बाद एक खिलते हैं। और इनमें से ही कई फलों का रूप धारण कर लेते हैं। फलों का बाहरी छिलका सख्त होता है और उसके गूदे में 20-30 बीज होते हैं। यद्यपि बुआई के तीसरे वर्ष ही फल मिलने लगता है। फिर भी 6-10 वर्ष बड़े वृक्ष से सबसे अधिक फल प्राप्त होता है। 30 वर्ष के बाद पैदावार कम होने लगती है। सुना जाता है अन्य देशों में कोको के पेड़ 80-100 वर्ष तक जीवित रहते हैं। इन फलों को वर्ष में दो बार तोड़ा जाता है। (1) अप्रैल-मई में और (2) नवम्बर-दिसम्बर में। गुदगुदे स्थल को बिना क्षति पहुँचाये केवल पूरी तरह से पके लाल फल ही चुने जाते हैं।

बीज उपचार : फलों से बीज निकालकर उनको विशेष प्रकार के बने सन्दूकों में फफदने के लिये छोड़ दिया जाता है। इस फफद क्रिया के कारण बीजों का कसैला स्वाद नष्ट हो जाता है और उनमें एक उत्तेजक पदार्थ थियोब्रोमीन पैदा हो जाता है। फफद क्रिया पूरी होने पर दानों को धूप में सुखाया जाता है। कई बार बिना फफद क्रिया के ही उन्हें सूखाने रख दिया जाता है।

इनकी औसत पैदावार लगभग 400 पौंड सूखे दाने प्रति एकड़ होती हैं। बीज का छिलका उतारने के बाद गिरी को दबा कर तेल और चर्बी निकाली जाती है जिससे कोको बनता है। इसकी खली से थियोब्रोमीन क्षाराद्र मुक्त किया जाता है।

किस्में : फोरेस्टेरों और क्रियोली नामक दो किस्में प्रचलित हैं। पहली किस्म ऊंचे दर्जे को नहीं होती फिर भी संसार की 95 प्रतिशत मांग इसीसे पूरी की जाती है। दूसरी किस्म ऊँचे दर्जे की होती है। जो आमतौर पर नीलगिरि पर्वत में उगायी जाती है।

सुपारी (*Areca Catechu*)

अधिकतर बंगाल, असम, दक्षिण-पश्चिमी तट और मैसूर के कुछ इलाकों में सुपारी के पेड़ लगाये जाते हैं। यह उष्ण जलवायु का एक सुकुमार वृक्ष है जो 70 से 80 फुट तक ऊंचा होता है और 60 से 100 वर्ष तक जीवित रहता है।

जलवायु : अधिक और समान, वर्षा तथा अधिक नमी वाले भू-भागों में सुपारी का पेड़ अच्छी तरह पनपता है, परन्तु सूखे इलाकों में भी, यदि वर्षाहीन महीनों में सिंचाई की समुचित व्यवस्था हो तो सुपारी के पेड़ अच्छी तरह उगते हैं। सुपारी के पौधों के लिये 60° से 100° फै० का तापमान उपयुक्त रहता है। इसकी खेती समुद्र सतह से लेकर 3,000 फुट की ऊंचाई तक की जाती है। आमतौर पर सुपारी के पेड़ आम, कटहल जैसे छायादार पेड़ों के बीच में उगाये जाते हैं।

मिट्टी : सुपारी के लिए दक्षिण बम्बई, तटवर्ती मैसूर और केरल की लाल, उपयुक्त जल निकास वाली मिट्टी, मैसूर के भीतरी भाग की कुछ काली, उपजाऊ, मटियार दुमट और बंगालव असम की जलोढ़ दुमट मिट्टियाँ उपयुक्त पाई गई हैं।

रोपण : सुपारी के पौधों की रोपाई सिंचाई की नालियों के किनारे 6′ × 6′ अथवा 10′ × 8′ अथवा 10′ × 10′ की दूरी पर

दो फीट लम्बे, दो फीट चौड़े और दो फीट गहरे गड्ढों में की जाती है। सुपारी की बुआई बीजों से की जाती है या पौधशाला में बो कर उनकी पौध लगायी जाती है। जब पौधे दो या तीन वर्ष बड़ी हो जाती हैं तो उनको रोप दिया जाता है। पौध उगाने के लिये 30 वर्ष से अधिक आयु के स्वास्थ्य औरु अधिक फल देने वाले वृक्षों से फरवरी-मार्च में बीजों के लिए फल एकत्रित किये जाते हैं। बीज के रूप में काम में लाई जाने वाली सुपारियां तीन से पांच दिन तक छाया में सुखाई जाती हैं। सुपारी सुखाने से पूर्व उनपर गोबर और लाल मिट्टी का लेप किया जाता है। पौधशाला में चार से नौ इंच की दूरी पर ऊंची उठी हुई भूमि में पहले से तैयार गड्ढों में मार्च-अप्रैल के महीने में बुआई की जाती है।

कृषि क्रियायें : उत्तर भारत में प्राय: खाद नहीं दी जाती। दक्षिण भारत के अधिकांश भागों में पौदों के नीचे खाइयां खोद कर प्रति एकड़ 5 बैलगाड़ी हरी पत्तियां और 10 बैलगाड़ी गोबर की खाद व राख दी जाती है। कई भू भागों में सहायक खाद के रूप में 200 पौंड मूँगफली की खली, 80 पौंड अमोनियम सलफेट, 200 पौंड सुपरफास्फेट और 300 पौंड पोटेशियम सलफेट प्रति एकड़ उर्वरक देने की सलाह दी जाती है। बागों की गुड़ाई और निराई प्राय: एक वर्ष में दो बार की जाती है, पहली बार दक्षिण पश्चिम मानसून के आरम्भ में और दूसरी बार उत्तर पूर्वी वर्षा के अन्त में।

फसल : रोपण के 8 से 12 वर्ष बाद पौदा फल देने लगता है, पूरी पैदावार लगभग 30 वर्ष बाद आरम्भ होती है और फिर 30 से 50 वर्ष तक चलती रहती है।

फूल सितम्बर से मई के बीच खिलते हैं—और फल पकने में 8 से 10 महीने लगते हैं। फल का हरा रंग पकने पर पीला या लाल पड़ जाता है। प्रत्येक वृक्ष में प्रति मास तीन से पाँच बार फूल खिलते हैं।

कई स्थानों में सुकुमार फलों को (जब वे तीन चौथाई पक जाते हैं) तोड़ लिया जाता है, जबकि कई जगह पकी और अधपकी दोनों प्रकार की सुपारियाँ तोड़ी जाती हैं। कम पकी सुपारियों को जुलाई से दिसम्बर के बीच और पकी सुपारियों को दिसम्बर से मार्च अथवा मई से जुलाई के बीच में तोड़ा जाता है। सारे मौसम में तीन या चार बार फसल उतारी जाती है।

पैदावार : कम पकी उपचारित सुपारियों की औसत पैदावार लगभग 600 पौंड प्रति एकड़ और पकी हुई व धूप में सुखाई गई सुपारियों की पैदावार की औसत पैदावार 1,500 पौंड प्रति एकड़ है।

रबर *(Hevea Braziliensis)*

भारत में रबर की खेती बीसवीं सदी के आरम्भ में शुरू हुई थी। किन्तु अब यह देश की महत्वपूर्ण फसल बन गयी है। दक्षिणी भारत में रबर के काफी बगीचे हैं। रबर के वृक्ष को काटने या खुरचने पर उससे दूध-सा तरल प्राप्त होता है। रबर इसी को सुखाकर तैयार की जाती है। रबर प्रदान करने वाले वृक्षों में हैविया-ब्रैज़िलेंसिस (पैरा) नाम का वृक्ष सबसे मुख्य है। यह ब्राजील देश से आया है। आजकल भारत में 1·77 लाख एकड़ भूमि में रबर के बगीचे हैं जिनसे 4·7 करोड़ टन रबर प्रति वर्ष प्राप्त होती है।

जलवायु और भूमि : पैरा रबर के बगीचे समुद्र सतह से लेकर लगभग 3,000 फुट की ऊंचाई तक लगाये जा सकते हैं। भारत में पश्चिमी घाट के निचले ढलानों पर 100 फुट की ऊँचाई तक इसकी अच्छी फसल होती है। अच्छी पैदावार के लिए 90° ताप और नम जलवायु जरूरी है। अच्छी कछार भूमि रबर के लिए उपयुक्त है। भारत में रबर में अधिकांश बागान लैटराइट दुमट भूमि में बोये जाते हैं।

कृषि क्रियायें : इसके बगीचे बीज और पौध दोनों से लगाये जाते हैं। साधारण पौध के पेड़ों की अपेक्षा चश्मा चढ़ाये गये पेड़ों की पैदावार दुगुनी या तिगुनी होती है। पौद तैयार करने के लिए जुलाई-सितम्बर के बीच अच्छे बीज पैदा करने वाले वृक्षों से बीज एकत्र किए जाते हैं और तुरन्त ही पौधशाला में बो दिये जाते हैं। चश्मा किए जाने वाले पेड़ों के लिये अच्छे पेड़ों के चश्मे ही काम में लाए जाते हैं। कलमी पेड़ों के लिए अच्छी कलमें ही काम में लाई जाती हैं। चश्मा चढ़ाई का काम पौदशाला या बगीचों में किया जाता है। जब पौधे लगभग एक इंच मोटे हो जाते हैं तो दो फुट की ऊंचाई पर ये काट दिये जाते हैं और इन पर चश्मा चढ़ाया जाता है। पहले से तैयार की गई कतारों में प्रति एकड़ 190 गड्ढों के हिसाब से दक्षिणी पश्चिमी मानसून शुरू होते ही चश्मे चढ़ा दिये जाते हैं। आमतौर पर रबर के बागान में एक फलीदार फसल छाया देने और भू-संरक्षण के लिए उगायी जाती है। पौदों के अच्छी तरह जम जाने के बाद निराई गुड़ाई और खाद डालने आदि की क्रियाएं नियमित रूप से की जाती हैं। छोटे पौधों के लिए संयुवत उर्वरक में नाइट्रोजन-सुपरफास्फेट-पोटाश 8-12-12 के अनुपात और 8-10-12 का बड़े पौधों के लिए होता है।

अनुपात के संयुक्त उर्वरक की चार पौंड मात्रा बड़े वृक्षों को देनेकी सिफारिश की जाती है और छोटों को एक-दो पौंड ।

जब पेड़ों के तने 20 इंच अथवा अधिक मोटे हो जाते हैं तो भूमि से लगभग तीन फुट की ऊंचाई पर पौदने रोप के सातवें या आठवें वर्ष वृक्ष से रस निकालने की क्रिया आरम्भ की जाती है। इससे पूर्व रस निकालने से पेड़ को नुकसान पहुँचता है और उसकी उम्र कम हो जाती है। रबर के बीज वृक्षों से प्रति वर्ष प्रति एकड़ लगभग 300 पौंड और कलमी पेड़ों से 700-800 पौंड रबर प्राप्त होती है।
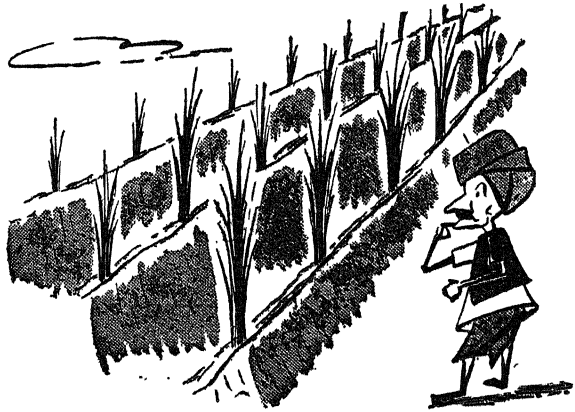
5.

चारे की फसलें

आज भी भारत का आर्थिक सुधार बहुत कुछ कृषि ही है। हमारी कृषि आधारित इस व्यवस्था में पशुधन का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए कृषि क्षेत्र की खुशहाली बहुत कुछ पशुओं के उत्तम पोषण पर निर्भर करती है, क्योंकि आज भी अधिकांश कृषि कार्यों में पशुओं का ही प्रयोग किया जाता है। हमारे देश में लगभग बीस करोड़ गाय-भैंसें हैं और साढ़े आठ करोड़ के लगभग भेड़-बकरियां हैं। इन पशुओं के लिए जितने चारा दाने की जरूरत है और इनकी जितनी मात्रा हमारे देश में प्रति वर्ष उपलब्ध होती है उसके आंकड़े आगे की सारणी में दिए गए हैं :

देश के सम्पूर्ण पशुओं (गाय, भैंस, भेड़, बकरियों) के लिए चारे दाने की आवश्यकता और उपलब्ध मात्रा (लाख टनों में)

चारे और दाने	अनुमानित आवश्यकता	उपलब्ध मात्रा	कमी (—) या अधिकता (+)
भूसा या कड़बी	1900	1300	—600
हरा चारा	2890	1110	—1780
हरी घास (चरने के लिए)	4530	5270	+740
रातिब दाना और खली	400	140	—260

इन आंकड़ों को देखने से पता चलता है कि चारे दाने की मांग और उपलब्ध मात्रा के बीच बहुत बड़ा अन्तर है। हमारे देश में चारे की कितनी कमी है यह बात भारत में चरागाह और चारा स्रोतों के हाल में हुए सर्वेक्षण से पता चलती है। इसके अनुसार गांव के अधिकांश चरागाहों में वर्ष के अधिकांश भाग में एक एकड़ में 3 या इससे अधिक पशु चरते हैं। जब कि पशुओं के उत्तम पोषण और चरागाहों के उचित प्रबन्ध के लिए प्रति 2 से 4 एकड़ भूमि पर केवल एक ही पशु चरना चाहिए और वह भी वर्ष में केवल चार-पांच महीनों में, पर हमारे देश के भागों में प्रति एकड़ काश्त किए गये चारे पर निर्भर रहने वाले पशुओं की संख्या काफी अधिक है।

देश के बहुत से भागों मे उगाये गये चारे पर निर्भर रहने वाले गो-पशुओं की संख्या पंजाब में 3·4, बम्बई में 3·7, उत्तर प्रदेश में 38.0, म० प्र० में 56·0, सौराष्ट्र में 67 और बंगाल में 1,500 है और सारे भारत की औसत संख्या 16·8 पशु प्रति एकड़ है।

पशुओं के चारे के तीन मुख्य साधन हैं। कुदरती चरागाह, खाद्यान्न फसलों से प्राप्त चारा-दाना, और खेत में उगाया गया चारा।

चरागाहें

क्षेत्रफल : अनुमान है कि भारत के 90 प्रतिशत पशु जंगलों में और मैदानों में उगने वाली घास पर गुजारा करते हैं। 1955 के आंकड़ों के अनुसार भारत के 8,108 लाख एकड़ भौगोलिक क्षेत्रफल में से 1,208 लाख एकड़ में जंगल थे और 212 लाख एकड़ भूमि में स्थायी चरागाह तथा अन्य चरने के स्थान थे। इसके अलावा 591

लाख एकड़ कृषि योग्य बेकार भूमि और 716 लाख एकड़ परती भूमि भी थी जिस पर पशु चरते थे।

चरागाहों का प्रबन्ध : इसके कई वैज्ञानिक तरीके हैं। एक विधि में चरागाहों में बाड़ लगाकर तीन भागों में बांट देते हैं। दो हिस्सों में एक के बाद दूसरे में पशुओं को चराते हैं और तीसरे में वर्ष भर के लिए घास बढ़ाने को छोड़ देते हैं। यह क्रम तीन वर्ष तक दोहराया जाता है। दूसरी विधि में घास के मैदान को तीन भागों में बांटकर प्रत्येक भाग में एक तिहाई वर्ष तक पशुओं को चराते हैं। तीसरी विधि में चरागाह को दो भागों में बांटते हैं और एक के बाद दूसरे भाग में पशुओं को चराते हैं।

पशुओं के चारे का मुख्य स्रोत अनाज की फसलों जैसे ज्वार या चोलम, बाजरा या कम्बू, धान, मक्का, गेहूं और रागी आदि का सूखा भूसा होता है। दलहनी फसलें जैसे मूंगफली, चना अन्य दालें ग्वार और लोबिया जैसी फसलों के तने और अवशेष भी पशुओं को खिलाए जाते हैं। इनमें ज्वार की कुट्टी में पोषण तत्व अच्छी मात्रा में होते हैं। अन्य अनाजों के भूसे घटिया किस्म के होते हैं और उनमें प्रोटीन की कमी होती है। फलीदार फसलों के भूसे आदि काफी पौष्टिक पाये जाते हैं।

भूसे को मुलायम बनाने के लिए अनेक तरीके अपनाए जाते हैं। धान के बारीक भूसे के सम्बन्ध में जो धान क्षेत्र में पशुओं का मुख्य चारा होता है, यह सिफारिश की जाती है कि इसके भूसे की कुट्टी को उसके वजन के आठ गुने कपड़ा धोने के सोडे के एक प्रतिशत घोल में 24 घंटे तक डुबाकर रखना चाहिए।

इसके बाद भूसे को अच्छी प्रकार ताजे पानी से धो कर सुखा लेना चाहिए। भूसे को ऊपर की विधि द्वारा उपचारित करने के लिए सात फुट लम्बी, 3 फुट चौड़ा और 2 फुट गहरी सीमेंट की दो हौदियां काम में लानी चाहिएं। बड़े फार्मों, पिंजरापोलों, गोशालाओं या ग्रामों में सहकारी आधार पर 100 या इससे अधिक पशुओं को खिलाने के लिए इस विधि को लाभप्रद ढंग से अपनाया जा सकता है। यदि छोटे किसान को थोड़े से पशुओं के लिए चारा इस विधि से उपचारित करना हो, तो भूसे को भिगोने के लिए मिट्टी की नांद काम में लाई जा सकती हैं।

चारे की फसलें

अधिकांश राज्यों में मुख्य फसलों के हेर-फेर में ही चारे की फसलें उगाई जाती हैं। उन क्षेत्रों में विशेष रूप से चारे उगाये जाते हैं जहां डेरी फार्म और पशुपालन का कार्य होता है। पौष्टिक चारे की फसलों का बोने का महत्व दिनों दिन बढ़ता जा रहा है क्योंकि घास के मैदानों और चरागाहों की तेजी से कमी होती जा रही है। और दूसरी ओर उद्योग का विस्तार होने के कारण स्वस्थ और बढ़िया किस्म के पशुओं की आवश्यकता दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है।

अच्छे चारे की विशेषताएं : (1) यह स्वादिष्ट और जल्दी पचने योग्य होना चाहिये। (2) चारा विशेषकर सिंचाई वाले खेतों में कम से कम समय में उगाया जा सके। (3) चारे की प्रति एकड़ अधिक से अधिक उपज प्राप्त हो सके। (4) कम से कम

निराई-गुड़ाई और खाद की जरूरत पड़े और (5) सुखाकर या साइलेज के रूप में काफी समय तक सुरक्षित रखा जा सके।

अनाज वाली चारे की फसलें

देश के विभिन्न भागों में चारे के लिए बोई जाने वाली अनाज की मुख्य फसलें निम्नलिखित हैं :

ज्वार : चारे के लिए उगाई जाने वाली प्रमुख किस्में निम्न-लिखित हैं :

बम्बई राज्य में संध्या और दूधिया, गुजरात के लिए; निलवा, उतावली और इम्फी खरीफ के लिए; माल डंडी और रबी में दगड़ी तथा गर्मी के मौसम को संध्या, हुंडी और कालबूंदी दक्षिण के लिए; मद्रास के लिए पेरियामाजल, कोयम्बटूर 10 और कोयम्बटूर 11; उत्तर प्रदेश के लिए पूर्वी और पंजाब के लिए जे० एस० 20, जे० एस० 21 और जे० एस० 263।

मक्का : यह फसल चारे के रूप में अधिकतर उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, पंजाब और हिमालय के सभी पहाड़ी क्षेत्रों में बोई जाती है। यह बहुत जल्दी बढ़ती और आपदकाल के लिये सबसे बढ़िया चारा है। भारत के दक्षिणी क्षेत्रों में जहाँ सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है वहां इस फसल को वर्ष में किसी भी समय बोया जा सकता है। जब इसे लोबिया या राजमा के साथ मिला कर खिलाया जाता है तो इसका चारा बहुत बढ़िया बन जाता है। मक्का के हरे चारे की कुट्टी सभी पशु चाव से खाते हैं इससे साइलेज भी बढ़िया बनता है। भुट्टों में दूधिया दाना पड़ने पर जब चारा काटा जाता है तो इससे अधिकतम पचनशील चारा मिलता है।

बाजरा : बाजरे की चारे की फसल पंजाब, सौराष्ट्र, मद्रास और आन्ध्र प्रदेश की अच्छे जल निकास वाली हल्की मिट्टी में बोई जाती है। यह प्रत्येक कटाई के बाद जल्दी ही बढ़ जाती है। कुछ मौसम में दो तीन बार इसकी कटाई की जाती है। यह ग्वार और मक्का से कम स्वादिष्ट है लेकिन इसमें लगभग 11 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। जिन क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधाएँ कम हैं वहाँ यह लाभदायक चारा है। चारे वाले बाजरे की मुख्य किस्में बम्बई के लिये मालबान्द्रों या देशी और मद्रास के लिये नदम कम्बु उपयुक्त हैं।

जई : यह अधिकतर फौजी घास फार्मों पर रबी के चारे के रूप में उगाई जाती है। सीमित मात्रा में यह पंजाब, उत्तर प्रदेश और बम्बई राज्यों के नगरों के पास वाले क्षेत्रों में बोई जाती है। इसका चारा बहुत ही पौष्टिक होता है और विशेषकर घोड़ों और दूध देने वाले पशुओं के लिए उपयुक्त होता है। इसको या तो हरा (काटकर या बिना काटे) खिलाते हैं या साइलेज और सूखी घास के रूप में संरक्षित करते हैं। पंजाब में इसकी सुधरी किस्में फ्रांसीसी छिलकाहीन, अलजेरियन 19 और एफ० ओ० एस० 1/29 प्रसिद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त रागी, कंगनी और चीना की फसल भी चारे की तरह उगाई जाती हैं। भारत की फसलें नामक अध्याय में इन फसलों के बारे में जो सूचनायें दी गई हैं, उनके अतिरिक्त आगे लिखी बातें ध्यान में रखनी जरूरी हैं :

(1) फसल बोने से पहले खेत में घूरे की खाद काफी मात्रा में देनी चाहिए। पौदे निकल आने पर ऊपर से अमोनियम सल्फेट

बुरकने से पौधों का विकास तेजी से होता है। खेत में अधिक मात्रा में बीज डाले जायें जिससे फसल घनी उगे। (3) चारे की पोषण शक्ति को बढ़ाने के लिए इसको एक या अधिक उपयुक्त दलहनी फसलों के साथ मिलाकर बोना चाहिए। (4) केवल वे किस्में उगानी चाहिएं जो क्षेत्र-विशेष के लिए उपयुक्त हों। (5) पौधों के उत्तम विकास के लिए फसल की सिंचाई का प्रबन्ध करना चाहिए और (6) हरे चारे, साइलेज या सूखी घास तैयार करने के लिए उचित समय पर ही कटाई करनी चाहिए।

चारे की दलहनी फसलें

चारे की दलहनी फसलों में लोबिया, ग्वार, मोठ, सोयाबीन, मखमली सेम, बरसीम, रिजका और मेथा मुख्य हैं। इनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया गया है।

लोबिया : यह खरीफ में बोई जाने वाली एक ऐसी फसल है जो चारा, दाल और हरी खाद तीनों चीजें प्राप्त करने के लिए उगाई जाती है। इसके लिए ज्वार और मक्का जैसी जलवायु चाहिए। लेकिन मक्का की अपेक्षा इसमें सूखा और गर्मी बर्दाश्त करने की अधिक क्षमता होती है। वास्तव में यह सभी प्रकार की मिट्टी में पैदा हो सकती है लेकिन थोड़ी हल्के कणों की बनावट वाली अच्छी गहरी मिट्टी इस फसल के लिए बढ़िया होती है।

किस्में : देश के विभिन्न भागों में लोबिया की बहुत सी अच्छी देशी किस्में खेती करने के लिए उपलब्ध हैं। उत्तरी भारत में उन्नत सिरसा लोबिया नं० 1 और करनाल की के० 397 चारे

के लिए सिफारिश की गई है। मद्रास के लिए सी० 57 किस्म उपयुक्त है।

कृषि क्रियायें : बीज बोने से पहले खेत अच्छी तरह तैयार करना चाहिए। हाथ से छिटक कर बोने के लिए 40 से 50 पौंड के हिसाब से या बीज यन्त्र से तीन फुट दूरी से कतारों में बुआई के लिए 25-30 पौंड बीज प्रति एकड़ की आवश्कता होती है। आमतौर से इसे मक्का या ज्वार के साथ मिलवां बोते हैं। सिंचाई वाले खेतों में इसकी बुआई मार्च से शुरू हो जाती है। बोने से लगभग तीन सप्ताह बाद पहली सिंचाई की जाती है। इसके बाद प्रति 15 दिनों के अन्तर से सिंचाई करते हैं। असिंचित क्षेत्रों में पहली वर्षा होते ही जून-जुलाई में बो देते हैं।

यह फसल ढाई महीने में तैयार हो जाती है। फलियों का पकना आरंभ होते ही फसल को काट लेना चाहिए। सिंचित खेतों में हरे चारे की उपज औसतन 20,000 से 25,000 पौंड प्रति एकड़ होती है जब की असिंचित खेतों में इससे उपज केवल आधी होती है। प्रोटीन इसमें काफी मात्रा में पायी जाती है। सभी प्रकार के पशु इसके चारे को बड़े चाव से खाते हैं।

ग्वार : सूखासह्य होने के साथ-साथ यह भूमि की उर्वरता को बढ़ाने वाली फसल है। हल्की बुआई और दुमट मिट्टियों में अधिक नमी या खेत में इकट्ठा हुए पानी से इसे तुरन्त नुकसान पहुँचता है।

कृषि क्रियायें : बुआई से पहले खेत की एक या दो बार जुताई की जाती है। सिंचाई वाले खेतों में बीज को हाथ से छिटक कर बोते है और असिंचित खेतों में 12 से लेकर 18 इंच की दूरी

पर कतारों में बीज यंत्र से बुआई की जाती है। इसके लिए 25-40 पौंड प्रति एकड़ बीज लगता है। ग्वार-ज्वार चारे का मिश्रण पशुओं के लिए अत्यधिक संतुलित चारा है। पंजाब में इसकी सुधरी किस्म ग्वार नं० 2 बोने की सिफारिश की जाती है।

इसकी फसल लगभग दो-ढाई महीनों में तैयार हो जाती है। सिंचित में 16,000- 20,000 पौंड और असिंचित खेतों में 8,000-12,000 पौंड चारा प्रति एकड़ होता है। मोटा चारा होने के कारण यह बोझा ढोने वाले पशुओं के लिए अधिक उपयुक्त पाया गया है। ग्वार का बीज भी काफी पौष्टिक होता है, जो अक्सर दाने के रूप में घोड़ों को छोड़कर सभी जानवरों को दिया जाता है।

मोठ : यह दाल की फसल है और कभी-कभी चारे के लिए भी पैदा की जाती है। इसे बाजरा या ज्वार के साथ मिलाकर बोते हैं। कभी-कभी कपास के बीच में भी यह बोई जाती है। दो माह बड़ी फसल काटने के लिए तैयार हो जाती है। इसके हरे चारे की उपज औसतन 12,000 पौंड प्रति एकड़ होती है। पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश के लिए मोठ नं० 3 उपयुक्त पाई जाती है।

सोयाबीन : इसको मक्का जैसी ही जलवायु चाहिए। इसको अकेला या मक्का और ज्वार के साथ मिलाकर भी बोते हैं। अक्तूबर और नवम्बर में जबकि अन्य हरे चारे की कमी रहती है उस समय ही इसका हरा चारा प्राप्त होता है। यह हर प्रकार की मिट्टी में पैदा हो सकती है लेकिन उर्वर दुमट और बलुई दुमट मिट्टी में इसकी अच्छी उपज होती है।

किस्में : इसकी सीधी खड़ी और फैलने वाली दोनों किस्में उपलब्ध हैं। चारे के लिए फैलने वाली किस्में ज्यादा उपयुक्त हैं। फैलने वाली किस्मों में पूसा की पीली और चाकलेटी किस्म से अधिक चारा मिलता है। जल्दी पकने वाली किस्मों में मोनेटा किस्म अच्छी रहती है।

कृषि क्रियायें : खेत की अच्छी तरह तैयार करके जून-जुलाई में इसकी बुआई की जाती है। इसके बीज को प्रति एकड़ 25 से 30 पौंड की दर से कतारों में बोते हैं जिनसे बीच की दूरी डेढ़ से दो फुट रखी जाती है। फसल की बढ़वार के समय एक-दो बार निराई-गुड़ाई करते हैं। अक्तूबर-नवम्बर में भी हरा चारा लेने के लिए वर्षा के बाद कम से कम एक बार सिंचाई की जाती है।

हरे चारे की उपज प्रति एकड़ 12,000-16,000 पौंड होती है। शीघ्र तैयार होने वाली किस्म 60 से 70 दिन में तैयार हो जाती है और उससे लगभग 9,000-10,000 पौंड प्रति एकड़ चारा मिलता है। इसका चारा काफी स्वादिष्ट होता है और इसमें प्रोटीन तथा अन्य पोषक तत्व काफी मात्रा में पाये जाते हैं।

बरसीम : उत्तरी भारत के पर्याप्त सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्रों में यह रबी की बढ़िया चारा फसलों में से एक है। यह मिस्र देश की निवासी है और वहाँ से यह 1904 में भारत लाई गई। उन क्षेत्रों में जहाँ अधिक समय तक जाड़ा पड़ता है और मौसम शुष्क रहता है इसकी खेती निरन्तर बढ़ती जा रही है क्योंकि इस प्रकार की जलवायु में यह अधिक फलती-फूलती है। अच्छी प्रकार की दुमट मिट्टी में बरसीम की उपज बहुत बढ़िया होती है। हल्की क्षारीय भूमि में भी यह ठीक ढंग से उग सकती है।

कृषि क्रियायें : तीन-चार बार हल और पाटा चलाकर खेत को बुआई के लिए तैयार कर लेना चाहिए। अच्छे अंकुरण के लिए मिट्टी का महीन होना जरूरी है। खेत को बराबर करने के बाद सिंचाई की सुविधा के लिए उसको 1/10 या 1/20 एकड़ की क्यारियों में बांट देना चाहिए। कमजोर भूमि में 20 गाड़ी अच्छी गोबर की खाद डालनी चाहिए। बोने से पहली जुताई के साथ 150 से 250 पौंड त्रिपल सुपरफास्फेट डालने से इसकी फसल बहुत अच्छी होती है।

खेत में पहली बार बरसीम बोते समय बीजों में उपजाऊपन बढ़ाने वाले जीवाणुधारी पदार्थ को मिलाना जरूरी होता है। यह पदार्थ भारतीय कृषि अनुसंधानशाला नई दिल्ली से हिदायतों सहित प्राप्त किया जा सकता है। जीवाणु पदार्थ मिलाने से फसल तेजी से बढ़ता है और उसकी उपज अधिक होती है। अगर यह पदार्थ न मिले तो जिस खेत में पहले बरसीम बोई गई हो, उसकी सतह की बारीक मिट्टी को छलनी से छानकर नए खेत में बुरक देना चाहिए। परन्तु इसका प्रभाव जीवाणुधारी पदार्थ के समान नहीं होता। इससे नये रोग और खरपतवारों के पैदा होने का डर भी रहता है।

जीवाणुधारी पदार्थ देने से पहले बीजों को 10 से 12 घण्टे तक जल में भिगो कर रखते हैं। उसके उपरान्त खड़े पानी में उसे 16 से 20 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से छिटक कर बोते हैं। अगेती बुआई के लिए बीज की मात्रा अधिक होनी चाहिए। बोने का अनुकूलतम समय अक्तूबर का महीना होता है, फिर भी यह फसल नवम्बर के अन्त तक बोई जा सकती है। देर से बोने के कारण एक

कटाई कम हो जाती है। अगर यह फसल सितम्बर में बोई जाए, तो जब तक यह पूरी तरह जम न जाये इसकी चार-पांच दिन के अन्तर से लगातार सिंचाई करनी चाहिए। यदि यह अक्तूबर में बोई जाए तो भूमि की किस्म के अनुसार पहली दो-तीन सिंचाई सात से दस दिन के अन्तर से करनी चाहिए। जाड़ों में 15 दिन के और गर्मी में 10 दिन के अन्तर से सिंचाई करनी चाहिए। पांच-छ: बार की कटाई से इस फसल के हरे चारे की औसत उपज प्रति एकड़ लगभग 40,000 पौंड होती है। यदि भूमि और काश्त अच्छी हो तो इसकी उपज 95,000 पौंड तक हो सकती है। बरसीम का चारा बहुत गर्म और स्वादिष्ट होता है। इसमें प्रोटीन की मात्रा बहुत अधिक होती है। बरसीम में फास्फेट और कैलशियम की मात्रा अधिक पाई जाती है। अत: जो गायें और भैंसें बरसीम के हरे चारे को खाती हैं वे अधिक दूध देती हैं।

मार्च के बाद बरसीम से अच्छा साइलेज तैयार किया जा सकता है और उसे अनाज की फसलों के चारे के साथ खिलाया जाता है।

रिजका या लूसर्न : सूखे क्षेत्रों में जहाँ सिंचाई के लिए पानी उपलब्ध हो वहाँ इसकी काश्त की जाती है। यह बारहमासी फली-दार फसल है और यदि एक बार यह सिंचाई करके लगा दी जाए तो लगातार चार वर्ष तक चारा देती रहती है।

इसकी खेती बलुई दुमट मिट्टी से लेकर चिकनी मिट्टी तक में की जा सकती है लेकिन अच्छे पानी के निकास वाली गहरी उर्वर दुमट मिट्टी इसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त होती है। क्षारीय मिट्टी भी इसके लिए अनुपयुक्त है।

किस्में : देश के विभिन्न भागों में मुख्यतः इसकी तीन किस्मों कंधार या क्वेटा, ईरानी या अरबी और मेरठ की खेती होती है। दक्षिण भारत में ईरानी या अरबी अधिक लोकप्रिय है।

सिरसा, पंजाब में विकसित रिजका की उन्नत किस्म नं० 9 उत्तरी भारत के लिए विशेष रूप से उपयुक्त पायी गई है। हरे चारे की उपज प्रति एकड़ 65,000 से 80,000 पौंड मिलती है।

कृषि क्रियायें : रिजका बोने का बढ़िया समय अक्तूबर के मध्य से लेकर नवम्बर के मध्य तक होता है। हल्की मिट्टी वाले खेतों में बीज को 16 से 20 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से गीले खेत में छिटक कर बोते हैं या एक-एक फुट की दूरी वाली कतारों में 10-12 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से बोते हैं।

रिजक से एक पौंड सूखी घास प्राप्त करने के लिए लगभग 750 पौंड जल की आवश्यकता होती है। जब तक यह फसल अच्छी प्रकार जम न जाये तब तक 5 से 7 दिन के अन्तर से उसकी सिंचाई करनी चाहिए। बाद में जाड़े के दिरों में 15 से 20 दिन के और गर्मी के दिनों में 10 से 15 दिन के अन्तर से सिंचाई करनी चाहिये। एक या दो कटाई के बाद इस फसल की निराई और गुड़ाई होनी चाहिए। खरपतवार इसके बड़े शत्रु हैं। यदि ये अधिक मात्रा में हों तो जुताई करके इन्हें उखाड़ देना चाहिए।

इसकी पहली कटाई से साधारणतः कम चारा प्राप्त होता है। यह कटाई बोने के ढाई से तीन मास बाद होती है। बाद की प्रत्येक कटाई फसल के विकास के अनुसार 5 से 6 सप्ताह के अन्तर से जाती है। यदि खाद और सिंचाई की अच्छी व्यवस्था हो तो इसकी

उपज 80 हजार पौंड प्रति एकड़ तक की जा सकती है। पंजाब में इसकी सुधरी किस्म किस्म रिजका नं० 8 और 9 की खेती करने की सिफारिश की जाती है।

रिजका बहुत पोषक और स्वादिष्ट चारा है। यह विशेषकर घोड़ों और बोझ ढोने वाले पशुओं के लिए अच्छी होती है। अफारे की बीमारी को दूर करने के लिए, जो कि अक्सर रिजका का चारा खाने वाले दुधारू पशुओं को होती है, रिजका के हरे चारे के छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे सूखे भूसे या कुट्टी में मिला कर खिलाने से अफारा दूर हो जाता है।

सेंजी : पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पंजाब में जाड़े की महत्व-पूर्ण चारा फसल है। बरसीम के प्रचलन से इसकी काश्त में काफी कमी हो गई है। अब अधिकांशतः जल की कमी के कारण जहां बरसीम नहीं उगाई जा सकती वही बोई जाती है।

उर्वर कछारी मिट्टी में सेजी अच्छी होती है। कपास और मक्का की खड़ी फसल में सितम्बर अक्तूबर मास में अंतिम सिंचाई करते समय आमतौर से अन्तरवर्ती फसल के रूप में यह बोई जाती है। प्रति एकड़ 40 से 50 पौंड छिलकेदार बीज या 25 से 30 पौंड बिना छिलकेदार बीज को छींट कर बोते हैं। इसके बीज का आवरण सख्त होता है। अतः उसे हल्का कूट कर या ईंट से रगड़ कर या रात भर पानी में भिगोकर मुलायम कर लेना चाहिये। फसल वृद्धि की सारी अवधि में साधारणतः दो बार सिंचाई करना काफी होता है। इस फसल की केवल एक बार कटाई होती है। हरे चारे की उपज प्रति एकड 16 हजार पौंड होती है। सेंजी के चारे की
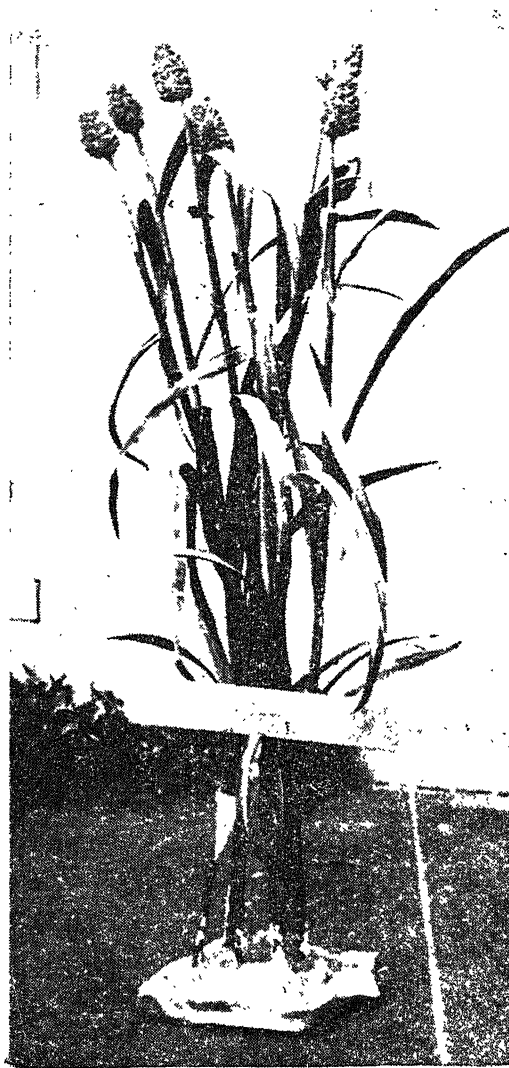
चारे और दाने दोनों के लिए बढ़िया
ज्वार की उन्नत किस्म

चारे के लिए ऊंची किस्म की नेपियर घास

कुट्टी को भूसे या अन्य सूखे चारे के साथ पशुओं को खिलाना चाहिए।

शफताल : किसी समय यह पंजाब की प्रमुख चारा फसल थी किन्तु ज्यादा उपज देने वाली बरसीम के प्रचलन के कारण इसकी खेती का क्षेत्र बहुत घट गया है। शफताल और बरसीम के लिए एक-सी मिट्टी, जलवायु तथा खेती की दशाओं की आवश्यकता होती है। छोटे होने के कारण प्रति एकड़ केवल 10 से 12 पौंड बीज बोया जाता है।

मेथरा या मेथा : यह भी रबी के चारे की एक मुख्य फसल है। इसे सिंचाई की कम आवश्यकता होती है। यह देश के सभी भागों में विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु में पैदा हो सकती है। इस फसल के लिए उर्वर दुमट मिट्टी अधिक उपयुक्त है। दक्षिणी भारत में मेथा फसल को शुद्ध फसल के रूप में भूमि तैयार करके उगाते हैं। पहले से अच्छी तरह तैयार की गई नमीदार भूमि में प्रति एकड़ 25 से 30 पौंड बीज छिटक देते हैं आमतौर से सारे मौसम में इसकी दो से तीन बार सिंचाई की जाती है।

बोने के बाद 3 से 4 महीने में यह फसल तैयार हो जाती है। एक कटाई में इसके हरे चारे की उपज 16,000 से 20,000 पौंड होती है। पंजाब के लिए इसकी सुधरी किस्म मेथरा नं० 4 उपयुक्त है। इसका चारा स्वादिष्ट और पौष्टिक होता है।

चारे की अन्य फसलें : बुनियादी रूप में सरसों और राया तिल-हन के रूप में उगाई जाती है पर यह चारे के रूप में भी इस्तेमाल की जाती हैं। शलजम एक सब्जी है पर इसके पत्ते भी चारे के लिए

इस्तेमाल किये जाते हैं। चारे के लिए कुछ ऐसी घासें भी विकसित की गईं हैं जिनसे काफी मात्रा में पोषक चारा प्राप्त होता है इनमें नेपियर घास, गिनी घास, रोड्स घास, पारा घास और सूडान घास मुख्य हैं।

नेपियर घास : यह 40 वर्ष पहले अफ्रीका से लाई गई थी। यह बारहमासी घास है और इससे काफी उपज प्राप्त होती है। यह लगभग सभी प्रकार की मिट्टियों में उगाई जाती है पर उर्वरा दुमट मिट्टी में सबसे अच्छी होती है।

उत्तरी भारत में सिंचाई वाली भूमि में इसकी रोपाई फरवरी के मध्य से लेकर अगस्त के मध्य तक की जा सकती है। जिन क्षेत्रों में जाड़ा कम होता है वहाँ इसकी रोपाई किसी भी समय की जा सकती है। बरसात के दिनों को छोड़कर इसकी सिंचाई प्रत्येक कटाई के बाद की जा सकती है। खाद देने से इस घास की उपज अधिक होती है।

पहली कटाई आमतौर से रोपने के तीन महीने के बाद की जाती है और बाद में इसकी कटाई फसल की वृद्धि के अनुसार 6 से 8 सप्ताह के अन्तर से की जाती है। सामान्यत: इसके हरे चारे की औसत उपज प्रति एकड़ 50,500 से 80,000 पौंड होती है परन्तु अनुकूल स्थिति मिलने पर पाँच-छ: बार की कटाई से इसकी उपज 1,20,000 पौंड तक भी प्राप्त की गई है।

एक बार लगने के बाद नैपियर घास से लगातार कई वर्षों तक चारा प्राप्त होता है परन्तु आयु बढ़ने के अनुसार इसकी उपज कम हो जाती है। अत: हर पाँच या छः साल बाद इसकी दुबारा रोपाई करना लाभप्रद होता है।

इसका चारा घटिया किस्म का होता है। यदि इस घास को चार फुट से अधिक ऊँचा उगने दिया जाए तो तह रेशेदार हो जाती है, जिससे इसका स्वाद कम हो जाता है। इसमें सात प्रतिशत प्रोटीन की मात्रा होती है। साइलेज बनाने के लिए यह अच्छी फसल होती है।

गिनी घास : यह घास अफ्रीका से 1793 में भारत में लाई गई थी। विभिन्न प्रकार की भूमि और जलवायु में, विशेषकर उष्ण-कटिबन्धीय क्षेत्रों में की जाती है।

यद्यपि इस घास पर काफी बीज आते हैं परन्तु उनको जमा करना कठिन होता है क्योंकि सभी बीज एक समय में नहीं पकते और पके हुए बीज तुरन्त बिखर जाते हैं। इसी कारण इस घास की जड़ें लगाई जाती हैं। इसकी अच्छी रोपाई के लिए खेत में काफी खाद डालनी चाहिए और उसकी मिट्टी काफी भुरभुरी कर देनी चाहिए।

नैपियर और गिनी घास की जड़ों को रोपने, खाद डालने और सिंचाई करने के तरीके समान हैं। ऐसा करने से बांध में मजबूती आती है और बिना किसी विशेष लागत के हरा चारा उपलब्ध होता है।

इसकी पहली कटाई साधारणतः रोपाई के ढाई मास बाद की जाती है। बाद में इसकी कटाई फसल की वृद्धि के अनुसार 6 से 8 सप्ताह के अन्तर में की जाती है। इसके हरे चारे की औसत उपज प्रति एकड़ 40,000 से 55,000 पौंड के बीच होती है। मद्रास में गंदे नाले के पानी से सिंचाई करके इसकी प्रति एकड़ 2,00,000 पौंड से भी अधिक उपज प्राप्त की गई है। आयु बढ़ने के साथ-साथ उपज

घटती जाती है। अतः तीन से पाँच साल की प्रत्येक अवधि के बाद इसकी दुबारा रोपाई करनी चाहिए।

फसल की व्यवस्था के अनुसार इसमें प्रोटीन की मात्रा 5 से 8 प्रतिशत तक होती है। यह साइलेज बनाने के लिए अच्छी होती है।

रोड्स घास : यह बारहमासी घास 1915 में दक्षिणी अफ्रीका से लाई गई थी। यह घास सूखे और जाड़े को बर्दाश्त करने वाली होती है। अतः इसे सफलतापूर्वक उष्णकटिबन्धीय और उप उष्ण-कटिबन्धी क्षेत्रों में सिंचाई या वर्षा पर निर्भर रहने वाले इलाकों में उगा सकते हैं।

यह घास बलुई दुमट मिट्टी में बहुत बढ़िया ढंग से लगती है। कड़ी चिकनी मिट्टी, काली मिट्टी, या जमे हुए पानी की मिट्टी इसके लिए उपयुक्त नहीं होती। कुछ अंश तक यह लवणीय मिट्टी को बर्दाश्त कर सकती है।

सिंचित क्षेत्रों में यह घास वसंत के शुरू में और वर्षा की फसल के रूप में मानसून शुरू होने के बाद लगाई जाती है। इस घास को बीजों द्वारा या जड़ निकाली पोरियों को काटकर लगाते हैं। जब बीज द्वारा इसे लगाते हैं तब प्रति एकड़ 5 से 10 पौंड बीज लेकर तैयार की गई अच्छी नमीदार भूमि में उसे छिटक देते हैं और ब्रश हैरो से इसके बीजों को मिट्टी में ढक देते हैं। 7 से 15 दिनों में अंकुर दिखाई देने लगते हैं। जड़दार पोरियों को दो-दो फुट की दूरी पर लगाते हैं और लगाने के तुरन्त बाद सिंचाई करते हैं। प्रति एकड़ में 10,000 जड़दार पोरियों की आवश्यकता पड़ती है।

मौसम के अनुसार इस घास की फसल की नियमित रूप से दो सप्ताह से लेकर तीन सप्ताह के अन्तर तक सिंचाई करनी चाहिए। मानसून के समय सिंचाई करने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

बीज द्वारा जो फसल उगाई जाती है वह तीन महीने के बाद पहली कटाई के लिए तैयार हो जाती है, जबकि जड़दार पोरियों से उगाई गई फसल दो महीने में ही पहली कटाई के लिए तैयार हो जाती है। बाद की कटाई महीने-महीने के अन्तर से की जाती है।

यह घास काफी पत्तीदार और स्वादिष्ट होती है। कटे चारे के रूप में या सुखाकर पशुओं को इसे खिलाते हैं। इसे चराया भी जा सकता है। इसमें प्रोटीन की औसत मात्रा 5 प्रतिशत होती है। रिजका के साथ मिलाकर उगाने से इसके पौष्टिक तत्व बढ़ जाते हैं और साल भर हरा चारा मिलता रहता है।

पारा घास : यह जलप्रिय बारहमासी घास लंका से 1894 में लाकर उगाई गई। इसके लिए आर्द्र जलवायु बहुत उपयुक्त रहता है। यह बम्बई, केरल और मैसूर राज्यों के नमीदार व निचली भूमि में अच्छी तरह उगती है। बाढ़ आ जाने या पानी रुक जाने से भी इसे कोई हानि नहीं पहुँचती।

जड़दार पारा घास को केवल दो-तीन गाँठ वाले टुकड़ों द्वारा उगाया जाता है। इन टुकड़ों को अच्छी तरह तैयार की गई भूमि में 6 इंच की दूरी पर तिरछा गाड़ते हैं और इसके तुरन्त बाद उसकी सिंचाई की जाती है। बसंत के शुरू में यह फसल सिंचाई करके बोई जाती है और जून-जुलाई में वर्षा पर निर्भर करने वाली खेती के रूप में उन क्षेत्रों में बोई जाती है जहाँ वर्षा 40 इंच से कम नहीं होती।

रोड्स, गिनी या नैपियर की तुलना में इस घास की उपज बहुत अधिक होती है। अतः इस घास के लिए काफी खाद की जरूरत पड़ती है।

रोपाई के लगभग 3 मास बाद इसकी फसल पहली कटाई के लिए तैयार हो जाती है। बाद में हर महीने के अन्तर से इसकी कटाई की जाती है। आरे दूध कालोनी, बम्बई में पशुशाला के धोबन से सिंचाई करके इसकी उपज प्रति एकड़ 1,80,000 पौंड से भी ऊपर पहुंची है।

यह घास विकास की सभी अवस्थाओं में स्वादिष्ट होती है। रोड्स, गिनी या नैपियर घास की अपेक्षा इसमें प्रोटीन और अन्य पोषक तत्व कुछ कम होते हैं। अन्य देशों में इसे चराने के काम के लाते हैं।

सूडान घास : यह घास इस देश में 1920 से अपनाई गई है। इसकी उपज काफी होती है और यह सूखे को सहन कर सकती है। इससे यहां की जलवायु में पनपने वाली चारा-घासों की संख्या में वृद्धि हो गई हैं। इसके लिए मिट्टी और जलवायु की आवश्यकताएं वैसी ही है जैसी ज्वार के लिए चाहिएं।

ज्वार की तरह सूडान घास की प्रारम्भिक अवस्था में हाइड्रो-सायनिक अम्ल पाया जाता है। अतः उसे केवल फूल आते समय ही काट कर दिलाना चाहिए। ज्वार चारा की तुलना में इसका पत्ती-दार चारा अच्छा साबित होता है और सभी प्रकार के पशु इसे चाव से खाते हैं। छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर खिलाने से चारा बेकार नहीं जाता। यह घास पतली होती है। अतः इससे सूखा चारा

ग्रच्छा बनता है। ज्वार या मक्का की ग्रपेक्षा इसका साइलेज चारा घटिया होता है।

इस घास में 6 प्रतिशत प्रोटीन होती है। इसे लोबिया या ग्वार के साथ मिलाकर बोने से इसके पोषक तत्वों में सुधार लाया जा सकता है।

मकचरी (टियोंसिंटी) : मकचरी मक्का के समान होती है। यह भारत में 1893 में लाई गई ग्रौर तभी से लोकप्रिय है। पंजाब के लिए विशेषरूप से मई-जून ग्रौर अक्तूबर-नवम्बर में जब कि हरे चारे की बहुत कमी होती है, यह फसल बहुत उपयुक्त है।

ग्रन्य ग्रच्छी फलीदार फसलें ग्रौर घासें : ऊपर वर्णित चारा की फसलों ग्रौर घासों के ग्रतिरिक्त कई ग्रन्य फलीदार ग्रौर दूसरी घासों की हाल में खेती करने से ग्रच्छे परिणाम निकले है। विदेश से लाई गई खरीफ घासों में सेतारिया स्फेसलता, पैनीकम, ऐंटीडोटेल, यूरोचलोग्रा, मौजम्बी सेंसिस बहुत ग्रच्छी उपज देने वाली है। सिंचाई वाले क्षेत्रों में सेतारिया स्फेसलता के हरे चारे की प्रति एकड़ उपज 80,000 पौंड तक ग्रधिक हुई है। इसकी ग्रोर ग्रधिक ध्यान देना चाहिए। बाहर से लाई गई रबी घासों में फैलेरिस माइनर ग्रौर फैलेरिस केनारियन्सिस नाम की वार्षिक जातियों से ग्रधिक उपज हुई है। मात्रा ग्रौर गुण सी दृष्टि से ये घासें नई के समान है। रूसी राई ज्यादा उपज देने वाली ग्रौर स्वादिष्ट चारे की फसल है। सिंचाई करके इसकी काश्त करना ग्रधिक उपयुक्त है।

हवम क्लोवर, बरक्लोवर ग्रादि फलीदार चारे हैं जिनसे प्रति एकड़ 20,000 से 25,000 पौंड हरे चारे की उपज होती है।

देशी घासों में कनारी घास की किस्में जैसे क० मान्टेनस और सेचंरस सिलियारिस घासें अच्छी साबित हुई है। इन घासों की बहुत सी किस्में हैं। परन्तु द्विगुणित जातियों की अपेक्षा बहुगुणित जातियां सामान्यतः अधिक सख्त और अधिक उपज देने वाली होती हैं।

चारा देने के अतिरिक्त घासों में भूमि-संरक्षण की क्षमता भी होती है और इसलिए भूमि-संरक्षण कार्यक्रमों में इन घासों को और अधिक उगाया जा रहा है। यदि घास अच्छी तरह लगी हो तो इससे दानेदार भूमि का क्षरण से बचाव होता है क्योंकि घास उसे बांधकर रखती है। भूमि को क्षरण से बचाने के लिये रेशेदार जड़वाली घासों को लगाते हैं जिससे भूमि पानी के साथ बहने से बच जाती है। घास का ऊपरी भाग वर्षा की बूँदों के प्रभाव को कम करता है।

भूमि क्षरण की रोकने के लिये दूब, स्टार घास और नीलम घास आदि मिट्टी को बहने से रोकने के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई हैं। फलीदार चारे की किस्मों में भूमि क्षरण को रोकने के लिए कुडजू वेल और ट्रापीकल कुडजू, सेम और इंडिगोफैरा उपयोगो सिद्ध हुए हैं।

चारे का संरक्षण

काम करने वाले तथा डेरी के पशुओं के अच्छे स्वास्थ्य और कल्याण के लिए चारे का नियमित रूप से मिलना अनिवार्य है। हालांकि ऐसा करने के लिए यह जरूरी है कि जब चारा ज्यादा मात्रा में उपलब्ध हो तब फालतू चारे को बाद के प्रयोग के लिए संरक्षण कर लेना चाहिए। साइलेज के रूप में तैयार करके या
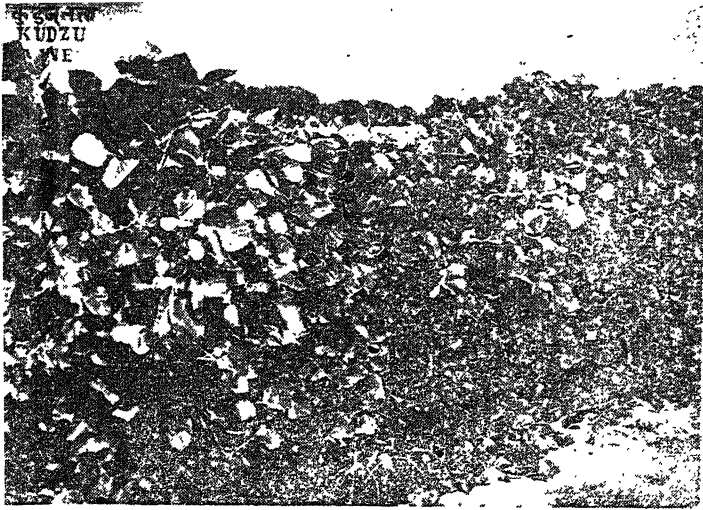
चारे के लिए उगायी गयी कुड्जू ; इसको पशु चाव से खाते

चतुर किसान चारे को गरी या चट्टा लगाकर सुरक्षित रखते हैं
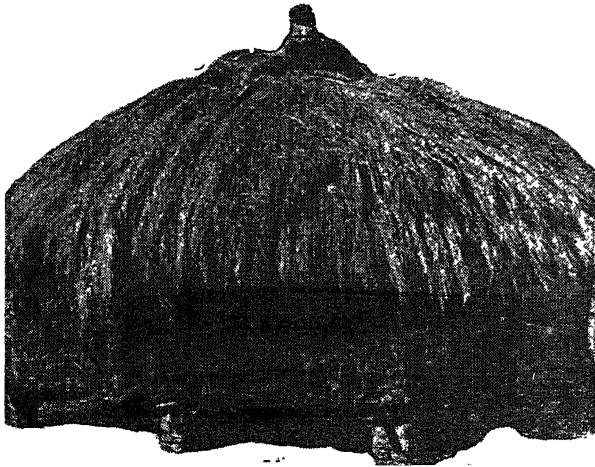
चरागाहों में यदि नियमित रूप से चराई की व्यवस्था की जाए तो चारा अधिक दिनों तक चल सकता है

सूखी घास बनाकर चारे की फसलों को दो प्रकार से संरक्षित करते हैं।

साइलेज बनाना : चारे को अच्छी तरह काट देते हैं और रसदार अवस्था में उस समय के लिए संरक्षित कर लेते हैं जब हरा चारा या तो मिलता ही नहीं और अगर मिलता भी है तो बहुत कम। इस चारे को हरी अवस्था में ही जमीन के भीतर गड्ढों में या इसके लिए बने विशेष घरों में जिन्हें साइलो कहते हैं, दबा देते हैं जहाँ पर इसे हवा नहीं लगती।

साइलो की किस्में : साइलो तीन प्रकार के होते हैं : भूगत साइलो, खाईदार साइलो और टंकीदार साइलो।

1. **भूगत साइलो :** छोटे किसान के लिए 6 फुट व्यास और 12 फुट गहराई वाला वृत्ताकार भूगत साइलो गर्त सुविधा-जनक रहता है। इसमें लगभग $5\frac{1}{2}$ टन ताजा हरा चारा रखा जा सकता है।

2. **खाईदार साइलो** : यह एक लम्बी खाई होती है जो ऊपर से 8 फुट और नीचे से 7 फुट चौड़ी होती है। यह इतनी लम्बी-चौड़ी इसलिए होती है ताकि हरे चारे को अन्दर ले जाने के लिए गाड़ी अन्दर आ सके और साइलेज बाहर निकालने के लिए बाहर जा सके। खाई का धरातल एक ओर को ढलवाँ होना चाहिए। खाई में चारा बराबर अच्छी तरह दबाकर सतह तक भरना चाहिए।

3. **टंकीदार साइलो** : यह जमीन के ऊपर बनता है और आमतौर से टंकी जैसा गोल होता है। यह लकड़ी, ईंट या कंकरीट

का बनाया जाता है। 10 फुट व्यास और 20 फुट ऊंचाई वाले साइलो बुर्ज में लगभग 25 टन हरा चारा रखा जा सकता है। इसमें न्यूनतम हानि होती है। जिन क्षेत्रों में जमीन के अन्दर पानी की सतह ऊंची होती है वहाँ के लिए ऐसे साइलो बहुत उपयुक्त होते हैं।

साइलेज बनाते समय सावधानी : हरे चारे का जमीन से सीधा लगाव न रहे इसके लिए गेहूँ या धान के डन्ठल को गड्ढे के किनारों और धरातल पर लगा देना चाहिए। चारे को अच्छी प्रकार छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लेना चाहिए। कम से कम समय में साइलो को भरने का काम पूरा कर देना चाहिए। साइलो को काफी ऊंचे तक भर देना चाहिए ताकि उसका ऊपरी भाग बैठने के बाद जमीन से ऊंचा रहे। इसकी इसलिए जरूरत पड़ती है क्योंकि गलने के दौरान इसमें काफी सिकुड़न होती है।

साइलो के उपरी भाग को एक फुट मोटी मिट्टी की परत से ढक देते हैं और कीचड़ से लेप कर देते हैं। अगर कोई दरार बाद में पड़े तो उसे तुरन्त बन्द कर देना चाहिए ताकि साइलो में वर्षा का पानी न जा सके।

साइलेज बनाने के उपयुक्त फसलें : सभी सामग्री हरी खाद्य बनाने के काम आ सकती हैं। ज्वार, मक्की, बाजरा,जई जैसी चारा फसलें और गिनी तथा नैपियर जैसी चारा घासें साइलेज बनाने के लिए ज्यादा उपयुक्त हैं। बरसीम, रिजका और लोबिया जैसी काफी प्रोटीन और रसदार फली वाली फसलों का अलग अलग साइलेज तैयार किया जाए तो उससे गन्दी बू आने लगती है। इनका 10 से 15 प्रतिशत अनाज के कटे हरे चारे या सूखी घास के साथ मिला कर साइलेज बनाना चाहिये।

साइलेज की किस्म : अच्छा साइलेज पीले रंग का होता है और उस में अच्छी अम्लीय गंध आती रहती है। थोड़ा इस्तेमाल के बाद पशु इसे चाव से खाते हैं। 2,000 पौंड चारे में 100 पौंड़ नमक छिड़क कर साइलेज को और भी बढ़िया बनाया जा सकता है ।

सूखा चारा : चारे को सुखाने के लिए अनेक विधियां काम में लायी जाती हैं। चारे की 9″ से 12″ मोटी परत जमीन पर रख कर भी सुखाते हैं। चारा तिपाई पर रख कर भी सुखाया जाता है। बरसीम और रिजका खेत की मेंड़ पर रख कर सुखाते हैं । अगर चारा ठीक ढंग से सुखाया जाता है तो वह मिट्टी और फफूंद से रहित सौंधी गंध वाला होता है ।

6.

साग सब्जियां

खेती में अन्य फसलें उगाने की अपेक्षा साग-सब्जियां उगाने से अधिक आमदनी होती है, क्योंकि प्रायः सब्जी उगाने वाले किसान बहुत थोड़ी सी जमीन से ही अच्छी कमाई कर लेते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि सब्जी की फसलें बहुत कम समय में तैयार हो जाती हैं और खेत बहुत जल्दी खाली हो जाते हैं तथा एक खेत से साल में कई बार सब्जी की फसलें ली जा सकती हैं।

सब्जियों की सफल खेती के लिए रोग और कीटाणुओं से मुक्त बीजों की उन्नत किस्में जरूरी हैं। इन किस्मों के लिए अनेक राज्यों के कृषि विभागों ने बीजों का उत्पादन और बिक्री शुरू कर दी है। किसान स्वयं भी आसानी से टमाटर, मिर्च, बैंगन, कद्दू, हरी सब्जियां, मटर, सेम और भिंडी आदि के बीज अपनी पौदशाला में ही पैदा कर सकते हैं। बीजों के लिए और खाने के लिए सब्जियों की खेती में रोगों की रोकथाम करने के लिए छिड़कावक और भुरकावक यंत्रों द्वारा कीटाणुनाशक घोलक और पाउडर इस्तेमाल करने जरूरी हैं। आगे कुछ प्रमुख सब्जियों की खेती के बारे में संक्षिप्त विवरण दिये जा रहे हैं।

गोभी वर्ग : इस वर्ग की फसलों में बंदगोभी, फूलगोभी व गांठ गोभी आती हैं। ये शीत ऋतु की फसलें हैं और पाले का इन पर कोई

1. एच. 158 गुडिपाचम 2. सी. बी. ई. कोयम्बटूर

बैंगन की इन किस्मों के फलों में कीड़े नहीं लगते

3. एच. 129-1 सी 1855 4. एच. 128-क्लस्टर ह्वाइट
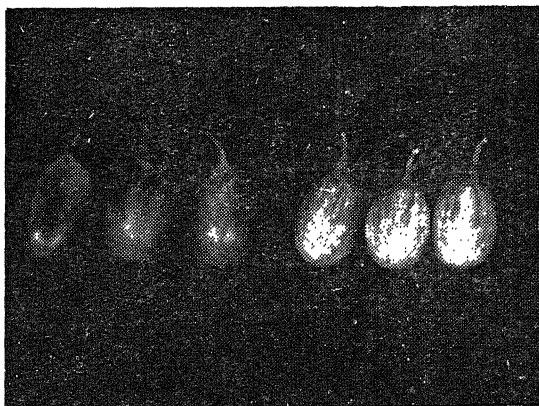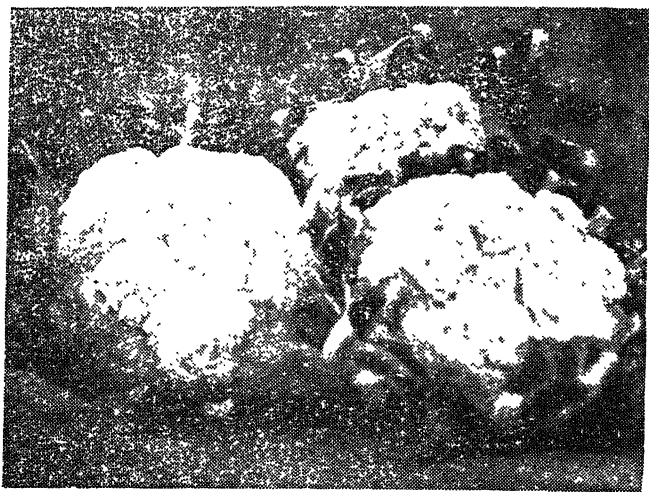
उन्नत किस्म की फूल गोभी (ऊपर) और बंद गोभी (नीचे)

असर नहीं होता। जब ये गरम दशाओं में उगायी जाती हैं तब सब्जी का स्वाद तीखा हो जाता है। तीनों तरह की गोभियों की खेती पौद लगाकर की जाती है।

बुआई और कृषि क्रियायें: उत्तरी भारत के पहाड़ी क्षेत्रों में इसकी बुआई मार्च से जुलाई तक होती है। मैदानी इलाकों में अगेती फूलगोभी जून से अगस्त तक बोयी जाती है। वाहर से मंगाई गई फूलगोभी की किस्मों की बुआई सितम्बर से अक्तूबर के मध्य तक की जाती है। बंदगोभी और गाँठगोभी की बुआई अगस्त से अक्तूबर तक की जाती है। दक्षिण भारत में इनकी बुआई सितम्बर से नवम्बर तक होती है।

पौदा उगाने के लिए बंदगोभी और फूलगोभी का बीज लग-भग 1 पौंड प्रति एकड़ और गांठगोभी का 2 से 3 पौंड प्रति एकड़ तक वोना चाहिए। यदि गाँठगोभी का बीज कूँड़ों में बोया जाए तो एक एकड़ में 4 से 5 पौंड तक वीज डालना चाहिए।

फूलगोभी और बंदगोभी की पौद दो-ढाई फुट के फासले से 12 से 18 इंच तक पौधों के बीच की दूरी रख कर पंक्तियों में लगायी जाती है। लम्बे पौधों वाली किस्म की पौद को ज्यादा अन्तर से लगाया जाता है। गांठगोभी की पौद 12 से 18 इंच तक की दूरी पर पंक्तियों में लगाई जाती है और पौधों के बीच 4 से 6 इंच का अन्तर रखा जाता है। रोपाई से एक या दो सप्ताह पहले भूमि में प्रति एकड़ 80 से 100 पौंड तक नाइट्रोजन और फास्फोरस और 100 से 150 पौंड तक पोटाश देने के लिए उर्वरक-मिश्रण दिया जाना चाहिए। हर 10 से लेकर 15 दिन के अंतर से खेत में पानी देना चाहिए। अगेती फूलगोभी की थोड़े-थोड़े समय बाद

सिंचाई करनी चाहिए और निराई तब तक करते रहना चाहिए जब तक भूमि पत्तों से न ढक जाए।

फसल कटाई : अलग-अलग किस्मों के अनुसार बंदगोभी और फूलगोभी की फसल रोपाई के बाद 2 से 4 महीने के बीच में और गाँठगोभी की एक से डेढ़ महीने तक तैयार हो सकती है। बंदगोभी तब काटनी चाहिए जब उसके पत्तों का बंद पूरा विकसित होकर सख्त हो जाए। फूलगोभी भी उस समय काटनी चाहिए जब उसके फूल का रंग क्रीमी सफेद हो जाए और फूल पूरा बंध जाए। गांठगोभी की कटाई रेशे न पड़ने से पहले ही कर ली जाती है। गाँठगोभी की उपज प्रति एकड़ 9,000 से 10,000 पौंड तक, फूलगोभी की 13,000 से 16,000 पौंड तक और बंदगोभी की 16,000 से 20,000 पौंड तक विभिन्न मात्रा में होती है।

रोग और कीट : गोभी का सबसे खतरनाक रोग गलन है। आमतौर से यह बीमारी बियाड़ में ही पौधों पर हमला कर देती है। आमतौर से इस बीमारी का हमला तब होता है जब खेत में नमी ज्यादा हो और तापमान भी ऊंचा हो। अतः क्यारियों में ज्यादा पानी का ठहरना खतरनाक है। बंदगोभी को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों में तितली, तम्बाकू की सूँड़ी, जुगनू और सरसों की दाँतेदार मक्खी आदि प्रमुख हैं। 60 पौंड पानी में 2 औंस डी० डी० टी० पाउडर घोलकर छिड़काव करने से इन कीड़ों की रोक-थाम की जा सकती है।

उन्नत किस्में : बन्दगोभी, फूलगोभी और गांठगोभी की अगेती और पिछेती फसलों के लिए अनेक उन्नत किस्में विकसित की गई हैं, उन में से कुछ आगे की सारणी में दी जा रही हैं।

गोभी की कुछ प्रसिद्ध किस्में

बंदगोभी	अगेती	प्राइड आफ इंडिया, गोल्डन हैड, ड्रम हैड, अगेती कोपनहैगन मार्केट ।
	पिछेती	ड्रम हैड पिछेती, ग्लोरी आफ एंक्वीजिन, डैनिश बॉल हैड ।
फूलगोभी	अगेती	कुँवारी, अगेती मार्केट, अगेती पटना, कतकी (दूसरी अगेती) ।
	मुख्य	पटना (मुख्य फसल), जाइंट स्नो बॉल ।
	पिछेती	स्नो बॉल, सिलवर किंग, चाइना पर्ल, सुपर स्नोबॉल ।
गाँठगोभी	अगेती	अगेती सफेद, सफेद वियना, पर्पिल वियना ।

जड़ों वाली सब्जियाँ

इस वर्ग में गाजर (अम्बेलीफिरिया परिवार), मूली, शलजम (क्रूसीफिरिया) और चुकन्दर (चिनोपोडीआसी) इत्यादि आते हैं। ये अधिकतर ठंडे मौसम में खूब उगते हैं। फिर भी ये अधिक तापमान को भी सह लेते हैं। खासतौर से मूली इस मौसम में उगाई जा सकती है। इन सबकी जड़ें ही खाने के काम आती हैं क्योंकि इनमें काफी मात्रा में कार्बोहाइड्रेट्स तथा खनिज व विटामिन पाये जाते हैं। खासतौर से गाजर में कैरोटीन भारी अंश में पाया जाता है जो प्राणियों के शरीर में जाकर विटामिन 'ए' के रूप में बदल जाता है।

मूली : उत्तरी भारत में मूली जून के मध्य से लेकर फरवरी-मार्च तक उगाई जाती है। परन्तु मूली का खास मौसम अगस्त से जनवरी तक होता है। यूरोपियन किस्म की मूली पूरे साल उगाई जा सकती है। परन्तु बम्बई के लिए अप्रैल से जून तक और अक्तूबर से दिसम्बर तक और मद्रास और आन्ध्र प्रदेश के लिए मार्च और अगस्त तक का समय सबसे अच्छा रहता है। पहाड़ी क्षेत्रों में मार्च से अक्तूबर के अन्त तक मूली की बुआई की जाती है। मूली के लिए साधारणतया एक एकड़ में 8 पौंड बीज बोया जाता है।

मूली, शलजम : उत्तरी भारत में जुलाई से सितम्बर तक शलजम की देशी किस्में बोई जाती है और यूरोपियन किस्म की शलजम अक्तूबर से दिसम्बर तक बोई जाती है। दक्षिणी भारत में जुलाई और दिसम्बर के मध्य की जाने वाली बुआई सर्वोत्तम मानी जाती है। बम्बई राज्य में ठण्डे मौसम में यानी सितम्बर से फरवरी तक और इसके अलावा बरसात के मौसम में मूली खूब उगाई जाती है। पहाड़ी क्षेत्रों में अगेती मूली की फसल मार्च से मई तक और पिछेंती फसल अगस्त से सितम्बर तक बोई जाती है। मूली उगाने के लिए एक एकड़ में 3 पौंड बीज डाले जाते हैं।

गाजर और चुकन्दर : उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्रों में गाजर की देशी किस्म अगस्त के मध्य से अक्तूबर के अन्त तक और यूरोपियन किस्में सितम्बर के मध्य से लेकर नवम्बर के अन्त तक उगायी जाती हैं। बम्बई और दक्षिण भारत में गाजर सितम्बर, अक्तूबर और मई में बोई जाती है। पहाड़ी क्षेत्रों में गाजर और चुकन्दर की बुआई मार्च से जुलाई के मध्य तक की जाती है। एक एकड़ भूमि की बुआई के लिए 16 पौंड गाजर के बीज और 20 पौंड चुकन्दर के बीज पर्याप्त रहते हैं।
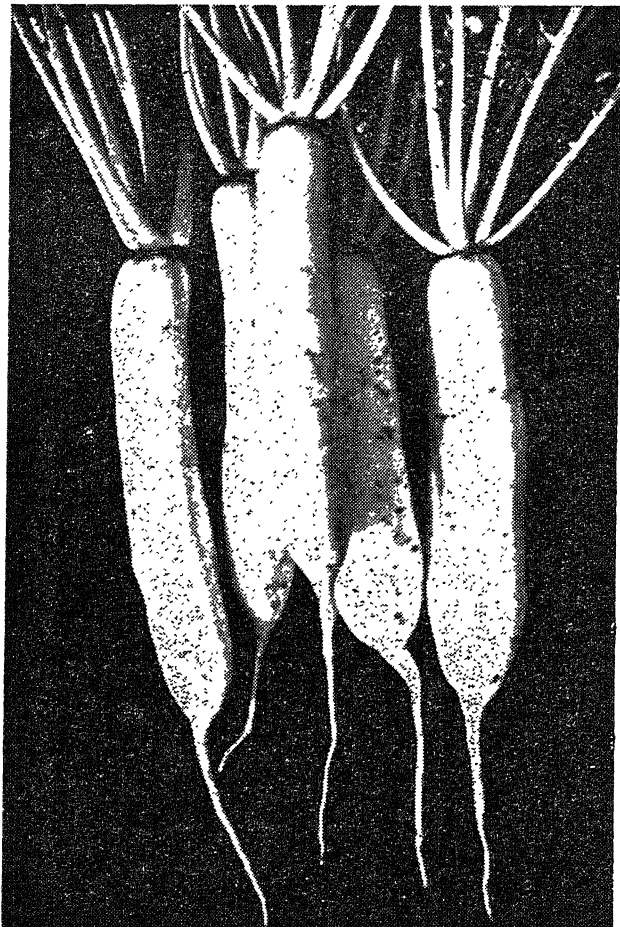
मूली की सफेद लम्बी उन्नत किस्म

गाजर की दो अच्छी किस्में

बुआई और कृषि क्रियायें : ये सभी फसलें डौलियों पर डेढ़ फुट का फासला छोड़कर बोई जाती हैं। डौली के ऊपरी भाग में छोटा सा, करीब डेढ़ इंच चौड़ा कूंड बना दिया जाता है। बोते समय बीज को रेत मे मिलाकर हाथ से कूंड में डाल दिया जाता है और फिर उसे हल्की-हल्की मिट्टी से ढक दिया जाता है। बुआई के तुरन्त बाद डौलियों के बीच में पानी दिया जाता है। सिंचाई में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पानी डौलियों के ऊपर तक न पहुँच जाए। सिंचाई गर्मियों में चार या पांच दिन के अन्तर से और ठंडे मौसम में आठ-दस दिन के अन्तर से की जाती है। फसल उगने से पहले ही खेत के खरपतवार साफ कर देने चाहिएं। पास-पास घने उगे हुए पौधों की जड़ें बहुत अधिक नहीं पनपतीं। इसलिए समय से पूर्व ही पौधों के बीच में जगह छोड़ देनी चाहिए और उनको एक कतार में कर देना चाहिए। फसल को 40 से 50 पौंड तक नाइट्रोजन और फास्फोरस तथा 80 से 100 पौंड तक पोटाश देने के लिए उपयुक्त उर्वरक देने चाहिएं ताकि अच्छी उपज ली जा सके।

उपज और खुदाई : देशी मूलियाँ बुआई के 45 दिन बाद खोद ली जाती हैं, जब जड़ों की मोटाई $1\frac{1}{2}$ इंच हो जाती है और वे नर्म और खाने के लायक समझी जाती हैं। परन्तु यूरोपियन किस्म की मूलियाँ बोने के बीस दिन बाद ही उखाड़ ली जाती हैं, अन्यथा वे अन्दर ही खोखली हो जाती हैं और उनके गूदे में जाली पड़ जाती है। देशी किस्म की मूली की औसत पैदावार प्रति एकड़ 10,000 पौंड से 16,000 पौंड के बीच होती है। यूरोपियन किस्म की मूली की औसत पैदावार प्रति एकड़ 4,000 से 6,000 पौंड तक होती है। जब शलजम की गोलाई तीन-चार इंच हो जाती है तो उसे उखाड़ लेते हैं। इसकी पैदावार एक एकड़ में 15,000 से 20,000 पौंड

तक होती है। गाजर की पैदावार विभिन्न स्थानों पर प्रति एकड़ 10,000 से 20,000 पौंड तक होती है।

रोग और कीट : इन फसलों पर 'मृदु गलन' रोग के जीवाणु तेजी से आक्रमण करते हैं। यह रोग नाइट्रोजनधारी उर्वरक और विशेष रूप से नाइट्रेट आफ सोडा खेतों में डालने से बढ़ जाता है।

इन फसलों में एफिड्स, चित्तीदार बग और ब्रेगेडा पिक्टा नामक कीड़े लग जाते हैं। इन्हें क्रमशः तम्बाकू के घोल या निकोटीन सल्फेट और बिरोजा कीट साबुन या बिरोजा घोल के छिड़काव द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

उन्नत किस्में : जड़ों वाली सब्जियों की उन्नत किस्में नीचे की सारणी में दी जा रही हैं :

जड़ों वाली सब्जियों की उन्नत किस्में

मूली	देशी	सफेद लम्बी, लाल लम्बी, बैंगनी लम्बी, देसी कन्नौजी सफेद और लम्बी गहरी लाल।
	यूरोपियन	गहरी लाल गोल, सफेद आइ-सिकिल।
शलजम	देशी	सफेद तथा लाल किस्में।
	यूरोपियन	सुनहरी गोल, सफेदगोल (स्नो-वाल) बैंगनी सिरेवाली।
गाजर	देशी	नारंगी और काले रंग की।
	यूरोपियन	नांटस, गहरी लाल, हार्न, चेन्टनी, डैन्वर्स हाफ लांग, ओक्सहार्ट।

गांठों वाली सब्जियां

प्याज और लहसुन कंद वाली दो मुख्य फसलें हैं जो लिलियासी परिवार की ऐलियम प्रजाति के अन्तर्गत आती हैं। इनकी बुआई सर्दियों में होती है और तेज गर्मी पड़ने से पहले ही उन्हें खोद लिया जाता है। प्याज की गांठ में एक पर एक चढ़ी मोटी परतें होती हैं और इनके बीच में थोड़ा सा गूदा होता है। लहसुन के कंद के अन्दर 10 से 50 तक संख्या में छोटे-छोटे टुकड़े जुड़े होते हैं, जो कि सफेद या हल्के गुलाबी छिलके से ढके होते हैं।

प्याज आरम्भ में बीज द्वारा और लहसुन टुकड़ों द्वारा उगाया जाता है। प्याज की मुख्य फसल पौद रोप कर उगाई जाती हैं। जो बियाड़ में बीज बोकर तैयार की जाती है। 272 वर्ग फुट भूमि में एक पौंड प्याज का बीज दो इंच गहरा कतारों में बोना चाहिए। बुआई के बाद तत्काल सिंचाई कर देनी चाहिए। इसके बाद लगभग एक सप्ताह तक जब तक अंकुर न फूटें तब तक उसमें नमी रखनी चाहिए। इसके बाद हर सप्ताह सिंचाई करते रहने का रिवाज है। पौद आठ सप्ताह में लगभग 6 इंच लम्बी होने पर रोपाई के लायक हो जाती है।

बुआई और कृषि क्रियायें : पहाड़ी क्षेत्रों में लहसुन अप्रैल और मई के महीने में बोया जाता है। उत्तर भारत में सितम्बर और अक्तूबर में वर्षा का मौसम समाप्त होते ही इसकी रोपाई शुरू हो जाती है। दक्षिण भारत में अगस्त से सितम्बर तक बुआई होती हैं। एक एकड़ की रोपाई के लिए 6 से 8 मन तक (500 से 650 पौंड) लहसुन की गांठों की जरूरत होती है।

उतर भारत में अक्तूबर से नवम्बर के मध्य तक प्याज का बीज बोया जाता है और खेतों में इसकी रोपाई दिसम्बर और जनवरी में की जाती है। बम्बई राज्य के धारवाड़ जिले में और मैसूर राज्य के हंसुर तालुके में प्याज की फसल पौद रोप कर उगायी जाती है। पौद अप्रैल और मई में बीज की बुआई करके उगायी जाती है। पौद को अगस्त के शुरू में या सितम्बर में दिसम्बर की मुख्य फसल उगाने के लिए खेत में रोप दिया जाता है। हैदराबाद में बीज की बुआई अक्तूबर से नवम्बर तक, मध्यप्रदेश में सितम्बर के मध्य में और पश्चिमी बंगाल में सितम्बर से नवम्बर के बीच की जाती है। प्याज के बीज दो साल से अधिक समय तक नहीं रखे जा सकते। इसलिए प्रत्येक बार बोने के लिए नया बीज खरीदना चाहिए। एक एकड़ फसल पैदा करने के वास्ते पौद तैयार करने के लिए 8 से 10 पौंड तक बीज पर्याप्त होता है। परन्तु यदि सीधे बीज बोकर फसल उगानी हो तो बीज इससे दुगुनी मात्रा में बोया जाना चाहिए ताकि अच्छी उपज ली जा सके।

लहसुन की फसल उसके टुकड़े लगा कर या कूंड़ों में रोपकर अथवा तीन इंच के फासले पर कतारों में दो इंच गहरा चोबकर उगायी जाती हैं। कतारों के बीच अन्तर 6 इंच से 9 इंच होना चाहिए। बुआई के बाद तत्काल ही खेत की सिंचाई कर देनी चाहिए।

प्याज की पौद तीन या चार इंच के फासले पर पंक्तियों में रोपनी चाहिए। पंक्तियों के बीच का अन्तर 9 से 12 इंच तक का होना चाहिए। पौद रोपने के बाद फौरन खेतों की सिंचाई कर देनी चाहिए। पौद लगाने से पहले मिश्रित उर्वरक इस अनुपात

से देना चाहिए कि प्रति एकड़ भूमि को 50 पौंड नाइट्रोजन, 50 पौंड फास्फोरस और 100 पौंड पोटाश मिल सके। बुआई के एक महीने बाद फसल में 50 पौंड नाइट्रोजनधारी खाद देनी चाहिए।

उपज और खुदाई : प्याज की खुदाई उस समय की जाती है जब प्याज की डण्डी सूखकर गिर जाए और पत्तियाँ पीली पड़ जाएं। लहसुन उस समय खोदा जाता है जब उसका ऊपर वाला भाग भूरा हो जाता है और सूखता सा दिखाई देता है। लहसुन को खोदने के बाद छाया में सुखा लेना चाहिए। प्याज की उपज प्रति एकड़ 8,000 से 24,000 पौंड तक और लहसुन की उपज 7,000 से 10,000 पौंड तक होती है।

रोग और कीट : प्याज और लहसुन की फसल में कभी-कभी थ्रिप्स टेबेसी और ऐल्टरनेरिया सोलानी नामक कीटाणुओं के कारण चित्ती रोग हो जाता है। प्रति एकड़ में 25 पौंड में 5 प्रतिशत बी० एच० सी० बुरकने से या डी० डी० टी० 550 घुलनशील पाउडर का घोल (50 गैलन पानी में 1 पौंड के हिसाब से घोलकर) सात दिन के अन्तर से छिड़क कर चित्ती रोग को रोका जा सकता है। प्याज के चित्ती रोग पर बोर्डो मिश्रण का छिड़काव करके और फसल की उचित देखभाल और सफाई रखके नियंत्रण किया जा सकता है।

उन्नत किस्में : गांठदार सब्जियों की दो प्रमुख किस्में (प्याज और लहसन की कुछ उन्नत किस्में) अगले पृष्ठ की सारणी में दी जा रही हैं।

प्याज और लहसुन की प्रमुख किस्में

प्याज देशी	लाल गोल, सफेद गोल, पीली गोल, सफेद पटना, बड़ी लाल, लाल पटना, लाल पूना, लाल नासिक, लाल बेल्लारी या यादगिरी, धूलिया ।
बाहर की किस्में	पुर्तगाली सफेद, सिल्वर स्किन, आस्ट्रेलियन भूरी, मीठीस्पेनिश, इटैलियन लाल ।
लहसुन	इसकी अलग-अलग किस्में नहीं हैं, परन्तु गठीले कंद वाली और मोटे सफेद छिलके की गांठें अच्छी समझी जाती हैं ।

फलीदार सब्जियां

फलीदार फसलें लेग्यूमिनोसी परिवार से सम्बन्धित हैं, जो न केवल फलों और बीजों के लिए उगायी जाती हैं, बल्कि हरा चारा, साइलेज और हरी खाद के लिए भी उगायी जाती हैं और इनकी जड़ें जमीन में गहरी जाती हैं ।

मटर ठंडी ऋतु की फसल है जो पाले को भी सह सकती है । सेम की कई किस्में होती हैं जो गरम जलवायु चाहती हैं । इन्हें पानी की भी काफी मात्रा में जरूरत पड़ती है तथा ये पाले को नहीं सह सकतीं । यदि मिट्टी में अधिक अम्लता हो तो सेम और मटर दोनों फसलों को हानि हो सकती है ।

बुआई और कृषि क्रियायें : पहाड़ी इलाकों में मटर की मुख्य फसल की बुआई अप्रैल से मई के अन्त तक और दूसरी फसल की बुआई पतझड़ में होती है । फ्रेंच बीन (फ्रांस की सेम) की बुआई पहाड़ों पर मई और जून के महीनों में की जाती है ।

मैदानों में मटर की मुख्य फसल की बुआई सितम्बर से नवम्बर तक और कुछ स्थानों में बरसाती फसल के रूप में जून और जुलाई में की जाती है । सेम की अगेती फसल की बुआई फरवरी और मार्च में और पिछेती फसल की जून और जुलाई में की जाती है । मटर का बीज लगभग 40 से 60 पौंड तक, फ्रेंचबीन का 50 से 60 पौंड तक, ग्वार का 10 से 15 पौंड तक, लोबिया का 20 से 25 पौंड तक और सेम (डबलबीन) का 12 से 15 पौंड तक प्रति एकड़ की दर से खेत में डाला जाता है ।

कटाई : मटर और सेम सिंचाई की सुविधा वाले क्षेत्रों में ऊँची क्यारियों के किनारों पर बोई जाती हैं। क्यारियों की चौड़ाई 3-6 फुट तक होती है । जहाँ सिंचाई की सुविधा नही हैं,वहाँ इनके बीज ड्रिल द्वारा 12-26 इंच की दूरी पर पंक्तियों में बोये जाते है । मटर की पंक्तियों के बीच में दो से तीन इंच तक, छोटी सेम की पंक्तियों के बीच में तीन इंच से चार इंच तक, ग्वार की कतारों के बीच में 1 से 2 इंच तक और रनर बीन की पंक्तियों के बीच में 13 से 24 इंच तक फासला रखा जाता है । जब पौधे 6 इंच तक ऊँचे हो जाएं तब लम्बी किस्मों को लकड़ी की टेक के सहारे खड़ा कर देना चाहिए ।

सूखे मौसम में मटर और सेम की फसल में 10 से 14 दिन के बाद पानी देना पड़ता है और बरसात में आवश्यकतानुसार पानी

दिया जाया है । अधिक उपज के लिए उर्वरकों की पर्याप्त मात्रा देना भी जरूरी होता है । फलियों वाली फसलें वायुमंडल से नाइट्रोजन का अंश खींच लेती है । फिर भी इन फसलों के विकसित होने के समय यदि हल्की मात्रा में नाइट्रोजनधारी उर्वरक दिया जाए तो उपज अच्छी मिलती है । इस में प्रति एकड़ 10 से 20 पौंड तक नाइट्रोजन, 50 से 60 पौंड तक फास्फोरस और 50 से 70 पौंड तक पोटाशधारी उर्वरक दिये जा सकते हैं ।

उपज और चुनाई : खाने के लिए मटर की फलियां उस समय तोड़नी चाहिएं जब उनमें पूरी तरह दाने भर जाएं । इस समय नरम मटर का रंग गहरे हरे रंग से बदल कर हल्का हरा हो जाता है । सेम की फलियाँ उस समय तोड़नी चाहिएं, जब उनकी फलियां दाने से भर गई हों और घनी हो गई हों । मटर की उपज एक एकड़ में 5,000 पौंड, ग्वार की 5,800 पौंड और सेम की 3,000 पौंड तक होती हैं ।

रोग और कीट : इन फसलों पर फ्यूजेरियम, तना गलन रोग, मुरझान, चित्ती वाली सूखी फफूंद और रतुआ इत्यादि बीमारियों का आक्रमण होता रहता है । इन बीमारियों की रोकथाम के लिये खरपतवार निकालकर खेत की सफाई रखना, रोग रोधी किस्मों के बीज बोना, फसलों में फेर बदल करना, गंधक छिड़कना तथा रोग नियंत्रण के अन्य उपाय करना आवश्यक है ।

उन्नत किस्में : फलीदार सब्जियों में मुख्य तौर पर मटर, ग्वार, लोबिया और फ्रेंचबीन आती हैं । इनकी प्रमुख उन्नत किस्में अगले पृष्ठ की सारणी में दी जा रही हैं :

फलीदार सब्जियों की प्रमुख किस्में

मटर	अगेती : गोल या सफेद बीज वाली, गोल हरी बीज वाली, बौना या बोनिया, थामस लैक्सटन । मध्यम : पी० 8, पी० 35 (पंजाब), एन० पी० 29 (पूसा), मैरो फैट, अमेरिकन वंडर, टेलीफोन । पिछैती : फिनोमिनन, नगनी, ब्रांतिया केप या तलवार (ग्रीनफीस्ट) खपड़खेडा (मध्य प्रदेश), एल्डरमैंन
ग्वार	एक तने वाली : सुताया, चिकनी फलीवाली : मखनिया या तेलिया, रोएंदार फलीवाली : परदेशी, गुजराती, नडियाद ।
लोबिया	फिलीपाइन अगेती (पूसा), नं० 419 (आंध्र)
फ्रेंचबीन	केंटकी बंडर, बाउंटीफुल ड्वार्फ, चाकलेट, श्योर क्राप, रिफ्यूजी वैक्स ।

फलदार सब्जियाँ

इस वर्ग की फसलों में टमाटर, बैंगन, शिमला मिर्च या लाल मिर्च और भिंडी आदि हैं । पहली तीन तरकारियाँ सोलेनेशिया और शेष मालवेशिया परिवार से सम्बन्धित हैं । ये गरम ऋतु की फसलें है और ठंड और पाले को सहन नहीं कर सकतीं । इनके फल बहुत ही पौष्टिक और विटामिन युक्त होते हैं । टमाटर में विटामिन ए०, बी० और सी०, बैंगन में ए० और बी०, मिर्च में सी० और भिंडी में ए०, बी० और सी० तीनों विटामिन पाये जाते हैं । टमाटर और हरी मिर्चों में विटामिन सी० काफी होता है ।

बुआई और कृषि क्रियायें : टमाटर, मिर्च और बैंगन के बीज बहुत ही छोटे होते हैं। ये आमतौर से बियाड़ में बोये जाते हैं। एक मर्ला (272 वर्ग फीट) में दो-तीन औंस बीज तीन इंच की दूरी पर कतारों में बोये जाते हैं। गर्मियों में पौद की क्यारियों पर छाया भी करनी पड़ती है। पौद चार से छः सप्ताह के अन्दर रोपाई के लिए तैयार हो जाती है। पौद को तेज सर्दी से बचाने के लिए सरकंडों की बाढ़ बनाकर लगा देते हैं जिससे वे सर्दी से बचे रहें। मामूली गर्मी शुरू होते ही भिंडी के बीजों को सीधे खेत में बो दिया जाता है।

उत्तरी भारत में टमाटर और बैंगन की तीन फसलें उगाई जाती हैं। मिर्चों की पहली बुआई जुलाई में और दूसरी अक्तूबर में की जाती है। परन्तु जब फसल को सीधे खेत में ही उगाना हो तब बुआई लगभग मध्य मार्च तक की जाती है। दक्षिण भारत में पूरी साल ये फसलें उगाई जाती हैं। फिर भी टमाटर और मिर्च के लिए सबसे उपयुक्त समय बरसात का और बैंगन के लिए सर्दियों का मौसम अच्छा रहता है। रोपाई के लिए जून से अगस्त तक और अक्तूबर से फरवरी तक के महीने उपयुक्त रहते हैं। एक एकड़ फसल के लिए पौद उगाने के लिए 12 से 16 औंस तक बीज काफी रहते हैं।

आमतौर पर पहाड़ी इलाके में भिण्डी के बीज अप्रैल से जुलाई तक सीधे खेत में बो दिये जाते हैं। मैदानों में अगेती फसल जनवरी से मार्च तक और पछेती फसल वर्षा आरम्भ होते ही बो दी जाती है। अगेती फसल के लिए बीज घना या पास पास 20 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से और पिछेती फसल के लिए 10 से 12 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से बोया जाता है।
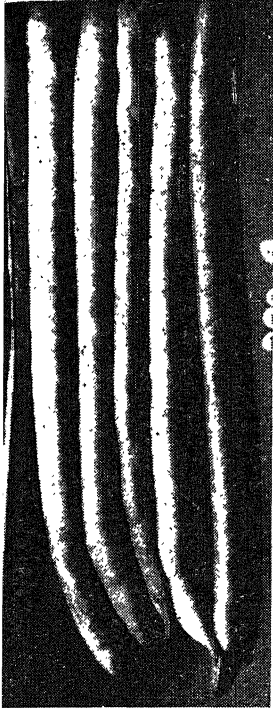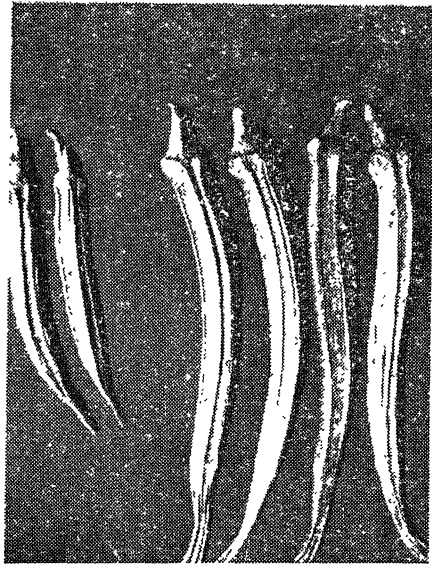
देखने में आकर्षक और खाने में स्वादिष्ट पूसा मखमली भिंडियाँ

लोबिया की एक उन्नत किस्म की फलियाँ
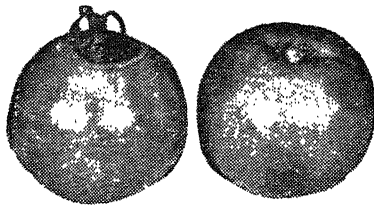
मध्यम आकार के पूसा रूबी और छोटे आकार के पूसा रैड प्लम टमाटर; ये किस्में अधिक उपज देने और रोगों का मुकाबला करने के लिये प्रसिद्ध हैं
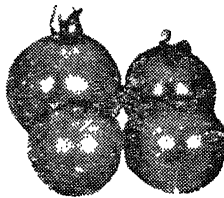
मटर की 'अर्ली जाइंट' किस्म की दानों से भरी फलियां
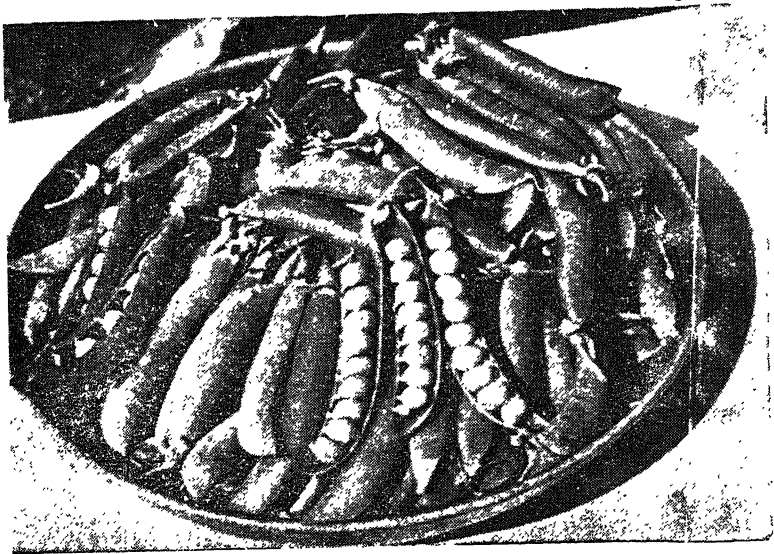
खेतों में पौद दो--तीन फुट के अन्तर से कतारों में 15 से 18 इंच तक के फासले पर रोपी जाती है। पौद कतारों में पौधों के बीच में 8 से 12 इंच का फासला रखकर रोपी जाती है। रोपाई के तुरन्त बाद सिंचाई का जाती है और बाद में हर सप्ताह सिंचाई की जाती है। टमाटर के पौधे 9 इंच से 12 इंच तक ऊंचे होने पर उनको सहारा देने के लिए लकड़ी की टेक लगाने की जरूरत पड़ती है। बीच में अनेक बार खरपतवार निकालने के लिए निराई-गुड़ाई करनी पड़ती है।

भिंडी के बीजों को बोने से पहले 24 घण्टे पानी में भिगो देना अच्छा रहता है। इस से बीजों के ऊपर वाला सख्त छिलका मुलायम हो जाता है। इस से अंकुरण शीघ्र होता है। बीज डेढ़ फुट से दो फुट की दूरी पर कतारों में घने बोये जाते हैं और रोपाई के समय पौधों के बीच में 10 से 12 इंच तक का फासला रखा जाता है।

रोपाई या बोआई करने से पहले प्रति एकड़ 40 पौंड से 60 पौंड तक नाइट्रोजन, 60 पौंड से 80 पौंड तक फास्फोरस और 100 पौंड से 120 पौंड तक पोटाश पूरक उर्वरक-मिश्रण देना चाहिए।

उपज और चुनाई : बाजार में बेचने के लिए टमाटर को उस समय तोड़ना चाहिए जब वह या तो गुलाबी हो चला हो या गुलाबी या लाल हो रहा हो। बैंगन को पकने से पहले ही तोड़ लिया जाता है।

शिमला मिर्च पूर्णतः विकसित होने पर, रंग बदलने से पहले ही तोड़ ली जाती है। भिंडी नरम और कच्ची ही तोड़ ली जाती हैं।

बैंगन की प्रति एकड़ उपज 15,000 पौंड, टमाटर की 16,000 पौंड, मिर्च की 3,000 पौंड और भिंडी की 6,000 पौंड तक होती है।

रोग और कीट : इस वर्ग की फसलों के भयंकर रोग पत्ती सिकुड़ना, चित्ती, पत्तियों की नसों का फूल जाना आदि हैं जो कि वायरस (विषाणु) द्वारा उत्पन्न होते हैं और फूलों पर आने-जाने वाले काले कीड़े, ऐफिड्स, सफेद मक्खी और दीमक इत्यादि के द्वारा फैलते हैं। इन बीमारियों की रोकथाम निकोटीन सल्फेट, साबुन का घोल, डी० डी० टी० और चूना-गंधक के इस्तेमाल से की जा सकती है।

उन्नत किस्में : फलवाली सब्जियों की उन्नत किस्में नीचे दी जा रही हैं :

फलवाली सब्जियों की प्रमुख किस्में

सब्जी	किस्में
टमाटर	बौनी बैस्ट, बैस्ट आफ आल, लाल बड़ा, रटजर्स, मारग्लोव, पौंडेरोसा, आक्सहर्ट, सिओक्स।
बैंगन	ब्लैक ब्यूटी (काला), लम्बा काला, सफेद गोल, बनारस जाइंट, पूसा नीला, मुक्तकेशी, एस० ई० आई०, एस० ई० 2 (बिहार), सूरती गोटा, मंजरी गोटा।
मिर्च	गर्म किस्में : सनौरी, पटना लाल, सरहिन्दी, एन० पी० 46, केन्द्रपुरा गंटूर किस्में, सुबारा, बालसोर, सीलोन। शिमला मिर्च : चायना जाइंट, कैलिफोरनिया वंडर, बर्डबीटर।
भिंडी	अगेती : भिंडी नं० 13 (पंजाब कृषि विभाग), अलखनवी छोटी, पूसा मखमली। मुख्य : हरी लम्बी, मखमली, लम्बी हरी, चिकनी, हरी मखमली, परकिन्स लम्बी हरी।

हरी पत्तीदार सब्जियाँ

देश भर में लगभग 20 किस्म की पत्तीदार साग-सब्जियां उगायी जाती हैं। ये सभी सब्जियां खेतों में बीज बो कर उगायी जाती हैं। इसके लिए पहले बियाड़ में पौद तैयार करने की जरूरत नहीं।

बुआई और कृषि क्रियायें : पालक (स्पीनक) और मैथी (फेनुग्रीक) की फसलें मैदानी इलाकों में जून से नवम्बर के मध्य तक और दुबारा जनवरी-फरवरी में उगायी जाती हैं। मैदानों में चौलाई (अमरंथम) और कुल्फा (परस्लेन) की फसलें मार्च से लेकर जुलाई के अन्त तक उगायी जाती हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में काण्डयारी पालक (ट्रू स्पीनक) मार्च से अप्रैल तक और दुबारा सितम्बर से अक्तूबर तक उगाया जाता है। इसी प्रकार पहाड़ों पर चौलाई मई से जुलाई तक और कुल्फा अप्रैल से मध्य सितम्बर तक बोया जाता है। पालक, काण्ड्यारी पालक, मैथी, चौलाई और कुल्फा उगाने के लिए क्रमशः 30, 20, 13, 2 और ढाई पौंड प्रति एकड़ बीज बोया जाता है।

सिंचाई की सुविधा के अनुसार खेत को छोटे-छोटे टुकड़ों या क्यारियों में बांट लिया जाता है। इनका बीज छिटककर बोया जाता है और बीज को दबाने के लिए क्यारी की ऊपरी सतह को कुरेद दिया जाता है। बुआई के तुरन्त बाद सिंचाई की जाती है और फिर 8-10 दिन के अन्तर से सिंचाई चलती रहती है। खरपतवार हाथ से निराई करके निकाले जाते हैं। प्रति एकड़ 25 पौंड नाइट्रोजन, 25 पौंड फास्फोरस और 50 पौंड पोटाशधारी उर्वरक बुआई से पहले फसल में दिये जा सकते हैं। 25 पौंड नाइ-

ट्रोजनधारी उर्वरक हर कटाई के बाद खड़ी फसल में दिया जा सकता है।

उपज और कटाई : इन फसलों की कटाई उस समय की जाती है जब पत्तियाँ हरी और मुलायम होती हैं। पत्तियाँ ज्यादा पकने पर कटाई नहीं की जाती। बोने के 6 से 8 सप्ताह बाद ही फसल पहली कटाई के लायक हो जाती है और फिर हर तीसरे सप्ताह कटाई की जाती है। हरी पत्तियों की प्रति एकड़ उपज 4,000 से 8,000 पौंड के बीच में होती है।

रोग और कीट : आर्द्रगलन और तना गलन नामक दो बीमारियों से इन फसलों को भारी नुकसान पहुँचता है। यदि बीज के वजन के 0·25 प्रतिशत की दर से बीज में सिरेसन बुरक दिया जाए तो इन बीमारियों की रोकथाम हो सकती है।

किस्में : व्यापारिक दृष्टि से इन फसलों की कोई खास किस्में नहीं मानी गई हैं। केवल देशी किस्में ही उगायी जाती हैं।

ककड़ीवर्गीय फसलें

इस वर्ग में ककड़ी, तरबूज, कद्दू, खीरा और पेठा इत्यादि आते हैं जो कुकरबिटेशिया परिवार से सम्बन्धित हैं। ये गर्म मौसम की फसलें केवल सभी आमतौर पर फैलने वाली बेलें होती हैं। परबल तथा टोंडली बारहमासी फसलें हैं और बाकी मौसमी हैं। पके तरबूज और खरबूजे फलों की तरह खाये जाते हैं। इनके कच्चे तथा हरे फलों की सब्जी बनाई जाती है। इनमें पर्याप्त विटामिन पाये जाते हैं।

परबल और टोंडली उत्तर-पश्चिमी भारत में नहीं उगाये जाते। इसके अलावा इस वर्ग की अन्य सब फसलें सारे भारत में उगायी जाती हैं। हमारे देश में टिंडा, तरबूज और खरबूजे पहाड़ों पर नहीं उगाये जाते। ये सब फसलें सीधे बीज बोकर उगायी जाती हैं। केवल परबल तथा टोंडली ही ऐसी फसलें हैं जो कतार लगा कर भी उगायी जा सकती हैं।

बुआई और कृषि क्रियायें : इन फसलों के बीज पहाड़ों पर अप्रैल से लेकर जुलाई तक और मैदानों में जनवरी से मार्च तक वोये जाते हैं। लौकी, चिकनी तोरई, करेला, और देशी टिंडे की पिछेती बरसाती फसलें वर्षा शुरू होने पर बोने के बाद मई से जुलाई तक उगायी जाती हैं। बोने के लिए बीज की दर प्रति एकड़ इस प्रकार हैं : खरबूजा—4 पौंड तक, ककड़ी—2 से 3 पौंड तक, खीरा—दो से ढाई पौंड तक, तरबूज—3 पौंड, टिंडा—4 से 5 पौंड तक, परबल 20 पौंड, (परबल कतर लगाकर भी लगाया जा सकता है। टोंडली भी कतर लगाकर उगाई जाती है। चचिंडा—4 से 5 पौंड तक, घिया या कद्दू—3 से 4 पौंड तक, हलुआ कद्दू—6 से 7 पौंड तक।

इनके बीजों को या तो बखेर कर बोया जा सकता है या सिंचाई की नालियों के पास क्यारियों के किनारों पर पौद रोपी जा सकती है जिससे पौधों की जड़ों को सुविधानुसार पानी मिलता रहे। क्यारी की चौड़ाई बेलों की लम्बाई के अनुसार होती है। जितनी छोटी बेलें होंगी उतनी ही पास-पास रोपाई की जाएगी। खरबूजा, ककड़ी, खीरा, टिंडा, करेला और घिया की क्यारियों की चौड़ाई 5 फुट, घिया, चचिंडा, परबल, टोंडली, काशीफल और

तरबूज की क्यारी की चौड़ाई 8 फुट और चिकनी तोरी तथा कद्दू की क्यारी की चौड़ाई 10 से 12 फुट तक होनी चाहिए। पहाड़ी क्षेत्रों में तरबूज का बीज 2 फुट के अन्तर पर, खीरे का तीन फुट के अन्तर पर बोया जाता है। इनके तीन-चार बीज एक साथ लगभग 3 इंच की गहराई में बो दिए जाते हैं। बुआई के तुरन्त बाद सिंचाई की जाती है। जब पौधे अच्छी तरह उग जाते हैं तब उन्हें छितरा दिया जाता है। गर्मियों मे हर तीसरे-चौथे दिन इन फसलों को पानी दिया जाता है। कई बार खरपतवार हटाने के लिए निराई भी की जाती है। इन फसलों में 50 पौंड फास्फोरस और 100 पौंड पोटाश का मिश्रण बुआई से पहले दिया जा सकता है।

उपज और कटाई : खरबूजा और तरबूज पकने पर तोड़ लिए जाते हैं। इन सभी फसलों के फल सब्जी के रूप में इस्तेमाल करने के लिए हरे और कच्चे ही तोड़ लिए जाते हैं। उपरोक्त विभिन्न फसलों की प्रति एकड़ औसत उपज इस प्रकार है :

खरबूजा 8,000 पौंड से 10,000 पौंड तक, ककड़ी 12,000 पौंड तक, खीरा 7,000 से 8,000 पौंड तक, तरबूज 6,000 से 8,000 पौंड तक, करेला 5,000 से 8,000 पौंड तक, परबल 8,000 से 10,000 पौंड तक, टोंडली 15,000 से 20,000 पौंड तक, सीताफल 16,000 से 24,000 पौंड तक और विलायती 8,000 से 10,000 पौंड तक।

रोग और कीट : यदि मौसम में ज्यादा नमी होती है तो क्यूकरबिटेशियम वर्ग की फसलों पर डौनी मिल्डयू और चूर्ण फफूंद चढ़ जाती है। ये पत्तियों को हानि पहुँचाती हैं। पिसा हुआ अच्छा गन्धक खूब भुरकने और एक प्रतिशत बोर्डो मिश्रण छिड़कने से

फसल को बचाया जा सकता है। हानिकारक कीटों में लाल कद्दू का कीड़ा सब से खतरनाक है जो अंकुरण के समय छोटे छोटे पौधों को हानि पहुँचाता है। 25 सेर पानी में एक छटांक लैड आर्सीनेट का घोल छिड़क कर या 1 से 2 पौंड सोडियम फ्लूओ-सिलीकेट और राख को 1 : 8 के अनुपात से मिला कर भुरकने से कीड़ों की रोकथाम की जा सकती है। इन फसलों पर सब्जी वाली दीमक भी आक्रमण कर देती है। परन्तु चूने गन्धक के घोल का छिड़काव करके इसे रोका जा सकता है।

किस्में : देशी किस्मों को छोड़ कर इन की कोई खास किस्म नहीं पाई जाती हैं, क्योंकि ये ऐसी फसलें हैं जिनको विकसित करना और फिर उनको शुद्ध रखना बहुत कठिन है फिर भी बाहर से मंगाई गई तरबूज की कुछ विशेष किस्में हैं, जैसे ग्रीनमाउंटेन, डिक्जीक्वीन और क्लेक्ले स्वीट। कद्दू की तुर्क कैप, व्हाइट ब्रुश, लुच्चिम, गोल्डन डिलीशियस, कोकीजेले, तुकनैक और पट्टी पैन नामक कुछ विदेशी किस्में भारत में उगायी जा रही हैं।

कंद वाली सब्जियाँ

कंद वाली सब्जियों में आलू, अरबी और जिमीकंद मुख्य हैं। आलू ठंडे और नमीदार इलाकों में उगाई जाने वाली फसल है जबकि शकरकंद गर्म मौसम का फल है।

आलू

पिछले वर्षों से खाद्य पदार्थों की कमी के कारण आलू को सहायक खाद्य फसल के रूप में बड़े पैमाने पर उगाने के लिए काफी प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

बुग्राई और कृषि क्रियायें : आलू को दो तरह से बोया जाता है, या तो पूरा आलू बो देते हैं या आलू के टुकड़े करके बो देते हैं, जमीन में दबा देते हैं। पहाड़ी इलाकों में आलू को काटकर बोया जाता है। हरेक टेकड़े में 2-3 अंखु बना दिये जाते हैं। मैदानी पतझड़ की फसल में आलू को पूरा और बसंत की फसल में टुकड़े करके बोया जाता है।

ऊंची पहाड़ियों पर आलू मार्च से अप्रैल तक बोया जाता है। जबकि निचली पहाड़ियों पर इसे आमतौर से दिसम्बर और जनवरी में उगाया जाता है। मैदानों में मुख्य फसल सितम्बर-अक्तूबर में बोई जाती है। अगेती किस्मों के शुरू होने से अब एक ही खेत से दो फसलें ली जाती हैं। दो फसलें बड़े बड़े शहरों के आसपास अधिक ली जाती हैं क्योंकि वहाँ माल बिकने की सुविधा होती है। पहली फसल की बुआई सितम्बर में की जाती है। कुछ स्थानों पर आलू को जून में बोकर भी बरसाती फसल उगा ली जाती है। गर्मियों में पहाड़ों पर और बसंत में मैदानों में जब आलू को बोते है तो बीज की दर प्रति एकड़ 10,000 से 12,000 पौंड तक होती है। मैदानों की मुख्य फसलों के लिए पूरा आलू बोया जाता है और बीज की दर आलू के आकार के अनुसार प्रति एकड़ 800 से 1,000 पौंड के बीच में होती है।

पहाड़ों पर बीजू आलू कूँड़ों में लगाये जाते हैं। ये कूँड़े एक दूसरे से 18 इंच के अंतर पर हल या फावड़े से बनायी जाती हैं, कूँड़ बनाने और बीज बोने का काम साथ-साथ चलता है। बीज को एक कूँड़ में छोड़कर दूसरी कूँड़ में 9 से 12 इंच तक के फासले से बोया जाता है और उसे खाली कूँड़ की मिट्टी से दबा दिया जाता

है। कुछ स्थानों पर जहाँ खाद की कमी होती है, बीज बोने से पहले कूँड़ में खाद दे दिया जाता है। इसके बाद बीज को मिट्टी में दबाने के लिए व खेत को समतल करने के लिये पटरा चला दिया जाता है। अच्छी उपज लेने के लिये काफी मात्रा में खाद और उर्वरक देने की जरूरत पड़ती है। बीज बोने से कूँड़ों में पहले प्रति एकड़ 50 से 100 पौंड नाइट्रोजन, 50 से 70 पौंड फास्फोरस और 100 से 150 पौंड पोटाश का मिश्रित उर्वरक देना लाभदायक रहता है।

यदि बीज बोते समय नाइट्रोजन कम मात्रा में देनी हो तो प्रत्येक बार पौधों पर मिट्टी चढ़ायी जाय तब खड़ी फसल में एक या दो बार जब प्रति एकड़ 20 से 30 पौंड नाइट्रोजन देना चाहिए। सात से दस के अन्तर पर सिंचाई करते रहना चाहिए।

उपज और खुदाई : जब आलू का रंग पीला हो जाय और छिलका भी सख्त हो जाये उस आलू को खुदाई के लिए तैयार समझना चाहिए। क्योंकि इसके बाद कंद आसानी से छिलते नहीं हैं और उठाने से खराब भी नहीं होते हैं। आलू की फसलें मौसम और किस्मों के अनुसार अलग-अलग तरह की होती है। अगेती फसल की उपज 8,000 से 10, 000 पौंड तक और मुख्य तथा पिछेती फसल की उपज 16,000 से 30,000 पौंड तक एक प्रति एकड़ में होती है।

रोग कीट : आलू की फसल पर अगेती और पिछेती अंगमारी (चित्तीरोग) और बिषाणु रोगों का आक्रमण होता है। इसलिए जब आलू के पौधे 6 इंच के हो जाएं, तब हर 15 दिन के बाद बोर्डो मिश्रण का छिड़काव. करके इस रोग की रोकथाम की जा सकती है।

विषाणुओं की रोकथाम 0·1 प्रतिशत डी० डी० टी० के घोल का छिड़काव करके और रोगी पौधों को नष्ट करके की जा सकती है। इसके अलावा बी० एच० सी० पाउडर भुरक कर पौधों को काटने वाले और अन्य कीड़ों की रोकथाम की जा सकती है।

उन्नत किस्में : आलू की कुछ उन्नत किस्में नीचे की सारणी में दी गई हैं।

कंदवाली सब्जियों की कुछ उन्नत किस्में

सब्जी	किस्में
आलू	अगेती : अप-टू-डेट, मैगनम, बोनम, मिलिट्री स्पेशल, ग्रेट स्कोट, संकर 19, खीरा, गोला। मध्य : दार्जिलिंग लाल गोल (सुर्ख), इटैलियन सफेद, संकर 9। पिछेती : फलवा (पटना सफेद)

अरबी और जिमीकन्द

अरबी (कोलोकैसिया) के बीज और पत्ते दोनों सब्जी के काम में आते हैं, जबकि जिमीकंद का केवल सफेद कन्द ही सब्जी बनाने के काम आता है। ये फसलें गरम और नम जलवायु में अच्छी उगती हैं। अरबी (कोलोकेसिया) पहाड़ों में और लगभग सारे भारत भर में उगायी जाती हैं, जबकि जिमीकंद उत्तर भारत की निचली पहाड़ियों के इलाकों में उगाया जाता है। कहीं-कहीं थोड़ी तादाद में दक्षिणी भारत और बम्बई राज्य के कुछ भाग और खासतौर से दक्षिणी गुजरात तथा पश्चिमी खान देश में उगाया जाता है।

बुआई और कृषि क्रियायें : अरबी और जिमीकन्द जैसी फसलें जड़ों (राइजोम) या कन्द के टुकड़ों को बोकर उगाई जाती हैं। पहाड़ों पर कोर्म या कन्द के टुकड़े अप्रैल मई में बोए जाते हैं और मैदानों में अरबी फरवरी से मार्च तक और जिमीकंद वर्षा से पहले मई-जून में बोया जाता है। इसका बीज इस तरह डाला जाता है कि तेज वर्षा शुरू होने से पहले ही बीज में कूल्हे फूट आते हैं। एक एकड़ भूमि के लिए 800 से 1,000 तक की मात्रा पर्याप्त होती है। बोए जाने वाले कंद के टुकड़े दो या तीन औंस से ज्यादा वजन के नहीं होने चाहिएँ और उनमें एक या दो अंखु भी बना देने चाहिएँ।

अरबी के कन्द और जिमीकन्द के बड़े-बड़े टुकड़े खेत में $1\frac{1}{2}$—2 फुट के फासले पर बनी कूंडों के किनारों पर 3-4 इंच गहरे दबा कर लगाए जाते हैं। गरमी में बोई गयी अरबी की फसल की तुरन्त सिंचाई की जाती है और इसके बाद यदि मौसम गर्म हो तो चार-पाँच दिन के अन्तर पर सिंचाई की जाती है। जिमीकन्द आमतौर से बरसाती फसल के रूप में बोया जाता है। बम्बई राज्य में इसकी बोआई बड़े कन्द के टुकड़े बोकर की जाती है। प्रथम वर्ष की फसल के कन्द दूसरे वर्ष में उगाए जाते हैं और इसी प्रकार यह क्रम चार वर्ष तक चलता रहता है। चौथे साल अगले साल की बुआई के लिए कन्द बना कर बाकी फसल बेच दी जाती है।

खुदाई : अरबी की खुदाई सितम्बर के शुरू से दिसम्बर के अन्त तक की जाती है जबकि पेड़ की समस्त पत्तियां सूख जाती हैं। जिमीकन्द जब तैयार हो जाता है तो उसके पत्ते पीले पड़ कर मुरझा

जाते हैं। अरबी की प्रति एकड़ पैदावार 16,000 से 20,000 पौंड तक और जिमीकन्द की 10,000 से 40,000 पौंड तक होती है।

रोग और कीट : अरबी की फसल पर अंगमारी या चित्तीरोग का आक्रमण होता है जिसे बोर्डो मिश्रण या पेरेनोक्स का नियमित रूप से छिड़काव करके रोका जा सकता है।

किस्में : इन फसलों के उगाने में देसी किस्में काम आती हैं। पंजाब में अधिक उपज देने वाली अरबी की एस० 11 और एस०-3 किस्में उगायी जाती हैं। एस० 11 बड़े और आकर्षक कंदों के कारण और एस० 3 पतले और छोटे कन्दों के कारण चुनी गयी है।

7
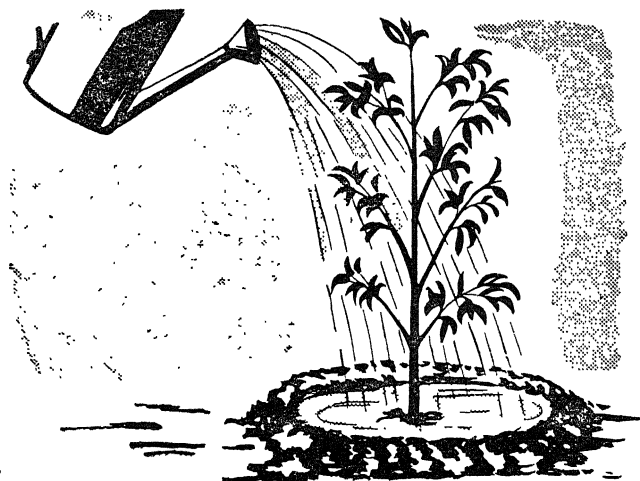
फलदार फसलें

भारत आदिकाल से ही संसार के कुछ सबसे अधिक प्रसिद्ध फलों को पैदा करता आया है। आम भारत का ही निवासी है। सेवों की अम्बरी किस्म का मूल स्थान हिमालय है और आजकल यह कश्मीर घाटी में खूब उगाया जाता है। सुनहले रंग के नीबू वर्ग के फलों का आदि स्थान भी हिमालय की तराई ही है जहां से वे भूमध्यसागर के तटवर्ती देशों और अमरीका महाद्वीप में दूर-दूर तक फैल गए हैं। भारतीय फलों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है :

सेव (*pyrus malus*)

भारत में लगभग तीस हजार एकड़ में सेव की खेती की जाती है। देश में हिमाचल प्रदेश, कश्मीर-घाटी, पंजाब की पहाड़ियां, कुमायूं की पहाड़ियां (उत्तर प्रदेश), कुल्लू की घाटी (पंजाब), नीलगिरी (दक्षिण भारत) और असम सेव के प्रमुख उत्पादक क्षेत्र हैं।

पौध की तैयारी : सेव के वृक्ष पौधों पर चश्माबन्दी या आड़ी कलम आदि विधियों से तैयार किए जाते हैं। सेब के बौने पेड़ तैयार करने के लिए मूल पौधे के रूप में सेव की एम. 9 किस्म इस्तेमाल होती है। कलम लगाने के लिए एक साल के पौधे इस्तेमाल किए जाते हैं और कलम बसंत के शुरू में लगाई जाती है। इसके लिए पौधों के बीच दो-तीन फुट का अन्तर रखा जाता है।

कटाई-छटाई : सुडौल, घने पेड़ उपज की दृष्टि से अच्छे समझे जाते हैं। इसलिए एक वर्षीय कलम का पौधा लगाते समय ही उसे भूमि से लगभग तीस इंच ऊपर से काट देते हैं। गर्मी आने पर तीन से पांच मुख्य शाखाएं छोड़कर शेष उड़ा दी जाती है। दूसरे वर्ष की गर्मी में बगली शाखाओं के नये विकास को भी काट दिया जाता है। इस प्रकार तीसरे वर्ष भी वृक्ष को काटा जाता है। कोशिश यह की जाती है कि वृक्ष का आकार कलश जैसा दिखाई दे और इसीलिए वृक्षों की शाखाओं को पास-पास नहीं बढ़ने दिया जाता। खोजबीन से पता चला है कि काट-छांट इस प्रकार करनी चाहिए कि वृक्षों की टहनियों में प्रतिवर्ष नौ इंच विकास हो। इससे वृक्ष के बीच के भाग को भी रोशनी और धूप मिलती रहती है। जिन पुराने वृक्षों से छोटे फल मिलते हैं उनकी कटाई-छटाई अधिक होनी चाहिए जिससे नई टहनियों का विकास हो सके।

उर्वरक प्रयोग : आमतौर पर प्रत्येक वृक्ष को प्रतिवर्ष नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश की बराबर मात्राएं (1/16 पौंड) दी जानी चाहिएं। नाइट्रोजन और पोटाश पेड़ के नीचे छिड़क कर फावड़े से ज़मीन में मिला देने चाहिएं और सुपरफास्फेट सतह से तीन-चार इंच नीचे दिया जाना चाहिए।

फलों की चुनाई : फल इस प्रकार तोड़ने चाहिएं जिससे वृक्ष पर लगे फलों के बीच छः इंच की दूरी रहे या हर गुच्छे पर एक फल रह जाए। ऐसा करने से बचे फलों का अधिक विकास होता है। फलों को तोड़ते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि फलों का छिलका खराब न हो। दूर मण्डियों में ले जाने के लिए फलों को पकने से पहले ही तोड़ लेना चाहिए।

उन्नत किस्में : गुण-धर्मों के अनुसार सेव की दो किस्में होती हैं: (1) जो स्वयं फल देते हैं और (2) जो स्वयं फल नहीं देते हैं। नं० 2

किस्म के पौधों से फल प्राप्त करने के लिए हर कतार के बाद एक कतार स्वयं फल देने वाले पौधों की लगाई जाती है। सेब की कुछ उन्नत किस्में आगे दी जा रही हैं :

हिमाचल प्रदेश : लाल डैलीशियस, सुनहली डैलीशियस, वोरसेस्टर पीयरमैन, न्यूटन वंडर (सभी स्वफलित), कॉक्स नारंगी पीपिन (परफलित), किंग आफ पीपिन्स (नं० 13), स्टारकिंग (रायल) डैलीशियस और रिचार्ड।

कश्मीर घाटी : लाल डैलीशियस (स्वफलित), बाल्डविन (परफलित), अम्बरी कश्मीरी, सफेद धब्बे वाली, लाल और गहरी लाल।

शिमला पहाड़ियां : ब्यूटी आफ बाथ (परफलित), लाल डैलीशियस, जोनाथन रोम ब्यूटी (सभी स्वफलित), अगेती शेनबरी, लाल अस्ट्राचन लाल सेडेले, स्टैमेन वाइन सैप, विंटर बेनाना एण्ड पीली न्यूटन।

कुमायूं पहाड़ियां : जैम्स ग्रीव, जोनाथन, रोम ब्यूटी (सभी स्वफलित) ब्लेन हीम आरेंज पिपिन, डैलीशियस, अगेती शेनबरी, सुनहरी पिपिन, किंग आफ पिपिन्स राइमर और विंटर बेनाना।

कुल्लू घाटी : बैन डैविस, लाल डैलीशियस, सुनहरी डैलीशियस (सभी स्वफलित), कॉक्स की नारंगी पिपिन, ब्लेनहीम आरेंज, बाल्डविन (सभी स्वफलित), लाल आस्ट्राचन, किंग आफ पीपिन्स, पीली न्यूटन।

नीलगिरी पहाड़ियां : रोम ब्यूटी (स्वफलित), तथा ग्लेंग्ले लाल।

आम (Mangifera indica)

अपने देश के फल वृक्षों के कुल क्षेत्रफल के आधे भाग में आम पाए जाते हैं। यह वृक्ष विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु में पनपने की क्षमता रखता है। असम से लेकर देश की दक्षिणी सीमाओं तक और समुद्र

तल से लेकर 5,000 फुट की ऊंचाई तक के क्षेत्रों में ग्राम खूब होता है। इसमें सूखे मौसम ग्रौर ग्रधिक वर्षा दोनों को सहन करने की क्षमता है। किन्तु जाड़े के मौसम में तेज ग्रौर लगातार गिरने वाले पाले से नन्हें पौधों को नुकसान होता है।

पौध की तैयारी ग्रौर वृक्षारोपण : ग्राम के पौधों को नर्सरी में भेंट कलम या चश्माबन्दी द्वारा तैयार करते हैं। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में बरसात के शुरू में ग्रौर भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में बरसात के ग्रन्त में भेंट कलम या चश्माबन्दी करना ठीक पाया गया है। कलमबन्दी के छः-बारह माह बाद पौध रोपाई के लिए तैयार हो जाती है। सीधी उगने वाली कलमों को चुनकर गड्ढों में लगाना चाहिए। प्रत्येक गड्ढे में 100 पौंड गोबर मिट्टी की खाद ग्रौर उर्वरक मिश्रण (जिसमें 0.5 पौंड नाइट्रोजन, 1.0 पौंड फास्फोरस पेन्टाग्राक्साइड, 0.5 पौंड पोटाश हो) डालना चाहिए। जिन क्षेत्रों की सतह की मिट्टी कमजोर हो, वहां पौधों को 20-25 फुट के ग्रन्तर पर लगाना चाहिए ग्रौर जिन क्षेत्रों की मिट्टी गहरी ग्रौर उपजाऊ हो, वहां पौधों को 40-45 फुट की दूरी पर लगाना चाहिए। कम वर्षा वाले क्षेत्रों में बरसात के शुरू में ग्रौर भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में बरसात के ग्रन्त में ग्राम के पौधों की रोपाई ठीक रहती है। कलम का जोड़ जमीन से कम से कम छः इंच ऊपर होना चाहिए।

कृषि क्रियायें : ग्राम के पौधों को रोपने से पहले बगीचे की ज़मीन जोत दी जाती है ग्रौर पटेला फेरकर समतल बना दी जाती है। साल में दो बार (1) वर्षा के शुरू में ग्रौर (2) बरसात के ग्रन्त में जाड़े के मौसम में जमीन को जोत कर पटेला फेर देते हैं। प्रत्येक दो या तीन वर्षों में एक दो बार हरी खाद लगा दी जाती है। शुरू के चार-पांच वर्षों में पेड़ों के बीच में जल्दी तैयार होने वाली सब्ज़ियों की फसलें पैदा की जानी चाहिएं। ग्राम के छोटे-छोटे

पौधों को नियमित रूप से सींचना आवश्यक होता है।

पांच छः वर्षों के बाद जब वृक्ष अच्छी तरह जड़ पकड़ लेते हैं तो वे बिना सिंचाई के भी ठीक प्रकार से फलने लगते हैं। उत्तरी भारत में आम के वृक्षों को उनके पूरे जीवनभर सींचना पड़ता है। आम को नियमित रूप से खाद देना लाभप्रद होता है। फल देने वाले वृक्षों में प्रति वृक्ष के लिए 100 से 150 पौंड गोबर की खाद, एक से डेढ़ पौंड नाइट्रोजन, डेढ़ पौंड से दो पौंड फास्फोरस (P_2O_5), ढाई पौंड से तीन पौंड पोटाश (K_2O) देने की सलाह दी जाती है। नाइट्रोजन और पोटाश की आधी मात्रा वर्षा से पहले खेत में देनी चाहिए और गोबर की खाद, फास्फेट और शेष पोटाश बौर आने के पूर्व दी जानी चाहिए।

आम की फसल में अनियमितता : कलमी आमों के वृक्ष चौथे या पांचवें वर्ष से फल देने लग जाते हैं। दसवें या पन्द्रहवें वर्ष बाद इन पर पूरी फसल आने लगती है। आम का वृक्ष आमतौर पर एक वर्ष छोड़कर दूसरे वर्ष फलता है। इसका फलना उसकी किस्म, मौसम और कृषि उपचार आदि पर निर्भर करता है। हर वर्ष आम की फसल लेने के लिए नियमित फसल देने वाली किस्मों का चुनाव, वृक्षों की ठीक समय पर देखभाल, समय पर निराई, गुड़ाई और खाद देना आवश्यक होता है। यदि बसंत ऋतु में नाइट्रोजनधारी उर्वरक (प्रतिवृक्ष एक से दो पौंड नाइट्रोजन) नये पौधों में डाली जाए तो इन पौधों पर जल्दी बौर आता है। बाद में वर्षा अधिक होने की सूरत में जाड़ों में खेत की एक बार और जुताई करनी चाहिए। इससे जनवरी-फरवरी में बौर आने में मदद मिलती है। अगस्त-सितम्बर के महीने में यदि आम के वृक्षों की छाल छील दी जाए तो जाड़ों में बौर आने में बहुत सहायता मिलती है।

पुराने और बीजू वृक्षों में सुधार : आम की घटिया किस्मों और

पौद से उगाए गये वृक्षों की किस्मों को शीर्ष कलम या बगली कलम द्वारा सुधारा जा सकता है। शीर्ष कलम लगाने में वृक्ष का तना ज़मीन से लगभग दो फुट ऊपर से काट देते हैं और चुनी हुई किस्मों की एक या दो नई पत्तियों वाली डालियों को तने के छिलके को छीलकर, छिलके और लकड़ी के बीच बैठा देते हैं। कोंपलों वाली शाखाएं प्रसुप्त होनी चाहिए और आखिरी शाखा आधे इंच व्यास की हो और उसके शिरों पर चारों ओर पत्ते और कोपलें हों। बगली कलम का तरीका वही है, जो शीर्ष कलम का है। अन्तर इतना है कि जिस वृक्ष पर कलम लगाई जाती है, कलम लगाने के स्थान से ऊपर तने को उस समय काट देते हैं, जब डालियों में अंकुर निकलने लगते हैं और वे पूरी तरह फैल जाती हैं। बहुत सी शाखाओं वाले पुराने वृक्षों की प्रत्येक शाखा को उचित ऊंचाई पर शीर्ष कलम करके इसी प्रकार सुधारा जा सकता है। कभी-कभी भेंट कलम द्वारा कलमें की जाती हैं, परन्तु यह तरीका जटिल, खर्चीला और असन्तोषजनक है।

फलों की चुनाई और हाट व्यवस्था : आम के फल पांच से छः माह में पकने लगते हैं और पश्चिमी भारत में अप्रैल से मई, दक्षिण में मई से जून, मालवा में फरवरी से मार्च, आन्ध्र प्रदेश के तटवर्ती क्षेत्रों में अप्रैल से जून, मैसूर और रायलसीमा में मई से अगस्त और उत्तरी भारत में जून से अगस्त में फल तोड़ने लायक हो जाते हैं। फल जब कुछ हरे और कड़े होते हैं, तब उन्हें तोड़ लेते हैं। विभिन्न किस्मों के आमों के पकने के लक्षण भिन्न-भिन्न होते हैं। आम तौर से आम के वृक्ष पर एक महीने तक तीन या चार बार बौर आता है और इसी क्रम से फल भी आते हैं।

आम की उपज और उसकी पकने की क्षमता, बौर आदि के अनुसार भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। कलमी आम दसवें वर्ष में लगभग 300 से 500 फल, पन्द्रहवें वर्ष में 1000 फल और बीसवें वर्ष से लगभग 2000 से

5000 फल तक देने लगते हैं। फलों को पकाने के लिए आज तो अनेक वैज्ञानिक विधियां काम में आने लगी हैं। पाल के फल कोल्डस्टोरेज में काफी समय तक बिना बिगड़े रखे जाने लगे हैं।

उन्नत किस्में : आम की अनेक किस्में हैं। प्रत्येक किस्म का अपना एक विशिष्ट स्वाद, गंध और गूदा होता है। आम की राज्यवार प्रमुख व्यापारिक किस्में आगे दी जा रही हैं: **उत्तर प्रदेश** बम्बई पीला, आलफान्जो, गोपाल भोग, जाफरान (सभी जल्दी पकने वाले) लंगड़ा, दशहरी, सफेदा, लखनऊ सफेदा मलीहाबाद, फजरी जाफरानी (सभी देर से पकने वाले), फजरी, समरबहिश्त, चौसा, तैमूरिया (सभी देर से पकने वाले)।

बिहार : बम्बई, अलफांजो, हेमसागर, कृष्ण भोग, अमन दशहरी, गुलाब खास (सभी जल्दी पकने वाले), लंगड़ा, अमन अब्बासी, (सभी देर से पकने वाले) सिन्दूरिया, सुक्ल, खसल, तैमूरिया (सभी देर से पकने वाले)। **बंगाल में** : बम्बई या मालदा, गोपाल भोग, हेमसागर (सभी जल्दी पकने वाले), कृष्ण भोग, जरदालू (दोनों कुछ देर से पकने वाले) मुर्शिदावादी फजली, मालदा इत्यादि। **महाराष्ट्र में** : अलफोंजो, पैरी, कावसजी पटेल, जमादार, सिरकार में सुवर्णरेखा, बेनीशान चेरुकुरासम् पंचदरकलश, देसवाठी याममिडी, सन्नाकुलु, नगुलपल्ली इर्सेला। **रायल सीमा में** : रुमानी, नीलम बेनीशान, बंगलोरा, आलमपुर वेनी शान। **तेलंगाना में** : मुर्शिदाबादी, मुलगांव, गोआवन्दर, बेनीशांन नीलम, तोतापरी या मंगलौरा। **केन्द्रीय जिलों में** : अलफांजो, पीटर, रुमानी। **कुर्ग और मैसूर में** : मुन्दप्पा, नीलम, अलफांजो अलोर, बेनेट अलफांजो, कालेपद, पीटर, फरनैडीन **तामिलनाड़ में** : पडिरी, अलफांजो, पीटर, नीलम, बंगलौरा तथा रूमानी।

जहांगीर और हुमायुंदीन जैसी अन्य किस्में बहुत वढ़िया किस्म के फल देने वाली होती हैं। पर इनसे आम की उपज कम होती है और इनके वृक्ष भी कम लगते हैं। इनसे संकर किस्में तैयार करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

नीबू वर्ग के फल

नीबू वर्ग में ग्रेप फ्रूट, लेमन, नीबू, संतरा, माल्टा, मौसमी आदि फल आते हैं। देश के सभी राज्यों में नीबू वर्ग के फल पैदा होते हैं। ये फल 1,65,000 एकड़ भूमि में उगाए जाते हैं। नीबू वर्ग के फल सबसे अधिक मध्य प्रदेश, मद्रास और बम्बई में होते हैं। इनके पेड़ सभी प्रकार की मिट्टियों जैसे भारी काली मिट्टी से लेकर हल्की मिट्टियों में लगाए जाते हैं। इनकी कुछ किस्में दूसरों की अपेक्षा अपने को विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेती हैं। कछारी या दुमट अच्छे जल निकास वाली काली मिट्टी इनके लिए उपयुक्त समझी जाती है। यद्यपि नीबू वर्ग के वृक्ष सूखी जलवायु में (तीस-पेंतीस इंच वर्षा प्रति वर्ष) अच्छे फूलते-फलते हैं, तो भी चकोतरा और संतरे की कुछ किस्में कोंकण, असम और कुर्ग के भारी वर्षा वाले क्षेत्रों में अच्छी उपज देती हैं।

संतरा (*Citrus reticulata*)

जलवायु और मिट्टी : दक्षिणी भारत में कुर्ग, वाईनाड क्षेत्र और नीलगिरी की दो हजार से पांच हज़ार फुट ऊंचाई वाली भूमि में यह पैदा किया जाता है। असम में संतरा पैदा करनेके मुख्य केन्द्र खासी, जैयन्तिया और लुशाई पहाड़ियां हैं। नागपुर के आस-पास के क्षेत्रों में संतरे बारह सौ फुट की ऊंचाई तक उगाए जाते हैं। पंजाब में इसकी खेती मुख्य रूप से दो हज़ार फुट की ऊंचाई तक के पहाड़ी क्षेत्रों में सीमित है। यह भारी काली

मिट्टी और मध्यम दर्जे पानी के निकासी की सुविधा वाली मिट्टीमें खूब उगते हैं। असम की खासी पहाड़ियों में बलुई या पथरीली मिट्टी में इसके पौधे खूब उगाए जाते हैं ।

पौध की तैयारी : संतरे के पौधे अधिकतर बीज से तैयार किए जाते हैं। केवल नागपुर, एम्टर किस्मों के पौधे कली चढ़ाकर तैयार होते हैं। बीजू पौधे कुछ देर से पकते हैं और ऊंचे और छरहरे होते हैं। कलमी पेड़ों में यह कमियां नहीं पाई जातीं। आमतौर से जम्बूरी, शोहमिनदोंग और जट्टी खट्टी किस्म को कली चढ़ाने के लिए मूल पौधे की तरह काम में लाते हैं। इम्परर किस्म की कली चढ़ाने के लिए खर्ना खट्टा नाम की किस्म को इस्तेमाल किया जाता है।

पहाड़ी और नमी वाले क्षेत्रों में, जहां बगीचे साधारणतः ढलुवां जमीन में लगाए जाते हैं, वहां भूमि में ठीक ढंग से सीढ़ियां बना दी जाती हैं। मैदानी क्षेत्रों में, जहां वृक्षों की सिंचाई करनी पड़ती है वहां भूमि को समतल कर देना चाहिए। पौधों को बरसात के मौसम में लगाते हैं।

उर्वरक का प्रयोग : प्रति वृक्ष एक पौंड अमोनियम सल्फेट के साथ 40 से 50 पौंड गोबर की खाद डालते हैं। पौधों को लगाने के बाद प्रति-वर्ष प्रति वृक्ष 0·2 पौंड नाइट्रोजन, 0·2 पौंड फास्फोरस और 0·2 पौंड पोटाश का मिश्रण देना चाहिए। इस मात्रा को बराबर बढ़ाते रहना चाहिए जिससे सातवें वर्ष इस मिश्रण की मात्रा बढ़कर प्रति पौधा 1 पौंड नाइट्रोजन, 1 पौंड फास्फोरस और 2 पौंड पोटाश हो जाए। इसके बाद इस प्रकार बराबर मिश्रण देते रहना चाहिए। गोबर की खाद की मात्रा को बढ़ाकर प्रति वृक्ष 100 पौंड कर देना चाहिए। इसके स्थान पर हरी खाद का भी प्रयोग कर सकते हैं। भारत में सन्तरे के अधिकांश बगीचे वर्षा पर निर्भर करते हैं।

फलों की चुनाई : बीज वृक्षों से आठवें वर्ष में फल आने लगते हैं। दसवें वर्ष से तो वृक्ष पूरी तरह फलने लगते हैं। कली चढ़ाकर तैयार किए गए वृक्ष चौथे वर्ष फल देने लगते हैं और उनसे सात वर्ष बाद पूरी फसल प्राप्त होने लगती है।

माल्टा (*Citrus sinensis*)

माल्टे के वृक्ष तेज अम्लीय भारी चिकनी मिट्टी से लेकर हल्की बलुई मिट्टी में लग सकते हैं। मिट्टी में अधिक लवण का होना हानिकारक है।

पौध की तैयारी : इसके पौधे आमतौर से कली चढ़ाकर तैयार किए जाते हैं। पाइन एपिल, हैमलिन, जाफा और वैलेन्सिया लेट किस्मों की कली चढ़ाने के लिए खर्ना खट्टा इस्तेमाल किया जाता है। इसके वृक्ष उत्तरी भारत में जनवरी या अगस्त-सितम्बर और दक्षिण भारत में जुलाई-अगस्त में हर तरफ से 20-25 फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं। पौधों को लगाते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चढ़ी हुई कली का जोड़ जमीन से कम से कम 6 इंच ऊपर रहे।

कटाई-छटाई : नीबू वर्ग के फलों की काट-छांट पौदशाला में ही शुरू हो जाती है। कलो के आसपास जो भी शाखाएं निकलें, उन सभी को छोड़ देते हैं और $1\frac{1}{2}$—2 फुट तक तने पर केवल कुछ अच्छी निकली शाखाओं को छोड़कर शेष को साफ कर देते हैं। पौधा लगाने के बाद प्रथम वर्ष के भीतर हर माह एक बार बेकार शाखाओं को काट देना चाहिए और बाद के वर्षों में दो से तीन महीनों में एक बार काट-छांट करनी चाहिए। पहले तीन वर्षों में वृक्षों से कोई फसल नहीं लेनी चाहिए।

सिंचाई : पौधों को लगाने के समय काफी सिंचाई करते हैं और उसके चार या पांच दिन के बाद एक हल्की सिंचाई करते हैं। इसके बाद

मिट्टी और पानी के साधन के अनुसार नियमित अवधि पर सिंचाई की जाती है। जहां सिंचाई की अच्छी सुविधा विद्यमान है, वहां गर्मी में आठ दिन और जाड़े में 12 से 15 दिन के अन्तर से पानी देते हैं। नहर से सिंचाई करने की सूरत में लगभग 14 दिन के अन्तर से पानी देते हैं। भारी मिट्टी की अपेक्षा हल्की मिट्टी में अधिक सिंचाई करने की आवश्यकता पड़ती है। जब पौधे छोटे हों, तब लगभग 3-5 फुट व्यास के थामले बना देने चाहिए। ज्यों-ज्यों पौधे बड़े होते जाएं थामले को बढ़ाते जाना चाहिए।

फलों की चुनाई : इसके वृक्ष चौथे वर्ष फलने लगते हैं। लेकिन सातवें वर्ष से वृक्षों पर पूरी तरह फल आते हैं। फल तोड़ने का मुख्य समय उत्तरी भारत में दिसम्बर से फरवरी तक होता है, जबकि दक्षिणी भारत में यह समय अक्तूबर से मार्च तक होता है। अम्बे बहार के लिए मुख्य मौसम नवम्बर से जनवरी और मृग बहार के लिए मार्च से मई तक है।

जड़ों की खुलाई : बम्बई-दक्कन में माल्टा के वृक्षों पर विशेष मौसम में फूल लाने के लिए उनकी जड़ों की खुलाई की जाती है। सामान्य फूल आने के मौसम से लगभग दो महीने पहले से ही पानी देना बन्द कर देते हैं और लगभग एक माह बाद हल्की मिट्टी को चार-पाँच इंच और भारी मिट्टी को लगभग नौ इंच तक हटाकर जड़ों को खुला छोड़ देते हैं। लगभग दस दिन बाद खाद मिलाकर मिट्टी को फिर पहली अवस्था में कर देते हैं। वृक्षों की एक हल्की सिंचाई करते हैं। चार या पाँच दिनों के बाद थोड़ा अधिक पानी देते हैं और दस दिन बाद पूरी सिंचाई करते हैं।

उन्नत किस्में : उत्तरी भारत में इसकी ब्लड रेंड, पाइनऐपिल, हैमलिन, जाफा, और बेलेन्सिया लैट, पश्चिमी भारत में मौसम्बी और दक्षिणी भारत में सतगुड़ी या बटैबियन किस्में प्रसिद्ध है।

नीबू वर्गीय अन्य फल : नीबू की दो किस्में खट्टा और मीठा है जिन्हें

कागज़ी नीबू व मीठा भी कहते हैं। इसको पाले से नुकसान पहुंचता है। इसके पौधे बीज व कलम दोनों से तैयार किए जाते हैं। नीबू की सभी कृषि क्रियाएँ मीठे संतरे की तरह की जाती है। इसमें वर्ष में दो बार फल ग्राते हैं : फरवरी-मार्च में ग्रौर ग्रगस्त में। मुख्य फसल ग्रगस्त में ग्राती है।

इसके ग्रतिरिक्त ग्रेपफ्रूट ग्रौर लेमन भी नीबू वर्ग के फल है। ग्रेपफ्रूट देशज नहीं है। यह शरबती नीबू कहलाता है ग्रौर पंजाब, उत्तर प्रदेश ग्रौर महाराष्ट्र में इसके बगीचे हैं। इसकी कृषि क्रियायें व जलवायु नारंगी जैसे ही है तथा इसके फल भी संतरे की तरह ही चुने जाते हैं।

अंगूर (*Vitis vinifera*)

भारत में ग्रंगूर भिन्न भिन्न प्रकार की जलवायु में होता है। उत्तरी भारत में ग्रंगूर पंजाब, उत्तर प्रदेश ग्रौर हिमाचल प्रदेश में पैदा किया जाता है। यह वर्ष में एक बार बसंत ग्रौर गर्मी में फलता है। दक्षिणी पश्चिमी भारत में यह मुख्य रूप से बम्बई, हैदराबाद दक्कन, मैसूर ग्रौर मद्रास के भागों में पैदा किया जाता है। इन क्षेत्रों में उगाई गई ग्रंगूर की बेलें पूरे साल बढ़ती ही रहती है। इनसे वर्ष में दो फसलें प्राप्त होती हैं। दक्षिण भारत में ये गर्मी के मौसम में होता है, इसलिए खेती के उन्नत तरीकों को ग्रपना-कर इसके फलने का समय वर्षा हीन मौसम में बदला जा सकता है।

कलम की तैयारी : ग्रंगूर की बेलें ग्रामतौर से कलम द्वारा लगाई जाती है। उत्तरी भारत में एक वर्ष पुरानी कलम को फरवरी में बेलों की छटाई के समय काट लेते हैं। उस समय बेलें प्रसुप्त ग्रवस्था में रहती हैं। कटी हुई कलमों को बंडल बांधकर एक महीने तक नमीदार रेत में रखते हैं, जिससे उनमें गांठ विकसित हो जाए। गंठीली कलमें नर्सरी में ग्रच्छी प्रकार बढ़ती है। पश्चिमी भारत में, कलमें ग्रक्तूबर में बेलों की छटाई करते

समय प्राप्त की जाती हैं। फिर जड़ निकलने के लिए नर्सरी में लगा देते हैं।

अंगूर की बेलें लगाना : जड़ निकाली कलमों को उत्तरी भारत में जनवरी फरवरी के दिनों में खेत में लगाते हैं। उस समय अंगूर की बेलें प्रसुप्त अवस्था में होती है। उगाने की विधि के अनुसार कलमों के बीच भिन्न भिन्न दूरी रखी जाती है। शीर्ष विधि (हैड सिस्टम) से तैयार की गई बेलें 8 × 10 इंच की दूरी पर और मण्डपाकार (ओवर हैड पर गोला) विधि से तैयार की गई बेलें 20 × 20 इंच की दूरी पर लगाते हैं। पश्चिमी भारत में एकाधार-विधि (सिंगल स्टेक सिस्टम) में 8 × 8 इंच और रौसविधि (एवेन्यू सिस्टम) में 8 × 3 इंच की दूरी पर बेलों को लगाते हैं। कुंडाकार विधि में मैसूर में 15" × 30" और मद्रास में 15" × 25" का दूरी पर बेलें लगाते हैं।

उगाने की विधि और कटाई-छटाई : बेलें उगाने की कुछ विधियां नीचे दी जा रही हैं :

शीर्ष विधि (हैड सिस्टम) : इस विधि में बेल को छोटी झाड़ी के रूप में तैयार किया जाता है। इसके तने को सहारा देकर ऊंचाई तक बढ़ने देते हैं और बढ़ने वाली शाखा को जुलाई में तीन से चार फुट की ऊंचाई पर से काट देते हैं। तीन या चार बगल वाली शाखाओं को अठारह-अठारह इंच तक बढ़ने दिया जाता है और उनका आकार कलश की भांति बना देते हैं। फरवरी में बेलों को प्रसुप्त अवस्था की पहली काट-छांट के समय बगलवाली शाखाओं को फल लगने वाली डालों तक थोड़ा छोटा करते हैं। असली गर्मी में ये फल लगने वाली डालियां ही वृक्ष के आकार को बनाने में सहायक होती हैं। दूसरी प्रसुप्त अवस्था की काट-छांट के समय आठ से दस टहनियों को (प्रत्येक पर एक या दो फल लगने वाली डालों को) तीसरे साल में फलने के लिए छोड़ देते हैं। यह विधि आसान है, पर इससे उपज कम होती है। उत्तरी भारत में यह विधि उन किस्मों पर अपनाई जाती

है, जिनकी कमची की कुछ कलियों पर फल आते हैं।

बैंत विधि: इस विधि द्वारा बेलों को दो तार की जाली पर लगाते हैं। शीर्ष विधि की तरह तने को ऊपर से काट देते हैं। प्रत्येक शाखा पर कमचियों का विकास होता है। उन्हें तार की दो जालियों से बांध देते हैं। प्रत्येक कमची पर 10 से 20 कलियां आती हैं। अगले वर्ष की फसल के लिए कमची से नीचे प्रत्येक शाखा पर बढ़ने वाली और फल लगने वाली शाखा छोड़ दी जाती हैं।

कुंज विधि: जब बेल दो से चार फुट की ऊंचाई तक पहुंच जाती है, तब तने को झुका कर एक तार वाली जाली के साथ लगा देते हैं। काट-छांट के समय तने से ऊपर जाने वाली शाखाओं के बिलकुल पास नीचे की ओर अन्य फल-शाखाएं छोड़ दी जाती हैं।

मण्डप विधि: घेरा या कुंज विधि से उगाई गई बेलों को भूमि से लगभग तीन फुट ऊपर से दो या तीन शाखाओं में बढ़ने दिया जाता है। शाखाओं को मण्डप के समतल तारों से बांधकर बढ़ने और छत पर फैलने दिया जाता है। बेल के फल की किस्म के अनुसार शाखाओं पर उगने वाली छोटी-छोटी टहनियों को हरसाल काट देते हैं।

उत्तरी भारत में बेलों की काट-छांट आमतौर से साल में एक बार बसन्त में नई बेलें पैदा होने से पहले की जाती है। प्रायद्वीपीय भारत में वर्षा वितरण के अनुसार अंगूर की बेलों की साल में गर्मी में दो बार मार्च और मई के बीच और फिर सितम्बर और दिसम्बर में काटछांट की जाती है।

कभी-कभी बेलों में बैंत लपेट देते हैं, ताकि वे जल्दी बढ़ जाएं और उनका आकार और अंगूर के दानों की किस्म अच्छी हो सके।

सिंचाई: जब अंगूर की बेलों की छटाई हो जाती है, उसके बाद उनमें नई बेलें आनी शुरू हो जाती है। तब से लेकर अंगूर के फलों को तोड़ने के

समम तक बराबर सिंचाई करनी चाहिए। प्रायद्वीपीय भारत में जाड़ों में बेलों की छटाई से पहले पन्द्रह दिन के भीतर अगर भारी वर्षा हो तो छटाई के एक मास बाद बेलों की सिंचाई करनी चाहिए।

उर्वरक प्रयोग : बेलों की कटाई के समय प्रति बेल गोबर की खाद (पचास से साठ पौंड) के अतिरिक्त, 0.15 से 0.12 से 0.15 पौंड फासफोरस पेंटा आक्साइड और 0.30 से 0.40 पौंड पोटेशियम डालने की सलाह दी जाती है। जहां आवश्यक हो, वहां हरी खाद का प्रयोग किया जा सकता है।

फलों की चुनाई और हाट व्यवस्था : जब अंगूर के दाने रंग बदलने लगें और खाने में भी मीठे हो जाएं, तब उनके गुच्छों को तोड़ना चाहिए। तोड़े हुए फलों को धूप में नहीं रखना चाहिए और अगर फलों को दूर की मंडियों में भेजना हो तो लकड़ी का बुरादा बिछाकर फिर बक्सों में रखना चाहिए।

उन्नत किस्में : उत्तरी मैदान के लिए : मुख्य ब्लैक प्रिन्स, बीदाना फास्टर्स सीडलिंग, कन्धारी, दाख और अलेक्जन्डरिया का मस्कट।

शुष्क और समशीतोष्ण वाले क्षेत्र बीज रहित थाम्पसन, सुलताना और किशमिश।

दक्षिण भारत :नीला बंगलौरी, भोकरी, फाक दी, अनावेशाही।

अमरूद *(Pisidium guava)*

देश में अमरूद के कुल बगीचे लगभग 69,000 एकड़ भूमि में हैं, जिसमें उत्तर प्रदेश में सबसे ज्यादा क्षेत्र (24,000 एकड़) में है। उत्तर प्रदेश के बाद बिहार का दूसरा स्थान है, जहां 20,000 एकड़ भूमि में अमरूद के बगीचे हैं। अमरूद का वृक्ष बहुत कठोर व सहनशील होता है। यह गर्मी और लम्बी अनावृष्टि को सहन कर सकता है, लेकिन पाले का इस

पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जाड़े के कारण इसके वृक्षों में काफी फल आते हैं। यह सभी प्रकार की मिट्टी में, जिसमें 4.5 से 8.2 के बीच पी–एच० हो, उग सकता है। इसके फलों में विटामिन 'सी' (प्रति 100 ग्राम में 35 से 1000 मिलीग्राम) काफी मात्रा में होता है।

पौध की तैयारी : अमरूद के पौधे बीज और कलम द्वारा उगाए जाते हैं। आमतौर से भेंट कलम, दाब कलम और गुट्ठी बांधकर पौधों को तैयार किया जाता है। जड़ से निकले छोटे अंकुर, जड़ की कलमें और कला वाली टहनी सफलतापूर्वक लगाई जाती हैं। इसके पौधे साधारणत: बरसात में लगाये जाते हैं। पौधे साल भर के वाद रोपने योग्य हो जाते साधारणतया वृक्षों की दूरी 18 से 20 फुट तक की रखी जाती है।

कृषि क्रियायें : अमरूद के वृक्षों में हरी खाद की फसल बोनी चाहिए और वर्ष के शेष समय में केवल जुताई करनी चाहिए। उत्तरी भारत में बसन्त के वाद और जाड़े के बीच एक या दो बार सिंचाई करना जरूरी होती है। काफी जैविक खाद के अतिरिक्त, प्रति एकड़ 40 से 50 पौंड नाइट्रोजन, 70 से 80 पौंड फास्फोरस पेन्टआक्साइड और 90 से 100 पौंड पोटाश डालना चाहिए।

कटाई छटाई : छोटे पौधे की छटाई साल में कई बार करनी चाहिए। जिससे वृक्ष की शाखाएं पतली और लम्बी न हो सकें। नई शाखाओं से अधिक फल आते हैं। जब तक वृक्षों का आकार ठीक न हो जाए तब तक उन पर आने वाले फूलों को तोड़ते रहना चाहिए।

फलों की चुनाई : अमरूद के फल जब पकने लगें, तब उन्हें तोड़ना चाहिए। ये कई हफ्ते तक पकते रहते हैं। दूर की मंडियों में भेजने के लिए फलों को पूरा पकने से पहले ही तोड़ लेना चाहिए। अमरूद की प्रति एकड़ दस टन के लगभग उपज प्राप्त हो जाती है।
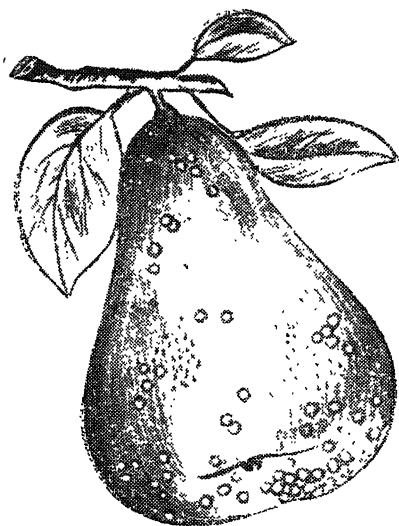
ये संसार प्रसिद्ध वार्टलैट नाशपातियां खाने में बहुत अच्छी समझी जाती हैं।
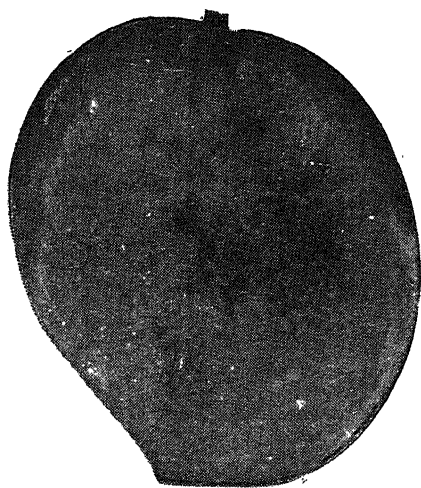
भारत अपने रसीले मीठे आमों के लिए संसार में प्रसिद्ध है
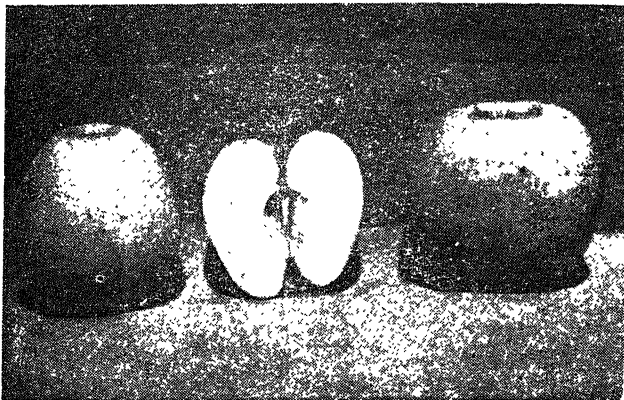
गोल्डन डैलीशियस किस्म के सेब

कश्मीर का प्रसिद्ध अम्बरी सेब
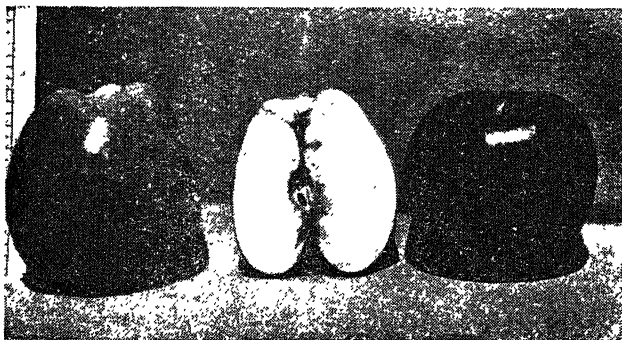
उन्नत किस्में : सफेद गूदे की किस्मों में लखनऊ—49, इलाहाबादी और बिना बीजों वाली किस्म आती हैं। गुलाबी रंग के गूदेवाले लालछिलके के साथ सफेद रंग के गूदे वाले तथा कई और किस्मों के भी अमरूदहोते हैं।

कटहल *(Artocarpus integrifolia)*

कटहल दक्षिणी भारत के नम जलवायु वाले क्षेत्रों में घर के बगीचों और काफी के बागानों में छुट-पुट रूप में लगाया जाता है और लगभग 5000 फुट ऊंचाई तक के ढालों के समशीतोष्ण जलवायु में उगाया जाता है। अगर भूमि में पर्याप्त नमी हो तो गर्म मैदानों में भी इसे उगाया जा सकता हैं। अधिक सर्दी और पाले से इसके वृक्षों को नुकसान पहुंचता है।

इसकी मुख्य किस्में रुद्राक्षी, सिंगापुर और सीलोन हैं।

पौध की तैयारी : भेंट कलम द्वारा कटहल के पौधों को तैयार किया जाता है। इसके मूल पौधे पर इसी की कलम बिठाते हैं। खेतों में रोपाई करते समय वृक्षों के बीच में लगभग 40 फुट की दूरी रखना काफी होता है।

फल तोड़ना : सिंगापुर किस्म के वृक्षों पर दो से तीन वर्ष के बाद फल आने लगते हैं। अन्य किस्मों के वृक्षों पर फल आने में लगभग आठ वर्ष लग जाते हैं। इस के फलने का मौसम मार्च से जून तक होता है। अधिक ऊंचाई वाले क्षेत्रों में यह मौसम सितम्बर तक चलता जाता है। एक पेड़ से लगभग 250 तक फल प्राप्त हो जाते हैं। किसी किसी फल का वजन लगभग 80 पौंड तक होता है।

बेर *(Zizyphus jujuba)*

मुख्यत: देश के उत्तरी, पूर्वी और पच्छिमी भागों में 10,000 एकड़ क्षेत्र में बेर के बगीचे हैं। सभी प्रकार की मिट्टी इसके लिए उपयुक्त है चाहे वह काफी क्षारीय ही क्यों न हो। इसका वृक्ष बहुत दिनों तक सूखे की

स्थिति और भूमि में पानी को सह सकता है, पर पाले से इसे नुकसान पहुंचता है।

पौध की तैयारी : पौधे अधिकतर बीजों से तैयार किए जाते हैं। उत्तरी भारत में ढाल-चश्माबन्दी और छल्ला-चश्माबन्दी करके पौधे तैयार किए जाते हैं, तब उन्हें खेतों में रोपा जाता है। झड़बेरी जैसी किस्मों के बीज से उगाये गए पौधों के साथ चश्मा-बन्दी की जाती है। पौधों को 20 फुट की दूरी पर लगाना चाहिए। बेर के बीजू वृक्षों को जमीन से दो से पांच फुट की ऊंचाई पर से काट देना चाहिए और बसन्त या पतझड़ के समय नई शाखाओं की कलमें चढ़ानी चाहिएं।

कृषि क्रियाएं : यद्यपि बेर के वृक्षों की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। लेकिन फल बढ़ने के समय आवश्यक खाद, निराई-छटाई और सिचाई करने से फलों की उपज में वृद्धि हो जाती है।

कटाई-छटाई : लम्बी और आधे इंच से भी कम मोटी पतला शाखाओं को हटाने और वृक्षों के आकार को बेडोल होने से बचाने के लिए फल तोड़ने के बाद पेड़ों की काफी छटाई करने की आवश्यकता पड़ती है। वृक्षों पर फूल आने से पहले छटाई करने से लम्बी शाखाओं के छोर पर फलों का आना रोका जा सकता है।

फलों की चुनाई : पतझड़ में वृक्षों पर फूल आते हैं और जाड़े में फल पकते हैं। फलों को तभी तोड़ना चाहिए जब पेड़ पर ही पूरे पक जाएं।

लीची (Litchi chinensis)

उत्तरी बिहार, पच्छिमी उत्तर प्रदेश के थोड़ी ऊंचाई वाले पहाड़ी जिलों और पंजाब में व्यापक रूप से लीची पैदा की जाती है। फल पकते समय अगर गर्मी के दिनों में लू चलें तो फलों को बहुत नुकसान होता है।

बलुई दुमट और चिकनी दुमट मिट्टी, जिसमें चूना अधिक मात्रा में हो, इसके लिए बहुत उपयुक्त है।

पौध की तैयारी : पौधों को तैयार करने का अच्छा तरीका दाब कलम विधि है। भेंट कलम, चश्मा बन्दी और कलमों द्वारा भी पौधे तैयार किए जाते हैं। एक वर्ष पुरानी दाब कलमें बरसात में तीस फुट की दूरी पर गड्ढ़ों में लगाई जाती हैं।

कटाई-छटाई : लीची के वृक्षों की शाखाओं में पिछले वर्ष जो नई शाखाएं निकलती हैं, उन्हीं पर फल आते हैं। पके फलों के गुच्छों को तोड़ते समय एक फुट तक टहनी को तोड़ना ही पेड़ की पर्याप्त छटाई समझी जाती है।

कृषि क्रियायें : छोटे पौधों के ऊपर छप्पर डालकर या हवा के रुख पर बाड़ लगाकर उन्हें पाले और लू से बचाना चाहिए। पौधे के पास की घास-पात को समय-समय पर निकाल देना चाहिए। जनवरी के बाद से सिंचाई शुरू करनी चाहिए। जैविक खाद की अधिक मात्रा के अतिरिक्त, उर्वरक मिश्रण, जिसमें नाइट्रोजन, फास्फोरस पेन्टाआक्साइड और पोटाश मिले हुए हों, देना चाहिए और अगर मिट्टी में चूने की कमी हो तो कैल्शियम आक्साइड भी डालना चाहिए।

फलों की चुनाई : वृक्षों से फलों के गुच्छों को हाथ से तोड़ते हैं। औसत दर्जे के वृक्ष से हर साल लगभग तीन मन फल मिल जाते हैं।

उन्नत किस्में : बिहार में चाइना, पूर्वी, देसी, बीदाना और देहरा रोज़ किस्में, उत्तर प्रदेश में रोज़ सेन्टेड, अरली लार्ज रेड, कलकतिया, गुलाबी और बिना बीज की पिछेती किस्में और पच्छिमी बंगाल में चाइना और मुजफ्फरपुर आदि के उगाने की सलाह दी जाती है।

लुकाट (*Eriobotrya japonica*)

लुकाट मुख्य रूप से पंजाब और उत्तर प्रदेश (प्रत्येक राज्य में लगभग 2,000 एकड़ क्षेत्र में), दिल्ली के कुछ भागों में, असम, महाराष्ट्र और दक्षिणी भारत की पहाड़ियों पर होता है। यद्यपि इसके वृक्ष पानी जमने से नीचे के तापमान को भी सहन कर सकते हैं, पर जाड़े में लगने वाले इसके फूलों और छोटे फलों को पाले से काफी नुकसान पहुंचता है। जिन क्षेत्रों में बहुत कम सर्दी पड़ती है, वहां यह अच्छी तरह नहीं फलता-फूलता। इसके वृक्ष विभिन्न प्रकार की मिट्टी में उग सकते हैं।

उन्नत किस्में : उत्तरप्रदेश के लिए निम्न किस्मों की सिफारिश की जाती है :

इसकी अगेती किस्मों में गोल्डेन येलो, इम्प्रूव्ड गोल्डेन यैलो और थाम्स प्राइड ; मध्यम पिछेती किस्मों में पेल यैलो, लार्ज पेलयैलो और लार्ज आगरा और पिछेती किस्मों में कैलिफोर्नियन एडवांस और तनका प्रसिद्ध हैं।

पौध की तैयारी : दाब कलम (अल्फा नैपथैलिन एसेटिक एसिड की तीन प्रतिशत घोल की मदद से), जाड़े के आखिरी दिनों में चश्माबंदी, भेंट कलम और अन्य कलम चढ़ाने के तरीकों को अपनाकर इसके पौधों को तैयार करते हैं। लुकाट की अपनी किस्मों के बीजू वृक्ष कलम चढ़ाने के लिए सबसे अच्छे होते हैं। इसके वृक्ष 25 से 30 फुट की दूरी पर लगाए जाते हैं।

कटाई-छटाई : पिछली गर्मी में बढ़ी हुई टहनियों को, बीच से काट देते हैं, ताकि फलों की संख्या कम और आकार बड़ा हो जाए। मई के अन्त में टहनियों को कली फूटने से पहले ही दो इंच तक काटने से वृक्षों पर जल्दी फूल आना बन्द हो जाता है और इससे फल की उपज बढ़ जाती है।

उर्वरक और सिंचाई : लुकाट के पेड़ उगाने में अधिक मेहनत नहीं करनी पड़ती, परन्तु इसके पेड़ों को काफी मात्रा में खाद देनी पड़ती है। नाइट्रोजन और पोटाश और कभी-कभी अन्य पोषक तत्वों को देना जरूरी होता है। इसके फल बसन्त के अन्त में पकते हैं। अतः इसकी विशेष रूप से सिंचाई करना आवश्यक है। इसकी सिंचाई उस समय शुरू करनी चाहिए जब वृक्षों पर फल आने शुरू हो जाएं।

फलों की चुनाई : वृक्षों पर जब इसके फल पक जाएं, तब उन्हें तोड़ना चाहिए। उसके बाद बाहर ले जाने के लिए उन्हें चौड़ी टोकरियों या बक्सों में पैक करना चाहिए। इसके फलों की औसत उपज प्रति वृक्ष साठ पौंड होती है।

पपीता (*Carica papaya*)

यह बहुत कम क्षेत्र में होता है, परन्तु इसकी काश्त सारे देश में की जाती है। 5,000 फुट से अधिक ऊंचाई को छोड़कर यह लगभग हर स्थान पर अच्छी तरह पैदा होता है। यह कम तापमान को सहन नहीं कर सकता। इसके लिए शुष्क-गर्म जलवायु आवश्यक है। तेज आंधी से इसे बहुत नुकसान पहुंचता है। क्योंकि उससे इसके पोले तने टूट जाते हैं। यद्यपि यह विभिन्न मिट्टी वाले क्षेत्रों में उगाया जाता है, परन्तु इसकी सबसे अच्छी उपज दुमट मिट्टी में होती है। गहरी चिकनी मिट्टी में, जहां पानी जमा हो इसकी काश्त नहीं करनी चाहिए। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में इसके तनों के नजदीक अधिक देर तक पानी भरा रहना बहुत हानिकारक है।

पौध की तैयारी : इसके पौधे मुख्यतः बीजों द्वारा उगाए जाते हैं। एक एकड़ भूमि में पौध लगाने के लिए 4 से 8 औंस बीजों की आवश्यकता पड़ती है। मादा पौधे पर लगे और अच्छी तरह पके हुए बड़े फलों से प्राप्त

बीज अक्सर अच्छे होते हैं। बीज द्वारा पौधे उगाने के लिए वर्षा ऋतु का सबसे बढ़िया समय है। पौधे 4 से 6 सप्ताह में 9 से 12 इंच ऊंचे हो जाते हैं और दूसरे स्थानों पर रोपने के लिए तैयार जाते हैं। उन्हें जड़ों के इर्द-गिर्द की मिट्टी सहित उखाड़ कर 8 से 12 फुट की दूरी पर छोटे-छोटे गड्ढों में लगा देते हैं। प्राय: एक गड्ढे में एक-एक फुट की दूरी पर 2 या 3 पौधे लगाए जाते हैं। जब नर और मादा पौधे फूलने लगते हैं तो परागण के लिए कुछ नर पौधों को छोड़कर शेष नर पौधे उखाड़कर फेंक दिए जाते हैं। 10 से 20 तक मादा पौधों के परागण के लिए एक नर पौदा पर्याप्त होता है। पौधे लगाने का काम बरसात में बढ़िया होता है।

कृषि क्रियायें : पौधों की सिंचाई सर्दियों में 10 से 12 दिनों के अन्तर से और गर्मियों में 6 से 8 दिनों के अन्तर से की जाती है। इनके तनों के समीप पानी न रुके, इसलिए भूमि ढलवां होनी चाहिए। पौधे लगाते समय प्रति गड्ढे में 20 पौंड गोबर की खाद डाली जाती है। इसके पश्चात् छ:-छ: महीने बाद एक बार बरसात के शुरू में और दूसरी बार सर्दी के मौसम में 80 से 100 पौंड गोबर की खाद डालते हैं। 25 से 50 पौंड नाइट्रोजन, 50 से 100 पौंड फास्फोरस ($P_2 O_5$) और 50 से 100 पौंड पोटाश के उर्वरक मिश्रण की दो मात्राएं हर छ: महीने के बाद डालनी चाहिएँ। साल में एक या दो बार हल्की-सी जुताई करके पाटा फेरना और निराई-गुड़ाई करना आवश्यक है। पपीते के खेत में अगेती सब्जियां बोई जा सकती हैं। समय-समय पर फालतू फलों को तोड़कर निकालना अच्छा रहता है। पपीते को फसल के रूप में या उन फसलों के साथ जहां बीच-बीच में काफी जगह छूटी हुई हो, उगाया जा सकता है।

फल तोड़ना और हाट-व्यवस्था : रोपाई के छ: महीने बाद पपीते पर फूल आते हैं और फूल आने के छ: महीने बाद फल पक जाते हैं। सर्दी

को छोड़कर पपीते पर सभी मौसमों में फूल और फल आते हैं। जब छिलके का रंग बदल जाए तब इसके फलों को सख्त और सही अवस्था में ही तोड़ लिया जाता है। एक वृक्ष पर 30 से 150 तक फल आते हैं।

आड़ू *(Prunus persica)*

यह मुख्यतः हिमालय की विभिन्न ऊंचाई वाले क्षेत्रों में होता है। देश के अन्य भागों में भी इसके बगीचे लगाए जाते हैं।

उन्नत किस्में : आड़ू की कुछ अच्छी किस्में इस प्रकार है : अर्ली बीट्राइस, अलैक्जेडर, अरली रिवर्स, ड्यूक आफ यार्क, पेरेग्राइन, नोब्लीज, लेट डिवोनियन, एलबर्टा, जे० एच० हेल और ट्रायम्फ। जे० एच० हेल को छोड़कर आड़ू की सभी किस्में अपने-आप फल देने वाली हैं और बिना पर-परागण (क्रास पोलिनेशन) के अच्छी फसल देती हैं।

पौध की तैयारी : इसके पौधे आड़ू के बीजू वृक्षों पर कली चढ़ाकर तैयार किए जाते हैं। बसंत के शुरू में एक साल बड़ी कलमें 20 से 25 फुट की दूरी पर लगाई जाती है।

कटाई-छटाई : आड़ू अच्छी तरह फल सके इसके लिए उसकी कटाई-छटाई प्रतिवर्ष आवश्यक होती है। पौधा लगाते समय इसके तने को जमीन से लगभग 2 फुट की ऊंचाई से काट देते हैं और चारों ओर तीन या चार शाखाएं फैलने के लिए छोड़ देते हैं। पहली गर्मी के मौसम में निकली अन्य सभी शाखाएं काट दी जाती हैं। आड़ू की कटाई-छटाई इस ढंग से की जानी चाहिए कि वह बीच में खुला रहे।

परन्तु जहां दो शाखाओं का जोड़ होता है, उन शाखाओं की छटाई नहीं करनी चाहिए। अन्यथा वे कमजोर हो जाएंगी। छटाई करते समय शाखाओं को इस ढंग से काटना चाहिए जिससे कि वृक्ष अच्छी प्रकार फैल सके।

एक वर्ष की आयु वाली छोटी-छोटी टहनियों पर फल वाली कलियां आती है। प्राय: एक गांठ पर फल की दो कलियां और एक कोंपल निकलती है। फल की कलियां डाली के तने के मध्य से ऊपर की ओर लगती हैं। शाखाओं को काटते समय फल की कलियों का ध्यान रखना चाहिए।

आडू के बगीचे की नियमित रूप से जुताई करनी चाहिए। सामान्यत: सर्दियों में 4 इंच से कम गहरी जुताई की जाती है। फल तोड़ने के बाद बरसात में हरी खाद की फसल बो देनी चाहिए और सर्दियों में हल चलाकर उसे मिट्टी में दबा देना चाहिए। बसन्त में फल देने वाले पौधों में प्रति एकड़ 50 से 60 पौंड नाइट्रोजन, 50 से 60 पौंड फासफोरस पैन्टा आक्साइड 100 से 120 पौंड पोटाश का उर्वरक मिश्रण डालना चाहिए। मई और जून के महीनों में पककर अपने आप फलों के गिरने के शीघ्र बाद फलों की आवश्यक चुनाई करते हैं, ताकि उनमें आपस में 4 से 6 इंच का अन्तर रहे। आडू के फलों को सख्त अवस्था में ही तोड़ लिया जाता है है। क्योंकि वे भण्डारण और दलान के समय अच्छी तरह पक जाते हैं।

किस्में : इसकी महत्वपूर्ण किस्में वाशिगटन, हनीड्यू (मधुबिंदु), सिगापुर और सीलोन हैं। मौजूदा कृषि दशाओं में ये किस्में शुद्ध नहीं रहतीं और इनके वृक्षों और फलों में काफी भिन्नता हो जाती हैं।

नाशपाती : *(Pyrus Communis)*

नाशपती के पेड़ अधिकांशत: 5,000 से 7,000 फुट की ऊंचाई वाले पहाड़ी क्षेत्रों में उगाए जाते हैं। इसकी काश्त कम की जाती है क्योंकि इसका अच्छी तरह भण्डारण नहीं किया जा पाता।

उन्नत किस्में : नाशपाती की निम्न लिखित किस्मों को उगाने का सुझाव दिया गया : विलियम बान क्रिस्टीन (बार्टलेट, क्लैप्स फेवरिट, थाम्पसन

डोयने डू कौमिस, ईस्टर बयूरे, विंटर नेलिस, कांफ्रेंस, डा० जूल्स ग्योट, मेरी लूसी डि अकिल, बब्बू-गोशा और एमिल डी हेस्ट। बब्बू गोशा उप-पर्वतीय क्षेत्रों में पैदा किया जा सकता है। परन्तु वह घटिया किस्म का होता है। इसकी एक किस्म नाशपाती है जो मैदानों में सफलता पूर्वक उगाई जाती है।

पौध की तैयारी : इसके पौधे चश्माबन्दी द्वारा जून-जुलाई में तैयार किए जाते हैं। जिन पौधों पर चश्माबन्दी की जाती है उन्हें बाजारी या जंगली नाशपाती (शेगल) के बाजों से उगा लिया जाता है। नाशपाती के बौने वृक्ष उगाने के लिए बिही (क्विस) 'सी' किस्म के पौधे मूल पौधेरूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। कुछ किस्में बिही पर उगाने के लायक नहीं होतीं। उनको उगाने के लिए दोहरा तरीका अपनाया जाता है, जिसमें नाशपाती को मध्यस्थ के रूप में स्तेमाल किया जाता है क्योंकि ये बिही के पौधे पर सफलतापूर्वक लग सकती है।

कटाई-छटाई और सिंचाई : नाशपाती के पौधे पर चढ़ाई गई कलम से तैयार नाशपाती के वृक्ष जल्दी बढ़ते हैं। जब उन्हें विभिन्न किस्मों में तैयार किया जाता है तब वे बौने रहते हैं। पिरामिड जैसे बनाने के लिए कलमों को लगाते समय भूमि से ढाई फुट ऊपर से काट देते हैं। अगली सर्दियों में मूल शाखा की 10 इंच तक और आसपास की 8 इंच तक छटाई कर दी जाती है। दूसरी गर्मी में सभी बड़ी शाखाओं और उपशाखाओं के गुच्छों से पांच या छः पत्ते पीछे तक छटाई करके बीच वाली शाखा को बिना किसी रुकावट के बढ़ने के लिए छोड़ देते हैं। तीसरी सर्दी में बीच वाली शाखा को काटकर उसका एकतिहाई भाग ही रहने देते हैं। परन्तु अन्य शाखाओं और उपशाखाओं की छटाई नहीं की जाती।

फलों की छटाई : नियमानुसार सेब की अपेक्षा नाशपाती के फलों की संख्या कम करने की आवश्यकता कम होती है। उपजाऊ किस्मों की

सूरत में एक गुच्छे में एक फल और अन्य किस्मों में एक गुच्छे में एक से दो फल तक छोड़ देते है।

उर्वरक प्रयोग : खाद डालने का ढंग और समय वही है जो कि सेब के लिए होता है लेकिन सेब की अपेक्षा इसमें नाइट्रोजन कुछ अधिक डालनी चाहिए।

फल तोड़ना और हाट व्यवस्था : पेड़ों से नियमानुसार नाशपाती की अगेती किस्म के फल पहले तोड़ लिए जाते हैं और पिछेती के फल कुछ देर से तोड़े जाते हैं। शीघ्र पकने वाली किस्मों को बिना गोदामों में रखे ही पेटियों में बन्द कर देते हैं, जबकि देर से पकने वाली किस्मों को गोदामों में रखने की आवश्यकता पड़ती है, ताकि उनमें पूरी महक आ सके।

अनन्नास *(Ananas sativa)*

अनन्नास की खेती लगभग 10,000 एकड़ में होती है। यह मुख्यत: असम, पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा, उत्तर प्रदेश, मद्रास, आंध्रप्रदेश, केरल, मैसूर और बम्बई में पैदा होता है। यह आर्द्र उष्णकटिबन्धीय जलवायु में होने वाला फल है और मैदानों और 3,000 से कम ऊँचाई के स्थानों पर पैदा होता हैं। यदि पानी की निकासी का अच्छा प्रबन्ध हो तो यह हर किस्म की मिट्टी में पैदा हो सकता है।

पौध की तैयारी : अनन्नास के पौधे जड़ के नये कल्ले, विकसित अंखुओं वाली डाल की कलम और डंठल से उगाए जाते हैं। जो कल्ले पौधों की जड़ से बढ़ते हैं, उन्हें उगाने के लिए अधिक स्तेमाल किया जाता है। अंखुए फल देने वाली टहनी और फल के सिरे पर बढ़ते हैं। फल तोड़ लेने के बाद डंठल को छोटे टुकड़ों में काटकर उगाया जाता है। कल्लों से उगाए पौधे लगभग 18 महीनों में तथा प्ररोहों और स्टाक से उगाए गए

पौधे दो साल के बाद फल देते हैं।

लगाने ने पूर्व पौधों की निचले पत्तियों को उतार देते हैं और उन्हें धूप में या थोड़ी छाया में तीन या चार दिन तक सुखाकर ठीक करते हैं। उन्हें या तो समतल भूमि में, जहां पानी जमा होने का डर नहीं होता, या मेड़ों पर बोया जाता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि पेड़ों की कली दब न जाय। पौधों के बीच 2 फुट से 6 फुट तक की और कतारों के बीच 5 से 6 फुट की दूरी होनी चाहिए। पौधे लगाने के लिए वर्षाऋतु का समय सबसे बढ़िया रहता है।

कृषि क्रियाएं : पौधे लगाने से पहले खेत को हल सुहागा आदि चलाकर ठीक करते हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में सीढ़ीदार खेत बनाओ और सूखे क्षेत्रों में इसकी नियमित सिंचाई आवश्यक होता है। वर्षा के क्षेत्रों में भी सूखे मौसम में हर सप्ताह या 10 दिन के बाद सिंचाई करना जरूरी है। पौधा लगाने के बाद छठे और बारहवें महीने में प्रति एकड़ 10 से 20 टन तक घूरे की खाद की दो मात्राएं डालते हैं। प्रति एकड़ 100 से 150 पौंड नाइट्रोजन, 100 से 150 पौंड फास्फोरस पेन्टाआक्साइड और 150 से 200 पौंड पोटाश का उर्वरक मिश्रण दो बार बराबर मात्रा में डालते हैं—एक बार फूल आने के समय और दूसरी बार बरसात में। पेड़ों के लिए प्रत्येक पौधे पर दो गाछे छोड़ देते हैं। फल तोड़ने के बाद कल्लों की जड़ों को मिट्टी से ढक दिया जाता है। चार पांच साल तक फसल एक ही स्थान पर ली जाती है। उसके बाद नये पौधे उगाये जाते हैं।

फल तोड़ना और हाट-व्यवस्था : अनन्नास प्रायः फरवरी से अप्रैल तक फूलता है और जुलाई से सितम्बर तक इसके फल तैयार हो जाते हैं। कभी-कभी बिना मौसम के भी फूल आ जाते हैं, जिनसे सितम्बर से दिसम्बर तक फल तैयार होते हैं। जब फलों का रंग थोड़ा-सा पीला हो जाता है, उसकी आंखें बड़ी हो जाती हैं और फल के ऊपर वाले प्रकोष्ठ सूख जाते

हैं, तब उन्हें तोड़ा जाता है। फलों को दो इंच लम्बे डठल और 4 इंच लम्बे शिखर सहित तोड़ लेते हैं।

पहले साल छोटी किस्मों की उपज प्रति एकड़ पांच से सात टन होती हैं और क्यू किस्म की 10 से 12 टन तक बाद की फसलों की उपज कम हो जाती है। बाहर भेजने के लिए फलों को घास में लपेटकर बांस की टोकरियों या पेटियों में एक या दो तहों में रखते हैं।

किस्में : इस देश में अधिक लोकप्रिय किस्में क्यू (Kew), क्वीन और मॉरिशश हैं। क्यू किस्मों पर बड़े फल लगते हैं। डिब्बाबन्दी के कारण इसका बहुत महत्त्व है। अन्य दो किस्मों के फल छोटे होते हैं, जो बढ़िया माने जाते हैं। क्यू पर फल देर से आते हैं, क्वीन पर जल्दी, जबकि मारिशश पर कुछ देर से फल आते हैं।

आलूबुखारा : (*Prunus domestica*)

आलू बुखारा मुख्यतः हिमालय की पहाड़ियों पर होता है, जहां निम्नलिखित किस्में सफलतापूर्वक उगाई गई है—ग्रांड ड्यूक, अरली ट्रांस्पेरेंट गेज, विक्टोरिया, संतरोजा, विक्सन, ब्यूटी और केलसे। ब्यूटी और संतरोजा अपने आप फलने वाली किस्में हैं। शेष सभी किस्मों को परपरागण की आवश्यकता होती है। आलूबुखारा प्रायः जंगली खूबानी या आड़ू पर चश्मा बन्दी द्वारा उगाया जाता है। पौधा लगाने, काश्त करने, पौधों की दूरी और उर्वरक डालने आदि के ढंग वही हैं; जो कि आड़ू के लिए अपनाए जाते हैं।

कटाई-छटाई : पौधे को उगते समय उसे चोटी से लगभग दो फुट नीचे से काट लिया जाता है। तने के इर्द-गिर्द की तीन पाड़ शाखाओं को, जिनकी दूरी बराबर हो, चुन लेना चाहिए और बेकार शाखाओं को काट देना चाहिए। पहले सर्दी में छटाई के समय मुख्य शाखाओं को ऊपर से

काट दिया जाता है। वर्ष के दौरान मुख्य और विचौलिया शाखाओं को छोड़कर अन्य सभी छोटी-मोटी शाखाओं को काट दिया जाता है। दूसरी सर्दी में छटाई करते समय दूसरी शाखाओं पर चढ़ने वाली और बेकार शाखाएं हटा दी जाती हैं। पौधों की वे किस्में, जो ऊपर को वढ़ती हैं, उनकी शाखाओं के सिरों को बाहर की तरफ मोड़ देना चाहिए ताकि वे अच्छी तरह फैल सकें। बाद में हर साल इस तरह की छटाई करना चाहिए।

फलों की चुनाई और हाट-व्यवस्था : लन्दन के लिए फलों को पूरी तरह पकने से कुछ दिन पूर्व तोड़ लेते हैं, प्रत्येक किस्म में फल का रंग बदल जाने से उसके पकने का पता चलता है। जल्दी पकने वाली किस्मों की अपेक्षा देर से पकने वाली किस्मों को ज़्यादा पकने दिया जाता है। फलों की तीन या चार चुनाई की जाती है।

अनार *(Punica granatum)*

अनार का सबसे अधिक क्षेत्र (लगभग 1200 एकड़) वम्बई में में है। किंतु अन्य सभी क्षेत्रों में भी अनार के पौदे बहुत से वगीचे पाए जाते हैं। जिन क्षेत्रों में सर्दियों में अधिक सर्दी पड़ती है, वहां अनार के पेड़ों के पत्ते झड़ जाते हैं और वे 12° फारनहाइट तक के तापमान को ही सहन कर सकते हैं। परन्तु मैदानों में वे सदा हरे रहते हैं। बढ़िया फल पैदा करने के लिए गर्म और शुष्क मौसम लाभदायक होता है। हल्की मिट्टी की अपेक्षा भारी दुमट मिट्टी में बढ़िया किस्म के फल पैदा होते हैं।

पौध की तैयारी : पौधे बीजों और कलमों द्वारा तैयार किए जाते हैं। तैयार शाखा में से काटे गए 9 से 12 इंच के टुकड़ों में शीघ्र जड़ें आ जाती हैं। वे कलमें 15 से 20 फुट की दूरी पर लगाई जाती हैं। समीप लगाने पर वे झाड़ी का रूप धारण कर लेती है किंतु फल बराबर देती रहती हैं।

कृषि क्रियाएं : अनार के लिए साधारण जुताई और सिंचाई पर्याप्त समझी जाती है। प्रत्येक पेड़ में प्रति वर्ष 70 से 100 पौंड तक घूरे की खाद डालने से फसल अच्छी होती है। अनार को एक या दो फुट तने वाले वृक्ष के रूप में अथवा तीन या चार मुख्य शाखाओं वाली झाड़ियों के रूप में तैयार किया जा सकता है। दोनों सूरतों में जड़ों, तनों और मुख्य शाखाओं से निकलने वाले कल्लों को साल में एक बार काट लेते हैं। लम्बी पतली शाखाओं को काटकर छोटा कर देना चाहिए और समय-समय पर घनी व बेकार शाखाओं की छटाई कर देनी चाहिए।

फलों की चुनाई : इसके फल का छिलका सख्त होता है। अतः इसे तोड़ते समय किसी विशेष सावधानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह खराब नहीं होता और इसे बिना नुकसान के दूर-दूर की मंडियों में भेजा जा सकता है।

चीकू (*Achras sapota*)

सपोटा, सैंपोडिला, नेस-बेरी, सैपोडिला प्लम या चीको जिसे पश्चिमी और मध्य भारत में चीकू के नाम से जानते हैं, विभिन्न प्रकार की मिट्टी और जलवायु में पैदा किया जा सकता है। यह पंजाब और उत्तर प्रदेश की सर्दी को सहन करता है, पश्चिमी और दक्षिणी भारत के अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में फलता-फूलता है और भारत के शुष्क भागों में भी समान रूप से पैदा होता है। इसका पौधा सदा हरा रहता है और प्रायः सारे वर्ष भर इस पर फूल आते रहते हैं। फल पर बरसात और बदली का कुप्रभाव नहीं पड़ता। छोटे पौधों को पाले द्वारा शीघ्र ही हानि पहुंचती है, परन्तु बड़े पौधे थोड़े समय तक पड़ने वाले पाले को सहन कर सकते हैं। इसे किसी विशेष मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु यह क्षारीय या बलुई दुमट मिट्टी में, जहां पानी की निकासी का प्रबन्ध हो, अच्छा उगता है।

पौध की तैयारी : इसके पौधे दाब-कलम, गुट्टी या भेंट कलम द्वारा तैयार किए जाते हैं । बगली कलम और कली चढ़ाकर भी पौधे उगाना सम्भव है। इसमें मनीकरा या महोवा किसान कलम प्रयोग की जाती है। उत्तरी भारत में पेड़ 15 से 20 फुट की दूरी पर लगाये जाते हैं, जबकि दक्षिण में 30 से 40 फुट की दूरी पर । उत्तरी भारत में छोटे पौधों को लगाने के बाद पाले, और गर्म हवा से अच्छी तरह बचाना चाहिए।

कृषि-क्रियाएं : पौधे लगाने से पूर्व खेत को जोत कर और सुहागा फेर कर बराबर करते हैं । बरसात के मौसम को छोड़कर इसकी सिंचाई 6 से 12 दिनों के अन्तर से की जाती है । साल में एक या दो बार निराई की जाती है और हल या हैरो चलाकर जमीन को नर्म किया जाता है। आम की भांति ही इसको खाद और उर्वरक दिए जाते हैं। फलधारी पेड़ों में खाद और उर्वरक की आधी मात्रा अक्तूबर-नवम्बर में डाली जाती है और बाकी आधी मात्रा फरवरी-मार्च में या बरसात से पहले डालते हैं । पहले छः से दस वर्षों तक पौधों के बीच में बची हुई जगह में सब्जियां उगाई जा सकती हैं। चीकू के वृक्षों के लिए छटाई की कोई आवश्यकता नहीं होती।

फलों की चुनाई और हाट व्यवस्था : अच्छी फसल चौथे या पांचवें वर्ष से शुरू होती है। फल चार महीनों में तैयार हो जाते हैं और वृक्षों पर फल सारे साल आते रहते हैं। इसके वृक्षों से दो या तीन मौसमों में फल तोड़ें जाते हैं। उत्तर और मध्य भारत में मार्च-अप्रैल और अगस्त-सितम्बर, दक्षिणी भारत में फरवरी-जून और सितम्बर-अक्तूबर, और पश्चिमी भारत में जनवरी-फरवरी और मई-जून में फसल तैयार हो जाती है । एक वृक्ष पर चौथे साल दो सौ-तीन सौ फल, सातवें साल सातसौ से आठ सौ, दसवें और पन्द्रहवें वर्ष के बीच 1500 से 2000 और बीस से तीसवें वर्ष तक 2,500 से 3,000 तक फल लगते हैं। नाखून द्वारा खरोंचने से पके हुए फलों पर पीली और कच्चे फलों पर हरी रेखाएं पड़ जाती हैं।

दूर की मण्डियों में भेजने के लिए फलों को तोड़ने के बाद शीघ्र ही बांस की टोकरियों में घास बिछाकर भर देते हैं। अंडाकार और गोल फलों को अलग-अलग बन्द करना चाहिए।

किस्में : क्रिकेट बाल और द्वारपुडी किस्में मद्रास में आमतौर से होती हैं। इन दोनों किस्मों के फल गोल होते हैं। बंगलौरा, विविवलस (दोनों अंडाकार फल देने वाली किस्में), जोनवलस (गोल फल देने वाली किस्म), किरतावर्ती और पॉट (दोनों छोटे पेड़ों की किस्में) आन्ध्रप्रदेश में प्रसिद्ध हैं। पश्चिमी भारत में काली पट्टी और चतरी मशहूर किस्में हैं। इन दोनों किस्मों के फल अंडाकार होते हैं।

केला : *(Musa Paradisiaca)*

केला मद्रास, बंगाल, केरल, बम्बई, मैसूर, आंध्र प्रदेश और बिहार के चार लाख एकड़ के क्षेत्र में पैदा होता है। घटिया किस्म का केला उत्तर भारत के कुछ क्षेत्रों में भी उगाया जाता है। केले की मूल जड़ों से छोटे कल्ले निकलते हैं जिन्हें निकालकर लगाते हैं। चार फुट ऊंचे पौधे रोपाई के लिए उपयुक्त रहते हैं। रोपाई के बाद प्रति पौधा चालीस से पचास पौंड घूरे की खाद दस पौंड राख के साथ डालनी चाहिए। इसके लिए दक्षिणी भारत में दो सौ पौंड प्रति एकड़ की दर से अमोनियम सल्फेट तथा पश्चिमी भारत में पांच पौंड खली की खाद प्रति पौधा दी जाती है।

फलों की चुनाई : दक्षिण भारत में तथा पश्चिमी भारत में केले की जल्दी तैयार होने वाली किस्में रोपाई के सात महीने के बाद फूलने लगती है। फूलने के सात महीने बाद केले की फलियां पक जाती हैं। पूवन किस्म की पहली फसल रोपाई के बारह या चौदह महीने में फल देने लगती है और दूसरी फसल इक्कीस से चौबीस महीनों के बीच तैयार हो जाती है। इसके अलावा अन्य क्षेत्रों में पहली फसल रोपाई के एक वर्ष बाद

नेन्द्रन केलों का एक गुच्छा
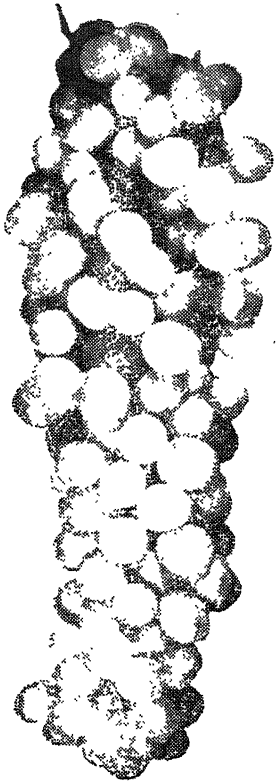
अनाबे शाही
अंगूर

भोकरी अंगूर
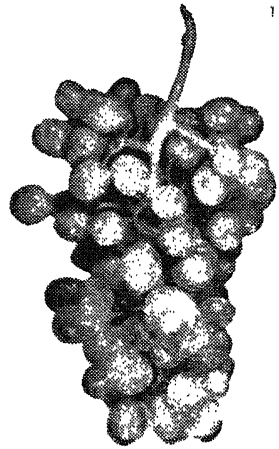
तैयार हो जाती है और दूसरी इसके छः से दस महीने के बीच तैयार हो जाती है।

उपज : जब केले की फलियां पूरी पक जाएं और ऊपर का रंग बदल जाए तथा फलियों का आकार पूरा विकसित हो ले तब उन्हें काट लेना चाहिए। यदि केले को बहुत दूर भेजना हो तो पकने से कुछ पहले काट लेना चाहिए। केले की प्रति एकड़ उपज बीस हज़ार से पचास हजार पौंड के बीच होती है। एक एकड़ में लगभग दस टन केले की औसतन उपज होती है।

उन्नत किस्में : केले की उगाई जाने वाली किस्मों को मोटे रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है : फल के रूप में खाने के काम आने वाली किस्में और सब्ज़ी वाली किस्में। पहले वर्ग में मद्रास में पूवन, आंध्र प्रदेश में कर्पुर, चक्रकेलि, पश्चिमी बंगाल में मोर्तमन, चम्पा और अमृतसागर, बम्बई मेंबसरई, सफेद वेलची, लाल वेलची और रजेली, असम और उड़ीसा में चम्पा और मोर्तमन दक्षिणी भारत में रसथाली, पहाड़ी केला या शिरूमलाई, चक्रकेलि, ने पूवन, कदली और पच नदन। बरसई जो मोरिशस, वामनकेलि, केवेन्डिश, गवर्नर, हरी छाल आदि नामों से मशहूर है, मध्य और दक्षिणी भारत में भी उगाया जाता है। सब्ज़ी की किस्मों में नेन्द्रन, मन्थन, माइन्डोली और पचमोंथ वाथिस आदि किस्में दक्षिणी भारत में व्यापारिक स्तर पर उगाई जाने वाली किस्में हैं। दक्षिणी भारत में ग्रास माइकेल किस्म हाल में अपनाई गई है।

खुबानी (*Prunus armeniaca*)

भारत में उगाई जाने वाली खुबानी की प्रमुख किस्में शिपले अगेती, कैशा, न्यू कैसल, सेंट एमब्रोइज़ी और रायल हैं। इसकी पौद जंगली खूबानी या जरदालू के पेड़ों पर चश्माबन्दी द्वारा तैयार की जाती है।

इसकी कलम चढ़ाने के लिए आड़ू का पौधा भी इस्तेमाल किया जा सकता है।

पौधशाला में उगे पौधों की शाखाएं यदि ठीक दूरी पर न हों तो पौधों को लगाते समय भूमि से 20 से 30 इंच ऊपर मुख्य तनों को काट देना चाहिए जिससे नई बगली शाखाएं बढ़ सकें। पहली गर्मी में सभी बेकार बगली शाखाओं को काट देना चाहिए और केवल चार-पांच स्वस्थ शाखाओं को छोड़ देना चाहिए जिससे वृक्षों का आकार तैयार हो सके। निचली शाखाओं की अपेक्षा ऊपरी शाखाएं बड़ी रखनी चाहिए क्योंकि निचली शाखाएं तेजी से बढ़कर ऊपरी शाखाओं को ढक लेती हैं।

फलों की चुनाई : इसके फलों को सख्त अवस्था में रंग बदलने पर तोड़ लेना चाहिए। जब फलों को सुखाना हो तो पूरी तरह पके फलों को हाथ से तोड़ते हैं।

काजू (*Anacardium occidentale*)

काजू को फल और गिरी दोनों के लिए उगाते हैं। मुख्यतः प्रायः-द्वीपीय क्षेत्र में विशेषकर तटवर्ती भाग में एक लाख एकड़ भूमि में काजू की खेती होती है। काजू के नियमित बगीचे बहुत ही कम हैं। यह जंगलों में अन्य वृक्षों के साथ उगता है। उत्तरी भारत की कड़ी गर्मी को काजू का वृक्ष बर्दाश्त नहीं कर सकता। दक्षिण में भी एक हजार फुट से ऊपर के ऊंचाई वाले क्षेत्रों में यह अच्छी तरह पैदा नहीं होता। इसे किसी विशेष प्रकार की मिट्टी की आवश्यकता नहीं होती और यह कंकरीली मिट्टी में होता है। इसे अच्छे जल निकास वाली भूमि चाहिए। बीस से डेढ़ सौ इंच वर्षा वाले क्षेत्रों में यह पैदा होता है। इसके बगीचे के लिए पर्याप्त पानी की आवश्यकता पड़ती है।

फलों की चुनाई : काजू के फल मार्च से मई तक पकते हैं। अगर नवम्बर दिसम्बर में भारी वर्षा हुई हो तो इनके पकने की अवधि बढ़ जाती है। पौधा लगाने के समय से लगभग तीन वर्ष बाद फल आने लगते हैं और ये लगभग आठ वर्ष बाद अच्छी प्रकार फल देने लगता है। काजू की गिरी और फलों की उपज प्रति एकड़ सौ से दो सौ पौंड के बीच होती है।

उन्नत किस्में : काजू की कोई निश्चित किस्में नहीं होती। जब इसके पौधों को बीज से उगाया जाता है तो उनमें काफी भिन्नता दिखाई पड़ती हैं। कलमों आदि द्वारा कुछ अच्छी किस्मों को तैयार किया जा सकता है।

अन्य फल : इन के अलावा एवोकेडो, चैरी, रामफल, परसिमन, मैंगोस्टीन तथा स्ट्राबेरी नामक भी कुछ ऐसे फल हैं जो कहीं-कहीं भारत में उगाए जाते हैं। एवोकेडो सलाद-फल है जिसमें प्रोटीन काफी होती है। चैरी मीठी और खट्टी दो प्रकार की होती है। ये कुल्लू, कश्मीर और शिमला क्षेत्र में खूब होती है। इसकी बहुत-सी किस्में होती हैं। चैरी के बगीचों में भेड़ें बिठाई जाती हैं। इसके अलावा फास्फेट उर्वरक भी लाभदायक रहता है। रामफल, सीताफल और चैरीमोयर की संकर-किस्म है। इसके हर पेड़ से औसतन सौ पौंड फल मिलते हैं। परसिमन को जापानी फल भी कहते हैं। कुल्लू-घाटी में 3000 से 5000 फुट की ऊंचाई तक पैदा होता है। मैंगोस्टीन उष्ण कटि बन्धीय देशों का एक स्वादिष्ट फल है। इसकी फसल मलाबार और तिरून्नवेली क्षेत्रों में भी जाती है। स्ट्राबेरी बाहर से लाया गया फल है। इसकी मुख्य किस्में लैक्टटंस लेटैस्ट, रायल सावरेन, अर्ली कैम्ब्रिज इत्यादि हैं।

8.

फसलों के रोग

जब सारा पौधा या उसका कुछ भाग अपना सामान्य काम करना बन्द कर देता है तो वह रोगग्रस्त समझा जाता है। यह अवस्था फफूंद, जीवाणु आदि अणुजीवों या तापमान, भूमि में नमी, वायु की कमी, पोषण तत्वों की कमी अथवा बहुलता और भूमि की तेजाबी या क्षारीयपन आदि कारणों से होती है। अणुजीव अपना भोजन मिट्टी के नीचे दबे पौधों या मृतक जीवों (सेप्रोफाइट्स) के सड़ने या जीवित पौधों अथवा परजीवों (पैरा-साइट्स) पर आक्रमण कर प्राप्त करते हैं। परजीवी रोगाणु अपना भोजन प्राप्त करने के लिए आश्रयदाता पौधे के कोषों को नष्ट कर देते हैं। इस प्रकार सारे पौधे अथवा उसके कुछ भाग को हानि पहुंचती है और पौधा नष्ट हो जाता है या उसके साधारण जीवन-क्रम में गड़बड़ हो जाती है। कुछ जीव मिट्टी में पौधों को हानि पहुंचाने वाले विषैले पदार्थ भी उत्पन्न करते हैं।

अणुजीवों का वर्धन या प्रसार मुख्यत: बीजाणुओं द्वारा होता है। हवा, पानी, बीज, रोगी पौधे, कतरनें, कन्द, पशु, मनुष्य, कीट तथा मिट्टी आदि इन रोगों के वर्धन तथा प्रसार में सहायता देते हैं। विषाणु-रोग, रोग-ग्रस्त कलमों और कतरनों के द्वारा प्रत्यक्ष सम्पर्क से फैलते हैं। अधिकतर फफूंद और जीवाणु आश्रयदाता पौधे के कोषों को नष्ट करने के बाद पौधे की सतह पर बीजाणु के रूप में प्रकट होते हैं, जब कि विषाणु का आक्रमण और प्रसार दोनों पौधों के अन्दर ही होता है। इसलिए पौधों के रोगों की
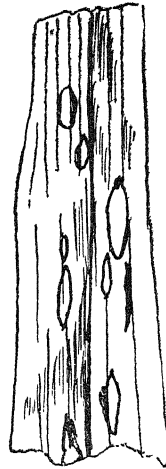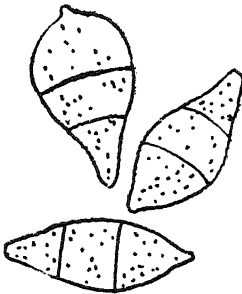
धान का झोंका रोग

धान के बीज (क) और पत्ती (ख) पर झोंका रोग के धब्बे; तथा
झोंका रोग की फफूंद के बीजाणु (ग) का विवर्धित रूप
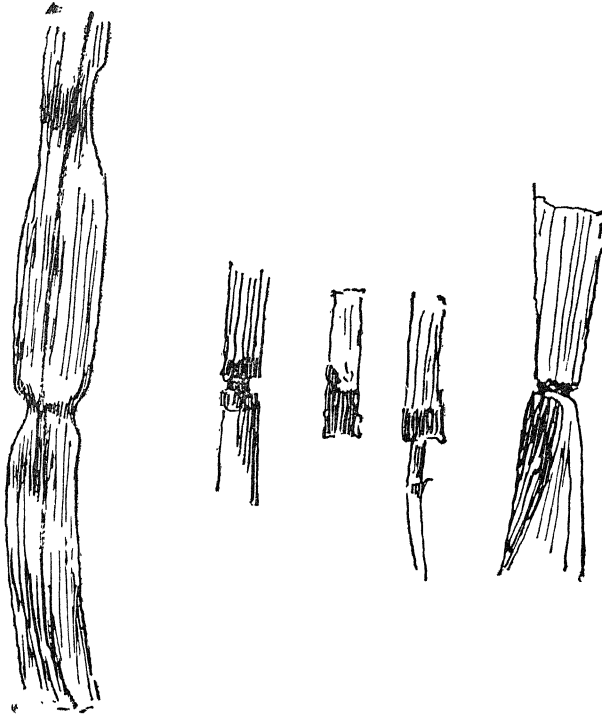
पौधों के तनों की गांठें फफूंद फैलने से सड़ने और गलने लगती हैं

रोकथाम में रोग की छूत को रोकना सबसे आवश्यक है। एक बार रोग लग जाने के बाद फफूंद या जीवाणु को नष्ट करना या पौधे के अन्दर विषाणु को निष्क्रिय करना बहुत कठिन काम है। अब आर्थिक महत्त्व की अधिकतर फसलों की रोग-रोधी किस्मों के विकसित होने के बाद रोग-नियंत्रण का काम आसान हो गया है। सब प्रमुख फसलों की ऐसी किस्में खोज ली गई हैं जो प्रमुख रोगों से प्रभावित नहीं होतीं। इस प्रकार यद्यपि पौधों का रोग-नियंत्रण सरल और सस्ता हो गया है किन्तु इसकी अपनी सीमाएं हैं।

बीज द्वारा प्रसारित रोग : बीज द्वारा फैलने वाले रोगों के रोगाणु या रोगवाहक बीजाणु या तो बीजों के ऊपर चिपटे होते हैं, या बीज के अन्दर मौजूद होते हैं। बाहर के रोगाणु फार्मेलिन, गंधक, तांबा, कापर कार्बोनेट और पारे पर आधारित जैव रसायन जैसे एग्रोसन, सेरैसन आदि के उपचार से नष्ट किये जा सकते हैं। फार्मेलिन को छोड़कर अन्य सब रसायनों को ठीक तरह बीज में मिलाने के लिए बीज को घूमने वाले ढोल में औषधि के साथ डाल कर अच्छी तरह मिलाया जाता है। फार्मेलिन को बराबर मात्रा में पानी में घोलकर, बीज को पतली तह में फैलाकर ऊपर से छिड़का जाता है। इसके बाद बीज का ढेर बनाकर उसे रात भर तरपाल से ढक कर छोड़ दिया जाता है। बीजों के अन्दर मौजूद रोगों के लिए गरम पानी तथा सूर्य उपचार बहुत ही लाभप्रद पाया जाता है। गर्म पानी से उपचार के लिए बीज को 4-5 घंटे के लिए सादे जल में भिगोना चाहिए। उसके बाद एक मिनट के लिए गर्म जल में जिसका ताप 120° फै० या 49° सें० हो, भिगोकर दस मिनट तक 129° फै० (54° सें०) गर्म पानी में रखना चाहिए। इसके बाद बीज को धूप में सुखाकर बोने के काम में लाना चाहिए। सूर्य उपचार के लिए किसी तेज धूप वाले दिन सबेरे के समय पहले बीज को 4-5 घंटे पानी में भिगो कर दोपहर बाद एक पतली तह में

धूप में फैला देना चाहिए। इस तरह सुखाया गया बीज बोने के काम में लाया जा सकता है।

मिट्टी द्वारा फैलने वाले रोग : इस प्रकार के रोगों में फफूंद बोये गए बीजों या पौधों की जड़ों पर आक्रमण करती है। रोगाणु को नष्ट करने के लिए फार्मेलडिहाईड और फार्मेसन जैसी औषधियां काम में लाई जाती हैं जो रोगाणुओं का नाश कर देती हैं या उनको निष्क्रिय बनाकर फफूंद को नष्ट करने में सहायक होती है।

वायु द्वारा फैलने वाले रोग : इस प्रकार के रोगों में फफूंद के बीजाणु वायु में उड़कर पौधों की पत्तियों या तनों से जा चिपकते हैं और वहीं से आक्रमण आरम्भ कर देते हैं। पौधों के खुले भाग पर रसायन-औषधियों का प्रयोग करके इन रोगों की रोकथाम की जा सकती है। किन्तु इनके द्वारा विषाणु रोगों की रोकथाम सम्भव नहीं हैं। इन रोगों की रोकथाम के लिए रोगमुक्त बीज आदि प्रयोग में लाना आवश्यक है।

फफूंद नाशक औषधियां

महत्त्वपूर्ण फफूंद और जीवाणु नाशक औषधियां आमतौर पर या तो तांबे, गन्धक आदि के संयुक्त पदार्थ होते हैं, अथवा पारे और गन्धक पर आधारित जैव रसायन होते हैं। इनका चुनाव रोग की किस्म और उससे फसल कितनी प्रभावित होती है, इसके अनुसार किया जाता है। ये औषधियां भुरकने और छिड़कने के लिए महीन पाउडर या बुकनी के रूप में मिलती हैं। औषधि का प्रयोग किस तरह किया जाय, यह विधि, पानी और उपयुक्त यन्त्र की उपलब्धि, पौधों की प्रकृति, उपचारित की जाने वाली फसल, उसका क्षेत्रफल और मज़दूरी की कीमत आदि पर निर्भर करता है।

तांबावर्गी फफूंदनाशक : इनमें बोर्डो और बरगैंडी मिश्रण और छितराये या अविलय रूप में क्यूप्रस आक्साइड, तांबा आक्सीक्लोराइड और बेसिक कार्बोनेट प्रमुख हैं। बोर्डो मिश्रण तैयार करने के लिए तांबा सल्फेट और बुझे हुए चूने (कलई) को मिलाया जाता है। 4-4-50 शक्ति का बोर्डो मिश्रण तैयार करने के लिए चार पौंड तांबा सल्फेट और चार पौंड कलई को पचास गैलन पानी में मिलाते हैं। औषधि-मिश्रण तैयार करने के लिए पहले दोनों औषधियों को अलग-अलग पानी में (1 पौंड जल में 1 पौंड औषधि) घोल लेना चाहिए। दोनों औषधियों के इस घोल को केवल प्रयोग के समय ही आपस में मिलाकर मिश्रण तैयार करना चाहिए नहीं तो औषधि का प्रभाव कम हो जाता है। यह घोल केवल मिट्टी या लकड़ी के बर्तन में तैयार करना चाहिए। घोल या मिश्रण का शरीर के किसी भाग से स्पर्श न हो। तैयार हो जाने के बाद मिश्रण का प्रभाव या तो उदासीन या मामूली क्षारमय होता है। इसकी जांच करने के लिए लिटमस कागज़ या लोहे की साफ और नई कील काम में लाई जा सकती है। यदि नीले लिटमस का रंग लाल हो जाता है और लोहे की कील का रंग ताम्र हो जाता है तो समझना चाहिए कि मिश्रण ठीक तरह तैयार हुआ है। प्रत्येक बार प्रयोग के लिए नया मिश्रण तैयार करना चाहिए। बरगंडी मिश्रण भी बोर्डो मिश्रण की तरह तैयार होता है। केवल इसमें कलई की जगह कपड़ा धोने वाला सोडा काम में लाया जा सकता है। बरगंडी मिश्रण तैयार करने के लिए $4\text{-}6\frac{1}{4}\text{--}50$ शक्ति का घोल लिया जाता है।

इनके अतिरिक्त बाजार में औषधि निर्माता द्वारा तैयार अनेक तांबावर्गी फफूंदनाशक जैसे पैरेनाक्स, पैरेलन, ब्लाइटाक्स, क्यूप्रोकिल्ट, क्यूप्रोसन आदि मिलते हैं जो बोर्डो मिश्रण की तरह ही और किसी-किसी दशा में उससे भी अधिक प्रभावकारी सिद्ध होते हैं। उपरोक्त निर्मित

औषधियों में उनको फैलाने या घुलनशील बनाने में सहायक औषधियां मिली रहने के कारण इसका प्रभाव अधिक व्यापी होता है।

गन्धकवर्गी फफूंदनाशक : इस वर्ग की औषधियों में गन्धक का चूर्ण, घुलनशील गन्धक, चूना-गन्धक और कार्बो-गन्धक यौगिक प्रमुख हैं। गन्धक का चूर्ण सबसे सस्ता फफूंदनाशक है। किन्तु इसकी प्रभावशक्ति चूर्ण के कणों की बारीकी पर निर्भर करती है। घुलनशील गन्धक उन फसलों पर इस्तेमाल की जाती है जिनकी पत्तियां चूने गन्धक के घोल से झुलसती न हों। चूना-गंधक घोल निम्न प्रकार से तैयार किया जा सकता है।

सबसे पहले पचास गैलन जल को किसी लोहे, टीन या जस्ते के वर्तन में उबाला जाता है (तांबे के में नहीं) और फिर पचास पौंड कलई (चूना) और सौ पौंड गन्धक इसमें मिला दी जाती है। घोल को अच्छी तरह चलाकर एक घण्टे तक उबलने दिया जाता है। इसके बाद छानकर हाईड्रोमीटर यन्त्र से उसका घनत्व नापकर उसमें इतना पानी मिलाया जाता है जिससे आपेक्षिक घनत्व 1.005 या 1.010 (देखिये **सारिणी** 15) हो जाए।

औषधि निर्माताओं द्वारा सल्फीनेट, लिमसुल आदि औषधियां चूर्ण के रूप में मिलती हैं। इनको घोलकर चूना-गन्धक द्रव्य औषधि तैयार की जा सकती है। इस औषधि का घोल कोमल हरी पत्तियों पर नहीं छिड़कना चाहिए क्योंकि उनके झुलस जाने का भय रहता है। बहुत से कार्ब-गन्धक यौगिक जैसे थीरम, डाइथियोकार्बोमेट्स आदि कोमल से कोमल हरे भागों पर सुरक्षित रूप में छिड़के जा सकते हैं। कुछ अन्य कार्ब-गन्धक यौगिक तुलीसन, जिनेब और जीरम भी प्रचलित हैं।

अन्य फफूंद नाशक : पारे पर आधारित जैव रसायन बीज द्वारा फैलने

वाले और कुछ मिट्टी द्वारा फैलने वाले रोगों की रोकथाम के लिए बहुत प्रभावी सिद्ध हुए हैं । ये पाउडर या बुकनी के रूप में होते हैं और बहुत थोड़ी मात्रा में बुवाई से पहिले बीज के साथ मिला दिए जाते हैं। अनाज की फसलों को बोने से पहले बीज को नियमित रूप से उपचारित करना चाहिए। इन औषधियों का बीज के अंकुरण पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि वे अधिक संख्या में विकसित होते हैं। इस वर्ग के रसायनों में एग्रोसन जी० एन० अधिक प्रसिद्ध है । ये औषधियां मनुष्य और पशुओं के लिए विष के समान हैं। इसलिए इनका प्रयोग, सार-सम्हाल और लाने-ले जाने का काम बहुत सावधानी के साथ करना चाहिए। कुछ सब्जियों के बीज और कोमल फसलें जैसे अलसी पर पारे का कुप्रभाव होता है । ऐसी फसलों पर अन्य कार्बनिक फफूंदनाशक जैसे नोमेरसन छिड़कने चाहिएं जिनका प्रभाव विषैला नहीं होता।

फसलों के रोग और उपचार

आमतौर पर फसलों में कीटाणुओं विषाणुओं और फफूंदजनित रोग लगते हैं। आगे कुछ प्रमुख फसलों के कुछ मुख्य रोगों और उनकी पहचान, रोगाणुओं के नाम, उपचार और रोकथाम के उपाय दिये गए हैं।

जौ (यव)

ढका कंडुवा या कवर्ड स्मट (*यूस्टिलेगो होर्डी*) : जौ की बालों में दानों के बदले काला भुरभुरा बीजाणु समूह पैदा हो जाता है जो सफेद कागजी झिल्ली से ढका होता है। इसकी रोकथाम के लिए बुवाई से पूर्व सेरेसन या एग्रोसन जी० एन० से बीजोपचार करिए और प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

पत्ती का रतुआ या लीफरस्ट (*प्यूसिनिया होर्डी*) : पत्तियों पर छोटे गोल हल्के पीले भूरे रंग के खोखले फफोले से पड़ जाते हैं, जिनका रंग काला पड़ता जाता है। इससे फसल को बचाने के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

छिदरा कंडवा या लूज स्मट (*यूस्टिलेगो न्यूडा*) : इस रोग के आक्रमण से जौ की बालें में दानों के बदले काला भुरभुरा बीजाणु समूह भर जाता है। इसकी रोकथाम के लिए बीजों का सूर्य की गरमी अथवा गरम पानी से उपचार कीजिए और प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

चूर्णी फफूंद या पाउडरी मिल्ड्यू (*एरिसिफे ग्रेमीनिस*) : इस रोग के आक्रमण में भूमि के ऊपरी भागों में हल्का भूरा गद्दी-नुमा कपासी-मण्डल सा छा जाता है जिन पर काली चित्तियां होती हैं। इसकी रोकथाम के लिए गन्धक का चूर्ण डालिए और प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

जड़ गलन और पदगलन या रूट रौट एण्ड फुट रौट (*हेल्मिंथो-स्पोरियम सेटिवम*) : इस रोग के आक्रमण से फसल की जड़ों और तनों के घेरे भूरे पड़ने लगते हैं। बाद में पत्तियों और उनकी धारियों पर लम्बे भूरे दाग दिखाई देते हैं। बाली अच्छी तरह नहीं भरती और दाने सिकुड़ जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए बीज का एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए, प्रतिरोधक किस्में उगाइए और फसलों के हेरफेर तथा सफाई की प्रणाली अपनाइए।

तना रतुआ या स्टैम रस्ट (*प्यूसिनिआ ग्रेमिनिस ट्रिटिसी*) : इस रोग के आक्रमण के समय सतह और मध्यम नली पर लालभूरे से गहरे भूरे तक फफोले से (जो बाद में काले पड़ जाते हैं) दिखाई पड़ते हैं। अनाज के दाने सिकुड़जाते हैं। इसकी रोक थाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए,

गन्धक डालिए और बोने से पूर्व सेरेसन या ऐग्रोसन जी० एन० से बीज का उपचार कीजिए।

धान

सिकुड़न रोग या ब्लास्ट (*पिरिकुलेरिया ओराइजी*) : इसका आक्रमण होने पर पत्तियों पर सुई की तरह नुकीले फफोले व तनों पर धब्बे पड़ जाते हैं। दानों का रंग काला हो जाता है। बाल दण्ड के गलने से बालियों का झुकना शुरू हो जाता है। इसकी रोकथाम के लिए बुवाई से पूर्व बीज का सेरेसन या एग्रोसन जी०एन० से उपचार कीजिए। प्रतिरोधक किस्में उगाइए। प्रभावित भूसे और ठूंठ को जला दीजिए। एक प्रतिशत बोर्डो मिश्रण का छिड़काव कीजिए।

बंट रोग (*न्योबोसिया होरिडा*) : इसके आक्रमण होने पर दाने कजलीचूर्ण में बदल जाते हैं। एक बाली के तीन-चार दाने ही प्रभावित होते हैं। परन्तु यह लक्षण भी केवल पके दानों में ही दिखाई देते हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

पदगलन (बकानी रोग) या फुट रोट (*गिबरैल्ला फुजिकोरोइ*) : फसल पर इसका आक्रमण होने पर पौधों का विकास रुक जाता है, वे पिछेती हो जाते है तथा उनमें शाख नहीं फूटती, जड़ें लाल-भूरी होकर सड़ जाती हैं और दाने सिकुड़ जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए बुवाई से पूर्व बीज का सेरेसन या एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए। प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

अंगमारी रोग या हेलमिंथोस्पोरियम ब्लाइट (*कोचलिओबोलस मियाबीनस*) : इसका आक्रमण होने पर पत्तियों, तनों तथा पत्तियों की धारी पर असंख्य गहरे भूरे दीर्घ वृत्ताकार दाग पड़ जाते हैं। पके पौधों में

पुष्पक्रम बिगड़ जाता है। दाने नहीं बनते। इसकी रोकथाम के लिए बुवाई से पूर्व बीज का सेरेसन या एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए। फसल पर एक प्रतिशत बोर्डो मिश्रण छिड़किए। प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

पनसुख रोग : इस रोग के आक्रमण होने पर शाखा प्रसारण कम होता है। रोगी पौधे सूख जाते हैं। बाल यदि बन जाएं तो हल्की होती है। फूल अधिकतर वंध्या होते हैं।

यदि यह रोग फसल की प्रारम्भिक अवस्था में हो तो इसकी रोक-थाम के लिए प्रभावित पौधों को खेत से निकाल कर उसे अच्छी तरह सूखने दीजिए और फिर सिंचाई कीजिए। जब रोग काफी देर में हो तो प्रति एकड़ तीस से पचास पौंड अमोनियम सल्फेट डालिए।

अफरा रोग *(डिटील चस एंगुस्टस)* : इस रोग के आक्रमण होने पर पौद की पत्तियां बदरंग होकर सिकुड़ने लगती हैं और झड़ जाती है। अन्तर-गांठें गहरे रंग की हो जाती है। बालें पत्तियों से बंद सी रहती है और फूलदार तकली की तरह हो जाती हैं। जब संक्रमण ज्यादा हो जाय तो बालियां गहरे भूरे रंग की हो जाती है और सर्पाकार होकर मुड़ जाती है।

इसकी रोक थाम के लिए सारे संक्रमित फूस को जला दो।

गेहूं

बंटरोग *(टिलेटिया फोटिडा और टिलेटिया कैरीज)* : इस रोग से प्रभावित पौधे जल्दी पक जाते हैं, बालियों का रंग गहरा हरा हो जाता है और दाने झिल्ली में बंद कजली चूर्ण में बदल जाते हैं। प्रभावित दानों से सड़ी हुई मछलियों की सी दुर्गन्ध आती है।

इसकी रोकथाम के लिए बीज को सैरेसन या एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए और प्रतिरोधक किस्में उगाइये।
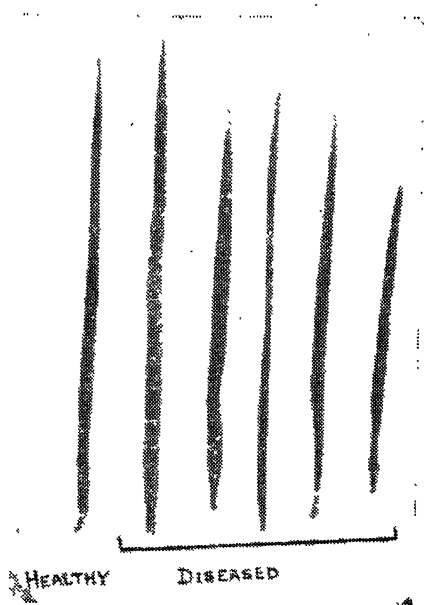
गेहूँ की चिरकी नामक विषाणु रोग से प्रभावित रोगी पत्तियाँ;
जरा स्वस्थ पत्ती से तुलना तो कीजिए
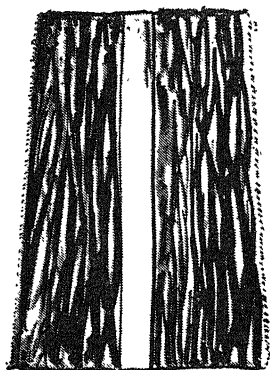
लाल सड़न रोग से प्रभावित गन्ने की पत्ती का एक भाग

कपास की रोगग्रसित पत्तियां

भभनी रोग या ईयर कोकले *(एंगयूइना ट्रिटिसी)* : इस रोग के आक्रमण होने पर पत्तियां आम तौर से मुड़ जाती हैं। संक्रमित बालियां छोटी होती हैं और देर तक हरी रहती हैं। सींकुर फैल जाते हैं। प्रभावित दाने एक या अधिक गोलियों में बदल जाते हैं।

इसकी रोकथाम के लिए जीवाणु-गांठ (गाल) रहित साफ बीज प्रयोग में लाइए। जीवाणु गांठों को छलनी से छान कर या जल से बहा कर अलग कर दीजिए।

ध्वजकुण्ड या फ्लैग स्मट *(यूरोसिलिस ट्रिटिसी)* : इस रोग से प्रभावित पत्तियों, पत्तों की सतह और कभी-कभी तनों और बाल डण्डों पर धूसर काली लम्बी रेखाएं होती है जो कि बाद में ऊपर की तरफ से फट जाती है और उनसे काला बीजाणु चूर्ण निकलता है। प्रभावित पौधों का विकास रुक जाता है और पत्तियां मुड़ जाती हैं, बालियां नहीं आतीं।

इसकी रोकथाम के लिए प्रति-रोधक किस्में उगाइए। उथला बोइए और समुचित सिंचाई कीजिए। फसलों के हेरफेर की प्रणाली अपनाइए।

पत्ती का रतुआ या लीफ रस्ट *(प्यूसीनिया ट्रिटिसिना)* : इसके आक्रमण होने पर पत्तियों और कभी-कभी उनकी सतह के छेदों पर गोल या लम्बी नारंगी फुंदियां, पीपफुंदिया छोटी तथा अनियमित तरीके से निकली हाती है। बाद में ये पीपफुंदियां काली पड़ कर पतली झिल्ली से ढक जाती हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाएं।

मक्का

भूरे दाग या ब्राउन स्पॉट *(फीजोडेरमा जियामेडिस)* : इसका आक्रमण होने पर पत्तियों तथा उनकी सतहों पर हल्के हरे अंडाकार जल-सिक्त घाव पड़ते हैं जो बाद में लाल-भूरे हो जाते हैं।

इसकी रोकथाम के लिए फसलों को अदल-बदल कर बोना चाहिए। खेत साफ रखना भी जरूरी है।

रोमिल फफूंद या डाउनी मिल्ड्यू *(स्केलेरोसपोरा फलिपिनैनसिस)*: इसके आक्रमण होने पर सफेद चूर्ण विकास के साथ पत्तों पर पीली रेखाएं पड़ जाती हैं। ये रेखाएं बाद में भूरी पड़ जाती हैं। प्रभावित पौधे पीले नाटे, ठूंठ और गुच्छित हो जाते हैं।

इसकी रोकथाम के लिए बोर्डो मिश्रण या पेरेनोक्स छिड़किए तथा प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

चोटी का कंडुवा या हैड स्मट *(स्फेसलोथेकारीलिना)* : इसका आक्रमण होने पर बाल दण्ड और बाली की जगह कंडवाई, पीपड़ियां हो जाती है जो सख्त कजली पिंड बना देती हैं। प्रभावित फूल पत्तेदार हो जाते हैं। प्रभावित पौत्रे अन्यों की अपेक्षा ज्यादा नाटे, कुरकुरे और लम्बे हो जाते हैं।

इसकी रोकथाम के लिए फसल को अदल-बदल कर बोइए और खेत साफ रखने का प्रयत्न करिए।

पत्ती अंगमारी या लीफ ब्लाइट *(हैलिंमथोस्पोरियम टर्सिकम)* : इसके आक्रमण होने पर लम्बे, दीर्घवृत्तीय हरे-भूरे घाव, प्रभावित पत्तियां पतली और अर्ध पारदर्शी तथा रोगी पौधे जले हुए या पाले से पीड़ित जैसे लगते हैं।

इसकी रोकथाम के लिए फसल को अदल-बदल कर बोइए और खेत की सफाई कीजिए। प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

पत्ती का रतुआ या लीफ रस्ट *(प्यूसीनिया सोरकी)* : इसका आक्रमण होने पर पत्तियों पर लाल, भूरी खुली स्फोटिकाएं जो कि कभी भी सूख जाती, दिखाई पड़ती हैं। इसके उपचार के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

कंडुवा या स्मट (*यूस्टिलेमॉजी*) : इसका आक्रमण होने पर पौधों के सब भागों पर नरम गुल्म से हो जाते है। जब ये बड़े हो जाते हैं तो भुट्टों पर काला, चूर्ण बीजाणु पिंड छोड़ते हैं।

इसकी रोकथाम के लिए फसल को हेर फेर से बोइये और खेत की सफाई कीजिए तथा प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

बाजरा

हरी बाली या ग्रीन ईयर (*स्क्लेरोस्पोरा ग्रेमिनिकोला*) : इसका आक्रमण होने पर पूरी बाली या उसका कुछ भाग छोटी, मुड़ी हरी पत्ती के ढाँचे की तरह खुले शीर्ष का हो जाता है। प्रभावित पत्तियां सफेद और बाद में भूरी पड़ जाती हैं। पत्तियों के निचले भाग पर फफूंद और बीजाणु पिंड उग आते हैं। रोक थाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

रतुआ या रस्ट (*पैंसीनिया वैनोसेटी*) : इस रोग के आक्रमण होने पर पत्तियों और तनों पर छोटे, भूरी-पीली रतुआई स्फोटिकाएं दिखाई देती हैं जो बाद में काली पड़ जाती हैं। इसकी रोक थाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

कंडुवा या स्मट (*टोलीपोसपोरियम पैनीसिलेरी और टीनेगलेन्स*): इस रोग के आक्रमण होने पर प्रभावित दाने बाल में बिखर जाते हैं और तृष-निपत्र के बाहर निकल कर नाशपाती के आकार जैसे दिखाई देने लगते हैं। इनका रंग चमकीला हरा और चाकलेट भूरा हो जाता है। कुछ दिनों बाद ये गंदले काले पड़ जाते हैं। अन्दर के बीजाणु पिंड गहरे भूरे या काले रंग के हो जाते हैं। इसकी रोक थाम के लिए कंडुवी बालियों को तोड़ दीजिए।

ज्वार

रोमिल फफूंद या डाउनी मिल्ड्यू *(स्केलोसपोरा सोरघी)* : इस रोग के आक्रमण होने पर बीजांकुर पीले, तथा उनकी पत्तियां छोटी, नीचे की तरफ से फफूंद से ढंकी हुई होती हैं जिन पर बाद में सफेद रेखाएं पड़ जाती हैं। तदन्तर उन पर फांके पड़ जाती हैं जिनपर बाद में सफेद रेखाएं पड़ जाती हैं। तदन्तर उन पर फांक पड़ जाते हैं और पत्तियां सड़ जाती हैं। प्रभावित पौधे बौने रहते हैं और उन पर बालियां नहीं आती। इसकी रोक थाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

दानों का रतुआ या ग्रेनस्मट *(स्फेसेलोथिका सोरघी)* : इस रोग के आक्रमण होने पर रोगी बालों के सारे दाने लम्बे बेलनाकार थैले जैसे हो जाते हैं जिनमें बीजाणु चूर्ण भरा होता है। इसकी रोक थाम के लिए बुआई से पूर्व बीज का ऐग्रासन जी० एन० से उपचारित कीजिए।

चोटी का कंडवा या हैड स्मट *(स्फेसेलोथिका रेलिथना)* : इस रोग के आक्रमण होने पर फूल का कुछ भाग या सारे पर कंडवाई गुल्में बन जाती हैं। कूट-झिल्ली से ढंके काले बीजाणु पिंड फट जाते हैं और बीजाणु बखेरते हैं। इस रोग की रोक थाम के लिए बुआई से पूर्व बीज का एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए और फसल को अदल बदल कर बोइए।

छिदरा कंडवा या लूज स्मट *(स्फेसिलोथिका क्रूयूंटा)* : इस रोग का आक्रमण होने पर सब बालदण्ड आम तौर से कंडवाई हो जाते हैं। जो बच जाते हैं वे चपटे होकर फैल जाते हैं। प्रभावित दानों के स्थान पर छिदरे, चूर्ण वाले बीजाणु-कोष बन जाते हैं। इसकी रोक थाम के लिए बुआई से पूर्व बीज का एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए।

लाल पत्तीदाग या रैड लीफ स्पाट *(कोलेक्टोट्रिकम ग्रैमीनिकोलम)* : इस रोग का आक्रमण होने पर पत्तियों पर अनियमित रंग के

दाग बन जाते हैं जो किनारे से लाल-भूरे रेखांकित छेद वाले तथा काले बिन्दु जैसे हो जाते हैं। कभी-कभी तने भी सड़ जाते हैं। इनकी रोक थाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए, फसल चक्र का प्रयोग कीजिए और भूमि की उर्वरता बढ़ाइए।

चना

अंगमारी या ब्लाइट *(मायीकोस्फेरेला रेबी)* : इस रोग के आक्रमण होने पर तने, पत्तियों और फलियों पर भूरे दाग पड़ जाते हैं जो बाद में मध्य में भूसे की शक्ल के और उस पर गहरे भूरे फलन के दाग जैसे छेद हो जाते हैं। इसकी रोक थाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए फसलों का हेर-फेर कीजिए।

पद गलन या फुट राट *(ओपेरकलेला पदविकी)* : इस रोग के आक्रमण होने पर प्रभावित पौधे ऊपर से नीचे की ओर सूखने लगते हैं, पत्तियां फीकी हरी हो जाती हैं जो बाद में पीली पड़कर झड़ जाती हैं। पौधों का गले का भाग गहरा भूरा पड़ जाता है। इसकी रोक थाम के लिए प्रभावित पौधों को उखाड़ दीजिए।

रतुआ या रस्ट *(यूरोमिसिस सिरिसा रीनटिनी)* : इस रोग के आक्रमण होने पर छोटे गोल भूरे रंग की विशेष तथा पत्तियों के नीचे रतुवाई स्फोटिकाएं दिखाई देती हैं। बाद में ये गहरी-भूरी हो जाती हैं। प्रभावित पत्तियां अक्सर सूख जाती हैं। इसकी रोक थाम के लिए प्रति-रोधक किस्में उगाइए।

मुरझान या विल्ट *(फुसारियम ओर्थोसिरोस वर सिसेरी)* : इस रोग से प्रभावित होने पर पौधों की बढ़त रुक जाती है और उन पर हल्की पीली हरी पत्तियां आ जाती हैं। बाद में ये पौधे सूख जाते हैं। जड़ और

बाल पूरी तरह सड़ जाते हैं और मुख्य जड़ का रंग बदल जाता है। इसकी रोक थाम के लिए पिछेती बुआई कीजिए, गहरा हल चलाइये और प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

मोठ, मूंग और उड़द

वृण रोग या एंथ्रैकनोज (*ग्लोमेरेला लिंडेमुथियानम*) इस रोग के आक्रमण होने पर संक्रमित भागों पर गहरे-भूरे पिचके दाग, जिनके बाहर लाल या पीली रेखाएं उभरी होती हैं। पत्तियों पर उतिक्षयी दाग पड़ जाते हैं और कागज के बराबर पतले पड़ जाते हैं। नम मौसम में गुलाबी गिगिले पिण्ड बन जाते हैं। संक्रमित तने फटकर गल जाते हैं। इसकी रोक थाम के लिए स्वस्थ बीज का प्रयोग कीजिए, फसल हेर-फेर और फसल की सफाई कीजिए तथा प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

जीवाणु फली-अंगमारी या बैक्टीरियल बीन ब्लाइट (*जैन्थोमोनस फैज्योली इंडिकस*) : इस रोग का आक्रमण होने पर फलियों पर विस्तृत, अनियमित शुष्क गहरे क्षेत्र बन जाते हैं, जो अक्सर ईंट की तरह लाल या भूरे रंग के होते हैं और रंगहीन पपड़ी जम जाती है। तनों पर लम्बी लाल रेखाएं बन जाती हैं। पौधे कुम्हलाए नजर आते हैं। इसकी रोक थाम के लिए रोग मुक्त बीज और फसल चक्र प्रयोग कीजिए तथा प्रतिरोधक किस्में उगाइये।

फली गलन या बीन राट (*फाइटोफथोरा पैरासिटीका*) : इस रोग के आक्रमण के समय फलियों पर पानी से भरे घाव बन जाते हैं जिन पर बाद में कवक जाल फैल जाता है और गलन होने लगती है। इसकी रोकथाम के लिए संक्रमित फलियों को तोड़ दीजिए व बोर्डो मिश्रण का छिड़काव कीजिए।

फली अंगमारी या बीन ब्लाइट *(एस्कोचाइटा फैज्योलोरम)* : इसके आक्रमण होने पर पत्तियों पर असंख्य बड़े, भूरे दाग पड़ जाते हैं जिनके कोने रंगहीन होते हैं। बाद में गोलाकार छोटे-छोटे काले धब्बे पड़ जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए रोग मुक्त बीज इस्तेमाल कीजिए। संक्रमित पौधों को निकाल दीजिए तथा बोर्डो मिश्रण का छिड़काव कीजिए।

पत्तीदाग या लीफस्पाट *(सैरकोसपोरा क्रुथेन्टा और सी० डोलीची)* : इस रोग के आक्रमण होने पर पत्तियों, तनों और फलियों पर भूरे केन्द्र तथा लाल-गुलाबी किनारे वाले कोणीय, भूरे या लाल रंग वाले दाग पड़ जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

अरहर

पत्ती दाग या लीफ स्पाट *(सेरकोसपोरा इंडिका)* : इस रोग के आक्रमण होने पर गहरी भूरी पत्तियों की छोटी हल्की भूरी अन्तर शिराओं के दाग मिलकर बड़ा दाग बना देते हैं। बाद में पत्तियां सूखकर मुड़ जाती हैं। कभी-कभी पत्तियों के मध्य धारी और तनों पर धूसर काली लम्बी स्फोटिकायें पड़ जाती हैं और मैं जैतूनी कवक जाल उग आते हैं। इसकी रोकथाम के लिए फसल साफ करें और बोर्डो मिश्रण का छिड़काव करें।

मुरझान या विल्ट *(फुसैरियम यूडम)* : इस रोग के आक्रमण होने पर पत्तियां पीली पड़ कर लटक जाती हैं, प्रभावित शाखाएं मुरझा कर सूख जाती हैं, जड़ें गहरी भूरी बाल विहीन हो जाती हैं और उनकी छाल के नीचे काली रेखाएं पड़ जाती हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइये।

मूंगफली

पद गलन या कालर राट *(पेलीकुलैरिया रोल्फसी)* : प्रभावित

पौधों के निचले भाग में झिल्ली दिखाई देती है। झिल्ली पर असंख्य सफेद से लाल कमाए हुए चमड़े के रंग जैसे घाव पड़ जाते हैं। प्रभावित पौधे पीले पड़कर सूख जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

अनियमित पत्ती-दाग या इर्रेगुलर लीफ स्पाट *(माइकोसफरेला आराकिडिकोला)* : इस रोग से प्रभावित पत्तियों पर अनियमित वृत्ताकार दाग पड़ जाते हैं जिनका आकार बाद में बढ़ जाता है। पत्ती के ऊपरी भाग पर वृत्ताकार मंडल बन जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए फसल पर बोर्डो मिश्रण का छिड़काव कीजिए। अच्छी उन्नत खेती तथा फसल को अदल-बदल कर बोइये। बुआई से पूर्व बीज को एग्रोसन जी० एन० से उपचारित कीजिए।

टिक्का रोग *(माइकोसफरेला परसोनेटा)* : इस रोग का आक्रमण होने पर पत्तियों के दोनों ओर ऊतिक्षयी वृत्ताकार दाग बन जाते हैं, ऊपर की तरफ पीले आकार के गहरे भूरे दाग होते हैं। इसकी रोकथाम के लिए बुआई से पूर्व बीज का एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए और पिछेती किस्में उगाइए।

अलसी

विवर्णता या आल्टरनैरिया ब्लाइट *(अल्टरनेरिया लिनी)* : इस रोग के लगने पर पत्तियों पर अनियमित गहरे भूरे दाग पड़ जाते हैं और वे मुड़कर सूख जाती हैं। रोगी कलियों पर भूरे दाग पड़ जाते हैं जिसके कारण पुष्प का ढांचा सिकुड़ जाता है। इसकी रोकथाम के लिए बुआई से पूर्व बीज का एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए और पिछेती किस्में उगाइये।

रतुआ या रस्ट *(मेलम्पसोरा लिनी)* : इस रोग के लगने पर

पत्तियों के दोनों तरफ रोगी क्षेत्रों से घिरे हुए चमकीले नारंगी रंग के दाग पड़ जाते हैं, बाद में तनों पर लाल भूरी या काली स्फोटिकायें दिखाई देने लगती हैं जो काले रतुएं से मिलती हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए और बुआई से पूर्व बीज का एग्रोसन जी० एन० से उपचार कीजिए।

सरसों

विवर्णता या अल्टरनैरिया ब्लाइट (*अल्टरनैरिया ब्रैसिकी*) : इस रोग के लगने पर पौधों के सब भागों पर भूरे वृत्ताकार दाग बन जाते हैं। ये दाग संकेन्द्रित गोलाकार और काले रंग के होते हैं। इसकी रोकथाम के लिये बीज का गरम पानी से उपचार कीजिये और दीर्घ कालिक आवर्तीण कीजिए।

सफेद रतुआ या ह्वाइट रस्ट (*एल्बुगो कैनडिडा*) : जड़ों को छोड़कर सारे पौधे पर आक्रमण करते हैं, पत्ती की निचली और विभिन्न आकार प्रकार की सफेद या हलकी पीली स्फोटिकाएं दिखाई देती हैं। ये स्फोटिकाएं जुड़कर पैबंद की शक्ल की हो जाती हैं। कभी-कभी तने और फूल फूलकर बहुत विकृत हो जाते हैं। इसकी रोक-थाम के लिए घास-पात रहित जुताई कीजिए।

कपास

वृण रोग या एंथ्रेक्नोज (*ग्लोमेरेला गोसिपी और कोलेक्टोट्रिकम इंडिकम*) : जमीन के ऊपर से सारे भाग में इसका आक्रमण होता है। बीजाकुंरों पर बड़े लाल दाग हो जाते हैं जो तने को भी लपेट लेते हैं और अन्त में पौधों को नष्ट कर देते हैं। बौड़ियों के दाग कुछ धंसे होते हैं। पत्तियों के दाग पत्तियों को जला देते हैं। दाग के मध्य में आमतौर से

श्लेष्मिक पिण्ड पाया जाता है। इसकी रोकथाम के लिए बुग्राई से पूर्व बीज का एग्रोसन जी० एन० सेरेसन से उपचार कीजिए। फसल पर बोर्डो मिश्रण का उपचार कीजिए, संक्रमित पौधों को नष्ट कर दीजिए।

काली डंडी या ब्लैक ग्रार्म (*जैन्थोमोनस मालवासेरियम*) : पौधे के ज़मीन के ऊपर के सारे भाग पर इस रोग का ग्राक्रमण होता है। पत्तियों के के घाव कोणीय ग्रौर जलासिक्त होते हैं ग्रौर पुराने होने पर किनारे से गहरे भूरे या लाल या बैगनी हो जाते हैं। तनों के दाग लम्बे ग्रौर गहरे रंग के हो जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए बीज को कार्बपारद ग्रौषधि से उपचार कीजिए। प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

सूखी जड़ गलन या ड्राइरूट राट (*मैक्रोफोमन्त फैजेली*) : इस रोग के लगने पर टहनियों के मूल पर बड़े भूरे घाव हो जाते हैं, मूल कालर युक्त भाग पूरा हो जाता है, मूलिकाएं गल जाती हैं ग्रौर पौधे सूख जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए फसल ग्रावर्तन कीजिए। ग्रौर प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

चूर्णी फफूंद या पाउडरी मिल्ड्यू : (*लेवीलुला टौरिका ग्रौर ग्रोडियमस्पी*) : इस रोग के लगने पर पत्तियों के ऊपर ग्रौर नीचे चमकीले चूर्णी पैबंद दिखाई देते हैं, पत्तियों का ऊपरी भाग ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक पीला एवं भूरा पड़ जाता है। इसकी रोकथाम के लिए 15 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से गन्धक चूर्ण डालिए।

जड़ गलन या रूट राट (*रिजोटोनिया बैटाटिकोला ग्रारसोलानी*) : इस रोग के लगने पर पौधे ग्रचानक सूख जाते है। जड़ गल जाती है ग्रौर छिलका निकलने लगता है। बीमारी पैबन्दों में होती है। इसकी रोकथाम के लिए बुग्राई की विधि का समायोजन तथा कपास के साथ मोठ मिलाकर बोनी चाहिए।

मूर्झान रोग या विल्ट (*फुज़ेरियम वसिनफेक्टम*) : पत्तियां पीली पड़ जाती हैं। पौधे ठंठ होकर शीघ्रता से कुम्हलाकर सूख जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए।

पटसन

तना गलन व शुष्क गलन यास्टेम राट या ड्राई राट (*मेक्रोफोमिना फैज्योली*) : इस रोग लगने पर जड़ भूरी पड़कर छाल के नीचे बदरंग हो जाती है। **कालर** पर पीले दाग पड़ जाते हैं जिन पर पीले बिन्दु जैसे आकार पिक्निडिया दिखाई देते हैं। बाद में कालर गल जाता है। पौधे से पत्तियां झड़ जाती हैं और पौधा सूख जाता है। इसकी रोकथाम के लिए प्रतिरोधक किस्में उगाइए, और स्वच्छ बीज का उपयोग कीजिए।

बैंगन

सूखी जड़ गलन या ड्राई रूट राट (*मैक्रोकोमिना फैज्योली*) : इस रोग के लगने पर भूमिगत पौधों पर आक्रमण होता है। जड़ें नष्ट हो जाती है आर झिल्ली दार छोटी काली चित्तियां पड़ जाती हैं।

इसकी रोकथाम के लिए फसलों को अदल-बदल कर बोइये।

नम गलन या डैम्पिग आफ (*फीथियमस्पेप, फिटोफिथोरा स्पी और पेली कुलेरिया फिलमेंन्टोसा*) : इस रोग के लगने पर बीजांकुर भूमि स्तर पर ही गलने लगते हैं और तदन्तर गिर जाते हैं।

सजल फल गलन या लीकी फ्रूट राट (*पीथियम एफेनिडमेंटम*) : इस रोग के लगने पर भूमि को छूते हुए पुष्पाग्र भाग फटने पर संक्रमण होता है जो उनको सजल कर देता है और रेशेदार झिल्ली से ढक जाता है।

इसकी रोकथाम के लिए कटाई के समय सभी बदरंग फलों को तोड़ दीजिए ।

अंगमारी या ब्लाइट (*पेलीकुलेरिया स्कलेरोटियम रोल्फसी*) : इस रोग के लगने पर पत्तेदार भाग आकस्मिक मुरझा जाते हैं। इसके बाद पत्तियां पीली तथा शाखाएं भूरी पड़ जाती हैं। भूरे फफूंद उग आते हैं। इसकी रोकथाम के लिए जरूरत से ज्यादा पानी न दीजिए, विशेषतया एकदम तनों के पास ।

मुई फोड़ या ब्रूमरेप (*औरोबेन्ची सोलानी और ओ० इण्डिका*) । इस रोग के लगने पर प्रभावित पौधों के निचले भाग में एक या अधिक गांठ जो मांसल पपड़ी तथा हल्के पीले फूलों से युक्त होते हैं, हो जाती हैं। इसकी रोकथाम के लिए फसल आवर्तन कीजिए। तम्बाकू तथा धतूरा जैसी संवेदनशील फसलें न उगाइए। तोरियों को पकने से पहले ही निकाल दीजिए ताकि उनके बीज न झड़ने पाएं ।

छोटी पत्ती या लिटिल लीफ (*वाइरस*): इस रोग के लगने पर प्रभावित पौधों पर छोटी पीली पत्तियां उगती हैं और फल नहीं लगते । इसकी रोकथाम के लिए धतूरे इत्यादि संवेदनशील पौधों को उखाड़ दीजिए। रोगवाहक सफेद मक्खी की रोकथाम के लिए पौधों पर सामयिक औषधि का छिड़काव कीजिए ।
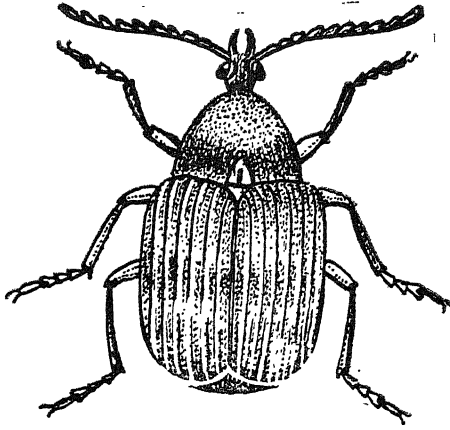
दाल का कीड़ा
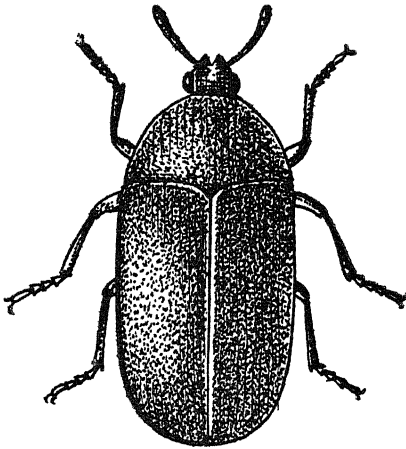
गोदाम के अनाज का कीड़ा : खपरा
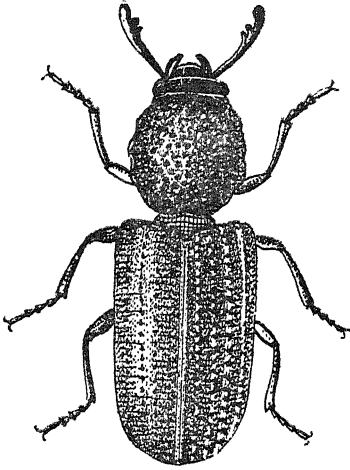
छोटे दानेवाले अनाजों को
पोला करनेवाला
कीड़ा
धान का घुन
आटे का लाल कीड़ा
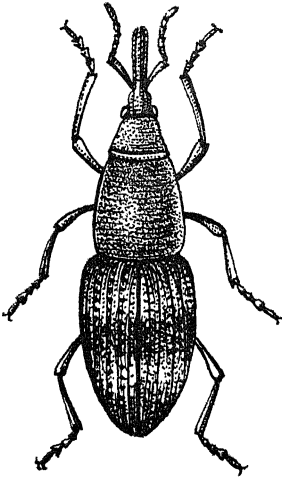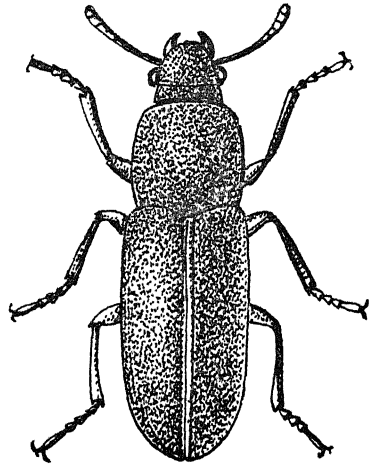
9.

फसलों के शत्रु

फसलों के अनेक शत्रु होते हैं। पक्षी, पशु, चूहे, खरगोश जैसे जीव जन्तु तो फसलों को नुकसान पहुंचाते ही हैं, इसके अतिरिक्त ऐसे भी शत्रु होते हैं जो देखने में बहुत छोटे होते हैं, पर जिनसे फसल को भारी हानि पहुंचती है। जीवाणु और फफूंदों से जो नुकसान पहुँचता है वह 'फसलों के रोग' अध्याय के अन्तर्गत बताया गया है। कीड़ों और खरपतवारों द्वारा जो फसलों को हानि होती है उसका विवरण आगे दिया जा रहा है। फसलों के शत्रुओं में टिड्डी सबसे अधिक नुकसान पहुंचाने वाला कीड़ा है। इसलिये उसका एक अलग शीर्षक के अन्तर्गत विवरण दिया गया है।

अनाज तथा दूसरी फसलों को कीटों से बड़ी हानि होती है और कभी कभी तो ये सारी फसल को ही चौपट कर देते हैं। फसलों को कीटों से बचाने के लिए उन पर रसायनिक पदार्थों के भुरकाव व छिड़काव का आधुनिक तरीका बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।

कीटनाशक औषधियां

कीटनाशक औषधियों को आगे दी गई तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है : (1) स्पर्श-प्रभावी (कान्टैक्ट पॉयजन) (2) आन्तरिक या उदर प्रभावी (स्टमक) और (3) धूम्र-प्रभावी (फ्यूमीगैन्ट्स)।

स्पर्श प्रभावी कीटनाशक : इनके छूते ही कीटाणुओं की मृत्यु हो जाती है। निकोटीन, रोटेडन, पाइरेथ्रम, बी० एच० सी०, डी० डी० टी० तथा अन्य अनेक कार्बनिक-फारफोरस मिश्रण ऐसे ही कीटनाशक हैं। ये सभी कीटनाशक मक्खी वर्ग (चूसक कीटों) को मारने के लिए उपयोगी हैं।

उदर प्रभावी कीटनाशक : ये पौधे के उन अंगों पर जहां से कीट अपना भोजन प्राप्त करते हैं, डाले जाते हैं। आर्सेनिक कम्पाउन्ड, फ्लोरोसिलिकेट, जिंक फोसफाइड, क्लोरिनेटेड हाइड्रो-कार्बन आदि ऐसे उदर प्रभावी कीटनाशक हैं, जो सभी प्रकार के काटने वाले कीटों या बाइटिंग इंसेक्ट और उनके डिंभों को नष्ट कर देते हैं।

धूम्र प्रभावी कीटनाशक : फ्यूमीगैन्ट्स नामक कुछ ऐसी औषधियां हैं जो विषैला धुआं देती हैं और जब सांस द्वारा यह धुआं कीटाणुओं के शरीर में पहुंचता है तो उनकी मृत्यु हो जाती है। कार्बन डाईसलफाइड, कैलशियम साइनाइड, मिथिल ब्रोमाइड आदि ऐसे ही कीटनाशक हैं। ये घुन, रानी दीमक तथा मिट्टी में पलने वाले अन्य कीटों एवं जीवों को नष्ट करने के लिए उपयोगी हैं।

कुछ कीटनाशी औषधियां ऐसी हैं जो एक साथ कई काम करती हैं, जैसे संखिया का घोल स्पर्श और उदर प्रभावी दोनों हैं। गंधक स्पर्श, उदर और धूम्र प्रभावी पाया गया है। ये कीटनाशी औषधियां उपयोगी पायी गयी हैं।

स्पर्श प्रभावी कीट नाशक तैयार करने की विधियां :
(1) साबुन का घोल : एक पौंड साबुन को पांच गैलन पानी में घोलिए। जरूरत पड़े तो गर्म करके घोल तैयार किया जा सकता है। किन्तु तैयार हो जाने के बाद ठंडा कर लें। (2) फिश आयल रोजिन साबुन : इसको 1 पौंड आठ गैलन पानी में गर्म करके घोलें। (3) मिट्टी के तेल का इमल्शन : आधा पौंड साबुन को एक गैलन पानी में गर्म करके घोलना चाहिए। साबुन के घुल जाने के बाद उसे आग से उतार कर दो गैलन मिट्टी का तेल उसमें मिला दीजिए और तब तक खूब हिलाइये जब तक कि तेल भलीभांति घोल में न मिल जाए। इस्तेमाल करने से पूर्व एक भाग इमल्शन में 15 से 20 भाग पानी मिलाना चाहिए। (4) क्रूड आयल इमल्शन : इसे भी मिट्टी के तेल के इमल्शन की भांति तैयार किया जाता है किन्तु मिट्टी के तेल के स्थान पर क्रूड आयल का प्रयोग होता है। (5) तम्बाकू का काढ़ा : तम्बाकू की एक पौंड झाड़न (रिफ्यूज) को एक गैलन पानी में आधे घंटे तक उबालने के बाद उसमें चार औंस साबुन घोलना चाहिए। इस्तेमाल करने से पूर्व एक भाग काढ़े में 6 से 8 भाग पानी मिलाइए। (6) निकोटीन सल्फेट : एक भाग निकोटीन सल्फेट (40 प्रतिशत) में 700 भाग पानी मिलाइए। (7) रोजिन सोप : एक पौंड रोजिन साबुन को चार गैलन पानी में घोलिए। (8) निकोटीन इमल्शन : 6 औंस नहाने के साबुन को छः गैलन पानी में घोलकर एक औंस निकोटीन सल्फेट (40 प्रतिशत) मिलाइए और खूब हिलाइए।

उदर प्रभावी कीटनाशक तैयार करने की विधियां : (1) लैड आर्सिनेट छिड़कने के लिये एक पौंड लैड आर्सिनेट पाउडर को पचास गैलन पानी में मिलाना चाहिए। इस्तेमाल करने से पूर्व पानी को खूब हिलाइए। (2) भुरकने के लिये एक भाग लैड आर्सिनेट को आठ भाग हाइड्रेटेड चूने में मिलाइए। (3) पेरिस ग्रीन : छिड़काव के लिये एक पौंड पेरिस ग्रीन को सौ गैलन पानी में मिलाइए। इस्तेमाल से पहले पानी को खूब हिला लीजिए। (4) भुरकने के लिये : एक भाग पेरिस ग्रीन को बीस भाग हाइड्रेटेड चूने में मिलाइए।

धूम्र प्रभावी कीटनाशक तैयार करने की विधियां : (1) कार्बन डाईसल्फाइड : दो पौंड कार्बन डाईसल्फाइड को एक हजार घनफुट स्थान में इस्तेमाल करना चाहिए। इसका प्रयोग सावधानी से होना चाहिए क्योंकि यह तुरन्त आग पकड़ लेता है और विस्फोटक है। (2) कैलशियम साइनाइड : प्रत्येक 5000 घन फुट स्थान के लिए $\frac{3}{16}$ औंस कैलशियम साइनाइड काम में लाना चाहिए। (3) मैथिल ब्रोमाइड : एक हजार घनफुट स्थान में दो पौंड मैथिल ब्रोमाइड इस्तेमाल करना चाहिए।

कीटनाशक विष : कुछ विष ऐसे होते हैं जो कीड़ों को फंसा कर मारने के काम लाये जाते हैं। इनमें से कुछ आगे दिये जा रहे हैं। (1) 100 पौंड गेहूं की चोकर को 5 पौंड सोडियम आर्सिनेट या सफेद संखिया में मिलाकर आवश्यकतानुसार पानी मिलाकर गूंद कर तैयार कर लीजिए। सोडियम आर्सिनेट की जगह सोडियम फ्लूओसीलिकेट या 2 पौंड पेरिस ग्रीन भी काम में लिया

जा सकता है । इस को मीठी बनाने के लिए इसमें 2 क्वार्टर शीरा भी मिलाया जा सकता है। (2) 2 औंस अल्ड्रिन या 1 पौंड टोक्ज़ाफिन या आधा पौंड क्लोर्डेन को 100 पौंड गेहूँ की चोकर में मिला लीजिए। इस मिश्रण को आधा गैलन मिट्टी के तेल में मिलाकर छिड़का जा सकता है। (3) 100 पौंड गेहूँ की चोकर को 10 पौंड बी० एच० सी० के साथ पानी मिलाकर गूंद लीजिए। इस की गोलियां बनाई जा सकती हैं। (4) डेढ़ पौंड कुटे हुए धान या मक्का के साथ 1 औंस जिंक फासफाइड मिलाकर गूंद लीजिए। इस मिश्रण को बनने के तुरन्त बाद ही इस्तेमाल कर लीजिए।

भुरकावक और छिड़कावक यंत्र

कीटनाशक रसायनों को प्रभावशाली तथा सस्ते ढंग से इस्तेमाल करने के लिए यह आवश्यक है कि अच्छे किस्म के उपकरण या यंत्र काम में लाए जाएं। बाजार में अनेक किस्म के भुरकावक और छिड़कावक यंत्र मिलते हैं। भुरकावक यंत्र इस प्रकार का हो जो हवा को पूरी शक्ति के साथ लगातार भुरक कर कीटाणुओं तक पहुंचा सके। भुरकी जाने वाली दवा पाउडर या बुरादे की शक्ल में महीन पिसी हुई होनी चाहिए जो डस्टर या भुरकावक यंत्र से तेजी से अधिक मात्रा में भुरकी जा सके। भुरकावक यंत्र और छिड़कावक यंत्र भी हल्का, छोटा और आसानी से इधर-उधर लाने ले जाने के लायक होने चाहिएं। छिड़कावक यन्त्र को भाप या कुहासे की शक्ल में भारी तादाद में फसल पर अच्छी तरह छिड़कने वाला होना चाहिये।

भुरकावक यन्त्र चार प्रकार के होते हैं :—(1) हाथ से भुरकने वाले यन्त्र (2) नैपसैक थैले वाले भुरकावक यन्त्र (3) रोटरी या चक्रधारी भुरकावक यन्त्र तथा (4) बिजली से चलने वाले भुरकावक यन्त्र। अलग अलग भुरकावकों में हवा देने के अलग अलग तरीके होते हैं।

छिड़कावक यन्त्र भी चार प्रकार के होते हैं : (1) हाथ का छिड़कावक या पम्प छिड़कावक (2) बाल्टी वाला छिड़कावक (3) नैपसैक थैले वाले छिड़कावक तथा (4) बिजली या मोटर से चलने वाले छिड़कावक यन्त्र। इन सभी प्रकार के छिड़कावकों में पम्प-सिस्टम द्वारा यन्त्र में स्थित तरल पदार्थ को बाहर फेंका जाता है। पहले तीन प्रकार के छिड़कावकों में हाथ से पम्प चलाना पड़ता है।

दस्ती छिड़कावक और भुरकावक यन्त्र गृह-वाटिकाओं के लिए बड़े उपयुक्त रहते हैं। नैपसैक और रोटरी भुरकावक और नैपसैक छिड़कावक फलों के बगीचे और साग-सब्जी के खेतों के लिए अच्छे रहते हैं। बिजली या शक्ति से चलने वाले भुरकावक और छिड़-कावक बड़े-बड़े फार्मों या फल के बगीचे के काम में लाए जाते हैं। नैपसैक भुरकावक और छिड़कावक बड़े-बड़े क्षेत्रफल के बगीचों या खेतों के लिए काम में लाए जाते हैं। नैपसैक भुरकावक छोटे-छोटे फसलों के लिए, रोटरी भुरकावक ऊंची और बड़ी फसलों के लिए अच्छे रहते हैं।

इन्हीं उपकरणों से फफूंदनाशी दवाएं भी छिड़की या भुरकी जा सकती हैं तथा थोड़ी सी सावधानी बरत कर खरपतवारनाशी रसायन भी छिड़के या भुरके जा सकते हैं।

प्रमुख फसलों के कीटों की रोकथाम

आगे के पृष्ठों में प्रमुख फसलों की कीट व्याधियों और उनकी रोकथाम के उपायों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

धान : कीट और रोकथाम

धान का तना छेदक (पैडी स्टैमबोरर) : यह कीट मार्च और नवम्बर के मध्य सक्रिय रहता है इसके सूंडे छेद करके पौधों के तनों में घुस जाते हैं जिससे मध्य की कली मुर्झा जाती है और उसके ऊपर एक मृत शाख निकल आती है। इसकी रोकथाम के लिए कीट के भृंग को पकड़ने के लिए प्रकाश जाल लगाने चाहिए। अंडों के समूह को इकट्ठा करके नष्ट कर देना चाहिए। खड़ी फसल पर 0.1 प्रतिशत बी० एच० सी० घोल का छिड़काव या 5 प्रतिशत डी० डी० टी० अथवा ५ प्रतिशत बी० एच० सी० का भुरकाव करना चाहिए।

सूंडा समूह (स्वार्मिंग कैटरपिलर) : ये सूंडे बड़े-बड़े समूह में बियाड़ की क्यारियों में निकलते हैं। अंडे देने वाले मौसम में अचानक यह पौधों को बहुत हानि पहुँचाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए खेतों में पानी भर दो या क्यारियों के चारों तरफ नालियां बना दो जिनके किनारे ढलवां हों। पौधों पर 15 पौंड प्रति एकड़

की दर से 5 प्रतिशत बी० एच० सी० के भुरकावक की सिफारिश की जाती है।

कटुआ कीट (पैडी कटवर्म) : कटुआ सूंडा फसल की आरम्भिक अवस्था में खेतों में बाढ़ आ जाने पर या भारी वर्षा के बाद पौधों पर आक्रमण करते हैं। इनकी रोकथाम के लिए पौधों पर 15 से 20 पौंड प्रति एकड़ की दर से बी० एच० सी० 5 प्रतिशत का भुरकाव करने की सिफारिश की जाती है।

गेगला कीट (पैडी बग) : गेगला कीट का आक्रमण फसल में दाना पड़ने के बाद होता है। ये दूधिया दानों का रस चूस लेते हैं जिससे दाने सूख जाते हैं। कभी कभी उनके आक्रमण से सारी फसल नष्ट हो जाती है। इसकी रोकथाम के लिए पौधों को हिलाकर नन्हें बाल कीटों को जल में गिराकर नष्ट कर दो प्रति एकड़ 12-15 पौंड की दर से 5 प्रतिशत बी०एच०सी० की धूल बुरकें।

चावल का टिड्डा (राइस ग्रास हॉपर) : इस के कीट बाल और प्रौढ़ दोनों धान की पत्तियों और दूधिया दानों को खाकर पलते हैं। प्रायः ये कीट सितम्बर से लेकर दिसम्बर तक फसल में सक्रिय होते हैं। इसकी रोकथाम के लिए फसल कटते ही गहरी जुताई कर दें। प्रति एकड़ 10-20 पौंड की दर से पांच या दस प्रतिशत बी० एच० सी० की धूल भुरकें।

हिस्पा भृंग (राइस हिस्पा) : यह नीले-काले रंग का छोटा सा भृंग ऊपर से धारीदार होता है। इसके बाल-कीट पत्तियों में अन्दर घुसकर उनको खाते हैं और उनमें लम्बी घुमावदार सुरंग

बनाते हुए आगे बढ़ते जाते हैं। बियाड़ में खड़े पोधों को यह कीट अधिक हानि पहुंचाता है। इसकी रोकथाम के लिए प्रति एकड़ 15 पौंड की दर से प्रतिशत बी० एच० सी० धूल का छिड़काव करें।

जौ, गेहूं और जई : कीट और रोकथाम

तना छेदक (स्टेम बोरर) : इसके गिडार का शरीर आयाताकार और रंग जामुनी और भूरा होता है। यह छेद करके तने में घुस जाता है और शीर्ष भाग को नष्ट कर देता है। इसका पतन भूसे के रंग का होता है और पत्तियों की सतह के अन्दर समूह में अंडे देता है। इसकी रोकथाम के लिए फसल पर 0.3 प्रतिशत डी० डी० टी० गामा-बी० एच० सी० का छिड़काव करें।

एफिड बुंगा मक्खी (ह्वीट एफिड) : यह कीट दूधिया दानों का रस चूस लेता है और तनों को खाकर अपना पेट भरता है। इसका वर्धन बहुत शीघ्रता के साथ होता है। इसकी रोकथाम के लिए प्रति एकड़ 8-10 पौंड 3-5 प्रतिशत बी० एच० सी भुरकें या 0.05 प्रतिशत निकोटीन के घोल का छिड़काव करें।

दीमक (टर्माइट) : दीमक का आक्रमण बियाड़ में खड़ी पौधे के साथ-साथ खेत में खड़ी फसल पर भी होता है। इसकी रोक थाम के लिये प्रति एकड़ 3-4 गैलन की दर से सिंचाई के पानी के साथ इंजन का जला तेल (क्रूड आयल) प्रयोग करें। यदि कीट नष्ट न हो तो दोबारा यही उपचार करें।

बाजरा, ज्वार, मक्का : कीट और रोकथाम

किलो पतंग (किलोजोनेलस) : मटमैले रंग का यह पतंग रात्रि को फसल पर आक्रमण करता है। मादा पतंग अपने अंडे समूह में पत्तों की निचली सतह पर देती है। इसके सूंडे पत्तियों को चरते हुए छेद करके तने में घुस जाते हैं और वहां से ऊपर पहुंच कर भुट्टों को नष्ट करने लगते हैं। पौधे पर ट्रिकोग्रामा नामक परजीवी कीट छोड़िये जो इसके अंडों को ढूंढकर खा लेता है।

टिड्डा (हाइरोग्लाइफस) : यह टिड्डा अपने अंडे मिट्टी में तीन-चार इंच गहराई पर रखता है। यह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक फसल पर ही पलता है। प्रौढ़ कीटों को मारने के लिए प्रति एकड़ 10-12 पौंड की दर से पांच से दस प्रतिशत बी० एच० सी० धूल का भुरकाव करें।

एफिस : बाजरा, ज्वार और मक्का पर आक्रमण करने वाले एफिस का रंग काला होता है और वे पत्तियों तथा भुट्टों को हानि पहुंचाता है। फसल पर बी० एच० सी० की धूल भुरकें या निकोटिन घोल का छिड़काव करें।

दाल : कीट और रोकथाम

चने का सूंडा (ग्राम कैटरपिलर) : हरे रंग के इस गिडार के शरीर पर भूरे रंग की लम्बी धारियां पड़ी होती हैं। ये कोमल पत्तों और फलियों को खाता है और मिट्टी में अपनी कोषित अवस्था पूरी करता है। इसका पतंग पीले-भूरे रंग का होता है

श्रौर एक-एक करके हरे-पीले रंग के श्रंडे देता है। फसल पर जस्ते के श्रार्सनेट का छिड़काव करें। फसल पर ट्रिकोग्रामा नामक परजीवी कीट को छोड़ें जो इसके श्रंडों को नष्ट कर देता है।

चने की फलियों की मक्खी (ग्राम पौड फ्लाई) : ये कीट श्रपने श्रंडे चने की फलियों के श्रन्दर छिलके के नीचे देते हैं। इसके गिडार कोमल दानों को खाकर नष्ट कर देते हैं। कभी कभी फलियों के पड़ने से पहले छोटे पौधों की कोमल पत्तियों पर भी इनका श्राक्रमण होता है। यदि सूंडे फसल पर मौजूद हों तो 0.05 प्रतिशत निकोटीन या 0.1 प्रतिशत डी० डी० टी० का छिड़काव करें।

चिपचिपा कटुश्रा कीट (ग्रीजी कट वर्म) : इसका पतंग दिन के समय सूखी हुई टहनियों श्रौर पत्तियों के पीछे छिपा रहता है। ये श्रपने श्रंडे पत्तियों की निचली सतह पर समूह में देता है। इसके गिडार धरातल से ही पौधों पर श्राक्रमण करते हैं। ये श्रपनी कोषित श्रवस्था मिट्टी में ही पूरी करते हैं। पतंग के श्रगले दो पंख मटमैले भूरे रंग के श्रौर पिछले दोनों पंख क्रीम सफेद रंग के होते हैं। इसकी रोकथाम के लिये 15-20 पौंड प्रति एकड़ 5-10 प्रतिशत डी० डी० टी० या बी० एच० सी० या कैल्शियम श्रार्सीनेट श्रौषधियां भुरकें।

सरसों : कीट और रोकथाम

सरसों एफिड (मस्टर्ड एफिड) : हरित सफेद रंग की यह मक्खी बड़ी संख्या पर पौधों पर श्राक्रमण करती है। इसके श्राक्र-

मण से पत्तियां ऐंठ जाती हैं और पौधे सिकुड़ कर मर जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिये 0.05 प्रतिशत निकोटीन या मछली का तेल, रोफ्रींनी साबुन 0.1 प्रतिशत बी० एच० सी० या 0.05 प्रतिशत मैलाथियन का छिड़काव करें।

सरसों की आरा मक्खी (मस्टर्ड सॉ फ्लाई) : इस मक्खी का गिडार काले से रंग का होता है और सरसों कुल के समस्त पौधों पर आक्रमण करता है। यह कोमल पौधों की पत्तियों को चर कर अपना पेट भरता है। छूने पर यह अपने शरीर को मोड़ कर जमीन पर गिर पड़ता है। प्रौढ़ मक्खी का रंग काला होता है और वह एक-एक करके पत्ती के सतह के अन्दर अपने अंडे देती है। इसकी रोकथाम के लिये 3 प्रतिशत बी० एच० सी० धूल का भुरकाव या लेड आर्सीनेड 1 पौंड को 50 गैलन जल में मिलाकर भुरकाव करें।

कपास : कीट और रोकथाम

कपास का बौड़ी छेदक (कॉटन बॉलवर्म) : इसके छोटे आकार सख्त शरीर और भूरे रंग का सूंडा पौधे की प्रारम्भिक अवस्था में चोटी की शाख में छेद करके अन्दर घुस जाता है। बाद में यह छेद करता हुआ बौड़ियों के अन्दर चला जाता है। फलस्वरूप चोटी की शाख नीचे झुक जाती है और प्रभावित बौड़ियां गिर जाती हैं। प्रौढ़ पतंग छोटे आकार और हरे रंग का होता है। इसकी रोकथाम के लिये बिना मौसम के भिंडी की खेती मत कीजिये। कीटों से प्रभावित शाखों और बौड़ियों को तोड़ कर नष्ट कर देना चाहिए।

गुलाबी बौड़ी छेदक (पिंकबॉल वर्म) : इस कीट का गिडार पीले या गहरे जामुनी रंग का होता है और बौड़ियों में छेद करके बिनौलों को खा जाता है। यह बौड़ी के अन्दर ही अपनी कोषित अवस्था पूरी करता है। प्रौढ़ पतंग छोटे आकार का और काले-भूरे रंग का होता है। इसकी रोकथाम के लिये बिनौला बोने से पहले उसको सूर्योपचार द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिये।

तने का घुन (स्टैम वीविल) : इस घुन के बाल कीट छेद करके तने में घुस जाते हैं। इसके आक्रमण से प्रभावित पौधों में भूमि के पास गांठों की तरह सूजन हो जाती है और तेज हवा चलने पर पौधे गिर जाते हैं। इस बीमारी की रोकथाम के लिए सहयोगी खाद्य की फसलों को बेमौसम नहीं बोना चाहिए।

जैसिड मक्खी (काटन जैसिड) : छोटे आकार और हरे रंग की पत्तियों पर फुदकने वाले इस कीट के बाल और प्रौढ़ दोनों पत्तियों को खाकर अपना पेट भरते हैं। इसके आक्रमण से पत्तियां पीली पड़ जाती हैं और पौधों की बढ़त रुक जाती है। इसकी रोक-थाम के लिए प्रति एकड़ 30-70 गैलन की मात्रा में रोसीन साबुन या 0.2 प्रतिशत डी० डी० टी० का छिड़काव करें या गंधक या 5 प्रतिशत डी० डी० टी० की धूल को 1 : 1 के अनुपात में मिला कर फसल में भुरकें।

सफेद मक्खी (ह्वाइट फ्लाई) : बहुत छोटे आकार की ये मक्खियां पत्तियों की निचली सतह पर आक्रमण करती हैं। प्रभावित पत्तियां सूख जाती हैं और पौधों की बढ़त रुक जाती है। ये मक्खियां विषाणु रोगों के प्रसारक के रूप में भी काम करती हैं। कीट का

प्रभाव कम करने के लिए खेत में $1\frac{1}{2}$ मन प्रति एकड़ की दर से अमोनियम सल्फेट या सुपर फास्फेट का प्रयोग अच्छा है। यदि अधिक मात्रा में आक्रमण हो तो रोसीन के घोल का छिड़काव करें।

पत्तीमोड़क कीट (लीफ रौलर) : छोटे आकार और हरे रंग का यह सूंडा कपास की पत्तियों को मोड़कर उन्हीं को खाकर अपना निर्वाह करता है। उन्नत किस्में इससे अधिक प्रभावित होती हैं। इसका पतंग मध्यम आकार और पीले पंखों का होता है। इसकी रोकथाम के लिए पौधों पर जस्ते के आर्सेनेट का छिड़काव करना चाहिए।

गन्ना : कीट और रोकथाम

अगोला छेदक (टॉप शूट बोरर) : यह हल्का पीला सूंडा पत्ती की बीच की नस में रास्ता बनाकर ऊपर की आंगों घुस जाता है। और इसकी सफेद मक्खी पत्तियों के अन्दर अंडे देती है। जब इसका आक्रमण होता है तो चोटी का रोला सूख जाता है और उसकी बगल से रोला निकलने लगते हैं। इसकी रोकथाम के लिए 0.2 से 0.5 प्रतिशत डी० डी० टी० या बी० एच० सी० 0.1 प्रतिशत एनड्रीन का प्रयोग करें।

तना छेदक (स्टैम बोरर) : मैली क्रीम के रंग का सूंडा तने में छेद करके अन्दर घुस जाता है। इसकी तितली कुछ मटमैली भूरी होती है जो पत्तियों की अन्दर की तरफ गुच्छों में अंडे देती है। जब इसका पौधे पर आक्रमण होता है तो केन्द्रीय अगोले का बीच वाला भाग सफेद हो जाता है और सूखने लगता है। गन्ने में बहुत

छेद हो जाते हैं। इसकी रोकथाम के लिए छेदक रहित टुकड़े बोये जाएं। पेड़ी से फसल न ली जाए। अंडे खाने वाले परोपजीवी कीड़ों को छोड़ा जाय।

जड़ छेदक (रूट बोरर) : सफेद रंग का सूंडा गन्ने को पौधे की छोटी अवस्था में हानि पहुँचाता है जबकि उसमें गांठें बनने वाली होती हैं। इसका केन्द्रीय अगोला सूख जाता है और तितली पत्तियों के अन्दर की तरफ एक एक करके अंडे देती है। इसकी रोकथाम के लिए तना छेदक की रोकथाम वाले उपाय काम में लाये जायें।

पत्ती का फुदका (लीफ हॉपर) : यह कोमल शरीर का हल्के भूरे रंग का पत्तियों को चूसने वाला कीड़ा होता है। इसके छोटे और बड़े दोनों कीड़े पौधे को नुकसान पहुंचाते हैं। जब इसका बहुत जोर होता है तब तितली हलके नीले रंग की गुच्छाली पत्तों के अन्दर की तरफ रखती हैं जो ऊपर से धागेदार पदार्थ से ढका हुआ होता है। इसकी रोकथाम के लिए 0.25 प्रतिशत बी० एच० सी० या डी० डी० टी० 50 से 60 गैलन में प्रति एकड़ के हिसाब से या पांच प्रतिशत बी० एच० सी० 20 से 30 पौंड प्रति एकड़ के हिसाब से छिड़कें।

भंडार के कीट

खपड़ा भृंग (खपड़ा बीटिल) : यह भृंग भूरे रंग का अंडाकार होता है इसके कीट डिंभ नाज की, खास तौर से खाद्यान्नों और दालों की ऊपरी तह पर हमला करते हैं। इसका कीट

डिंभ भूरापन लिए हुए सफेद होता है। इसके शरीर के चारों ओर लाली लिए हुए भूरे बाल होते हैं।

चावल का घुन (राइस वीविल) : यह छोटा लाली लिए हुये भूरा या काला होता है इसके कीट डिंभ और कीट मोटे अन्नों और खाद्यान्नों को खाते हैं। अन्नों के खाए हुए हिस्सों पर अंडे देते हैं। इसके कीट डिफ नाक में छेद करके अंदर घुस जाते हैं।

आटे का लाल भृंग (रस्ट-रैड फ्लोर बीटिल) : यह लाली लिए हुए भूरा भृंग है। यह टूटे हुए दाने और खाद्यान्न को खाता है। दाने, दालों, बिनौले, मूंगफली, और सूखे फलों को गुड़ को खाता है। यह आटे में अंडा देता है और इसके कीट डिंभ 5-12 दिन में आते हैं इसकी यह स्थिति 27 दिन तक रहती है।

टिड्डियाँ

भारत अति प्राचीन काल से टिड्डियों के आक्रमण का शिकार रहा है जिसके कारण फसलों और पेड़ों को बहुत नुकसान होता है। कभी कभी इसका परिणाम भयंकर अकाल और पशुधन की हानि के रूप में देखने को मिलता है।

टिड्डियों की किस्में : टिड्डियों की आठ मुख्य किस्में हैं, जिनमें से बम्बई टिड्डी, प्रवास करने वाली टिड्डी और रेगिस्तानी टिड्डी नामक तीन किस्में भारत में पाई जाती हैं। पहली दो किस्में देश में ही अंडे बच्चे देती और रहती हैं और सम्पूर्ण पश्चिमी भारत में राजस्थान (उत्तर) से मैसूर, मद्रास (दक्खिन) तक बिखरी हुई पाई जाती हैं। वे दल के रूप में कभी नहीं मिलतीं। ये मुख्य रूप से घास

धान का
तना-छेदक कीट

घास का टिड्डा
(ग्रास हौपर)
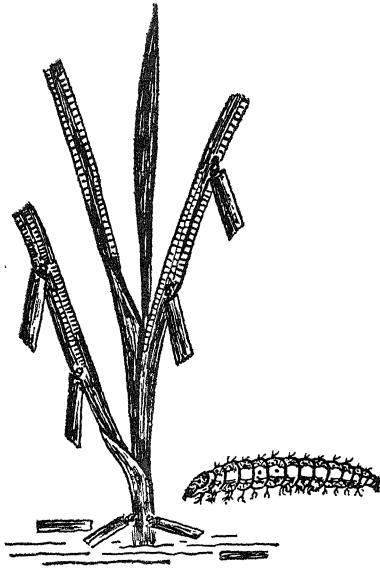
धान का
कोश कीट

पौधों के तना-छेदक कीड़े की इल्ली

वर्गीय पौधों से अपना भोजन लेती हैं। कभी कभी जब ये अधिक संख्या में इकट्ठी हो जाती हैं तब ये ज्वार, बाजरा और अन्य मोटे अनाजों को बहुत नुकसान पहुंचाती हैं।

रेगिस्तानी टिड्डियां

वितरण : रेगिस्तानी टिड्डी एक विनाशकारी कीट है। यह टिड्डी एक अन्तर्राष्ट्रीय कीट है। ये पूर्व में राजस्थान से लेकर पश्चिम में अफ्रीका तक विस्तृत क्षेत्र, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईराक, दक्खिन में अरब और उत्तर में पूर्वी-पश्चिमी अफ्रीका तक फैले हुए विस्तृत क्षेत्र में पायी जाती है। इस विशाल क्षेत्र में ये रहती हैं और अंडे बच्चे देती हैं। ये झुण्ड बनाकर दूर-दूर तक धावे मारती हैं। टिड्डी का धावा चक्करों में होता है, चक्कर की अवधि के साथ दोनों चक्करों की अवधि भिन्न होती है।

प्रजनन : टिड्डियों के अंडे बच्चे पैदा होने के सामान्यतः वर्ष में दो मौसम होते हैं (1) जाड़ा-बसंत और (2) गरमी-वर्षा। ऐसे स्थानों में जहां पर वर्षा अधिकतर जाड़े में और बसंत के शुरू में होती है, उदाहरण के रूप में दक्खिनी पूर्वी अरब, दक्खिनी ईरान, बलूचिस्तान में टिड्डी बसंत में अंडे-बच्चे पैदा करती है। भारत तथा अन्य देशों में टिड्डियां आमतौर पर गर्मी और बरसात में अंडे-बच्चे पैदा करती है। जाड़े और बसंत में पैदा हुईटिड्डियों के झुण्ड गरमियों में मध्य-पूर्वी देश और बलूचिस्तान में, साधारणतः पूर्व की ओर पाकिस्तान और भारत में उड़ जाते हैं। इस देश में वर्षा आते ही वे जून से सितम्बर तक अंडे देती हैं। इन से उत्पन्न टिड्डियों के झुण्ड

शरद ऋतु में जाड़े के वर्षा वाले क्षेत्रों को वापस चले जाते हैं क्यों कि उन दिनों गरमी की वर्षा वाले क्षेत्रों की दशा वर्षा न होने से अंडे बच्चे पैदा करने के लिये टिड्डियों के लिए उपयुक्त नहीं होती। देश में पैदा हुए कुछ टिड्डी दल देश के उत्तर, दक्खिन और पूर्व की ओर भी चले जाते हैं और इस प्रकार वे भारत के सभी हिस्सों पर धावा करते हैं और खरीफ की फसल को हानि पहुंचाते हैं। कभी कभी जाड़ों में भी टिड्डियां अंडे पैदा करती है, मुख्यतः पंजाब में जहां वे रबी की फसलों को भी हानि पहुंचाती है।

रोकथाम के उपाय : टिड्डी की रोकथाम के लिए दो मुख्य उपाय हैं : (1) जहरीले चारे का उपयोग, और (2) कीटनाशकों का छिड़काव और भुरकाव। हालांकि जहरीला चारा सस्ता है पर अधिक व्यावहारिक नहीं। कीटनाशकों का छिड़काव और भुरकाव करना बहुत कारगर पाया गया है। टिड्डियों को नष्ट करने के लिए अण्डों से भरी भूमि पर एल्ड्रिन का छिड़काव बहुत कारगर पाया गया है। इससे भूमि पर दवा की जहरीली पतली चादर सी बन जाती है जिसके कारण अंडों से जो बच्चे निकल कर ऊपर आते हैं ये उसके सम्पर्क में आते ही जब फुदके एक बार बाहर निकलते हैं तो उनको जहरीली दवा के भुरकाव या छिड़काव से नष्ट किया जा सकता है। टिड्डियों की अवस्था बहुत ही नुकसान पहुंचने वाली होती है। भुरकाव के लिए बी-एच-सी बहुत कारगर कीटनाशक दवा है। फुदकों को मारने के लिए इसकी 3 से 5 प्रतिशत शक्ति की दवा काफी समझी जाती है। इससे बड़ी टिड्डियों के लिए 5 से 7 प्रतिशत शक्ति की दवा आवश्यक है। पूर्ण विकसित फुदकों के लिए 10 प्रतिशत शक्ति की बी-एच-सी

की आवश्यकता है। फुदके जिस रास्ते से आगे बढ़ रहे हैं उस रास्ते में दवा का भुरकाव या छिड़काव सारे फुदकों के ऊपर या भूमि की दो-तीन गज चौड़ी पट्टियों में किया जा सकता है। फुदकों को मारने का अन्य तरीका यह है कि फुदकों के गुजरने के रास्ते में डेढ़ से ढाई फुट गहरी और एक-दो फुट चौड़ी खाई खोद दी जाए और फुदकों को उस में धकेल कर उन्हें जिंदा ढकना दिया जाए। खाई में गिरे हुए फुदकों पर मिट्टी के तेल या साबुन का इमलशन छिड़क कर भी मारा जा सकता है। जिन झाड़ियों में फुदके आराम करते हैं वहां उनको नष्ट करने के लिए कीटनाशक दवा का भुरकाव किया जा सकता है या उन्हें जलाया जा सकता है।

दलों में उड़ने वाली प्रौढ़ टिड्डियों पर काबू करना बहुत कठिन है। यदि वे किसी खेत या भूमि पर उतरती हैं, तो उनको अधिक से अधिक संख्या में मारने की कोशिश कीजिए। सुबह के वक्त इनको आसानी से मारा जा सकता है। उस समय वे सुस्त होती हैं। बंजर क्षेत्रों की भूमि पर बैठी टिड्डियों को और हरी झाड़ियों और पेड़ों पर बैठी टिड्डियों को लौ फेंकने की मशीन से जला कर मार देना चाहिए। यदि टिड्डियां आराम करने या अंडे बच्चे देने के लिए कहीं बैठ गई हों तो उनको मारने के लिए यही तरीका सबसे अच्छा रहता है। यदि टिड्डियां जमीन पर खाने के लिए उतर रही हों तो उनको मारने के लिए जहरीला चारा इस्तेमाल करना अच्छा रहता है। एक एकड़ के लिए 20 पौंड तक जहरीला चारा काफी है। इसे उन पेड़-पौधों और फसलों पर फैला देना चाहिए जिन्हें टिड्डियां खाती हैं। यदि पीले रंग की टिड्डियों का दल हो तो उन पर 10

प्रतिशत बी० एच० सी० भुरकना चाहिए। यदि टिड्डियों का जोर बहुत हो तो उड़ती हुई टिड्डियों और जमीन पर बैठे फुदकों पर जहरीली दवा छिड़कने के लिए हवाई जहाज़ इस्तेमाल करने पड़ते हैं।

खरपतवार

खरपतवार वे पौधे होते हैं जो स्वयं ही फसल के बीच में उग आते हैं और फसल के पौधों के भोजन के तत्व और नमी को ले लेते हैं। फलस्वरूप फसल कमजोर पड़ जाती है और उपज कम होती है। गेहूँ के खेत के एक एकड़ खेत से खरपतवार 17 पौंड नाइट्रोजन ले लेते हैं जिससे गेहूँ की उपज 5 मन कम हो जाती है। खरपतवार नालियों में पानी के बहाव में भी रुकावट पैदा करते हैं। कुछ खरपतवार मनुष्यों व पशुओं के लिए विषैले भी होते हैं।

ये (खरपतवार) हर प्रकार की (सिंचित या असिंचित भूमि) पर हर मौसम में उग आते हैं। इन्हें रोकने और जड़ मूल से खत्म करने के लिए अभियान चलाने चाहिएं। सुरक्षात्मक तरीकों में सबसे जरूरी है शुद्ध बीज का प्रयोग, शुद्ध खाद का प्रयोग, ऐसे पानी का प्रयोग जिसमें खरपतवारों के बीज न हों।

खरपतवारों की रोकथाम

खरपतवारों की रोकथाम के लिए जो विधियां काम में लाई जाती हैं उनको मोटे रूप में चार भागों में बांटा जा सकता है: (1) यांत्रिक विधि (2) जैविक विधि (3) कृषि क्रियायें, (4) रासायनिक विधि।

धान का
खरिका कीट
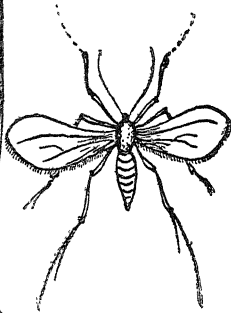
खेतों में पाया जानेवाला भूरे रंग का झींगुर

फसलों को हानि पहुंचाने वाली बालदार सूंडी और उसकी तितली

धान का बभनी कीड़ा
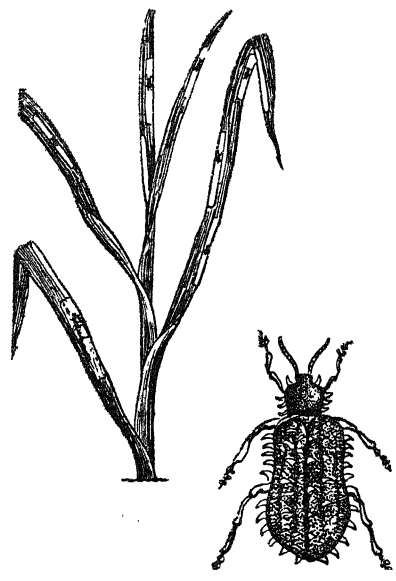
यांत्रिक विधि में खरपतवारों को हाथ से उखाड़ना, जलाना, खेत को पानी से भरना, जुताई करना और यन्त्रों द्वारा निराई-गुड़ाई करना शामिल है।

जैविक विधि में खरपतवारों पर ऐसे कीटाणु छोड़े जाते हैं जिनका भोजन ये खरपतवार होते हैं और जिनका इनसे पोषण होता है।

कृषि क्रियायें यदि समय पर अनुकूल दशाओं में वैज्ञानिक तरीकों से की जाती हैं तो खरपतवार आमतौर पर उगते ही नहीं हैं और उगते भी हैं तो बहुत कम।

रासायनिक विधि में खरपतवारों पर ऐसे रासायनिक पदार्थों का इस्तेमाल किया जाता है जिनसे ये पौधे नष्ट हो जाते हैं। गंधक का तेजाब, सोडियम क्लोरेट और बोरेट आदि ऐसे पदार्थ हैं। खनिज तेल और तारकोल भी खरपतवारों को रोकते हैं।

खरपतवार-नाशक हारमोन डालने से खरपतवारों की पत्तियां और डंठल मुरझा कर गिर जाते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनसे पौधों को हानि नहीं होती इसलिए इनका प्रयोग किया जाता है। कुछ सफल खरपतवार नाशक हारमोन 2-4 डी०, एम०सी०पी० ए० और 2-4, 5-टी० हैं।

हारमोन-खरपतवार-नाशक फसल उगने पर या उसके बाद दिए जा सकते हैं। आमतौर पर खरपतवार-नाशक बीज उगने से पहले ही दिए जाते हैं।

खरपतवार नाशकों को सुबह या शाम के समय देना चाहिये जबकि हवा कम हो। तेज हवा के समय इन्हें नहीं देना चाहिये क्योंकि पास की फसल को खतरा रहता है। खरपतवारनाशक उस समय दिए जाएं जब खरपतवारों के पौधे छोटे, कोमल और बढ़ने की अवस्था में हों। अगर अधिक बड़े पौधों पर इन्हें दिया जाता है तो यह प्रभावहीन हो जाते हैं। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में एस्टर नामक खरपतवार-नाशक देना अच्छा रहता है क्योंकि यह पानी के साथ जल्दी बहता नहीं है।

हार्मोन खरपतवार-नाशक देने में किसी भी छिड़काव या भुरकाव उपकरण का प्रयोग किया जा सकता है। इन्हें पानी या 1 प्रतिशत अमोनिया मिले पानी से साफ करके इस्तेमाल करना चाहिए। एस्टर के लिए उपकरण को साबुन मिले पानी से धोने से पूर्व मिट्टी के तेल से साफ कर लेना चाहिए।

डालापोन (2, 2-डाइक्लोरोप्रोपियोनिक एसिड), आई० पी० सी० (इसोप्रोपाइल फेनिल कार्बोनेट), एम० एच० (मालेहक हाइ-ड्रेजाइड), सी० एम० यू० (3-पैरा-क्लोरोफेनिल-1, 1-डाइमेथिल यूरिया), एमिनो ट्राइजोल 2, 4 डी, 2, 4 डी।

2,4 डी हारमोन : 2,4-डी से तैयार की गयी तीन व्यवसायिक दवाएं बाजार में मिलती हैं। सोडियम साल्ट, एमिन साल्ट व तेजाब अघुलनशील होते हैं इसलिए खरपतवार नाशक की तरह उनका प्रयोग नहीं किया जा सकता। सोडियम 2,4 डी सबसे सस्ता है क्योंकि यह घुलनशील है। यदि इसे देने के तुरन्त बाद वर्षा हो जाए तो इसका असर खत्म हो जाता है।

इनकी मात्रा प्रति एकड़ $\frac{1}{4}$ से 1 पौंड तक दी जाती है। इनकी मात्रा फसल पर निर्भर करती है। कमजोर फसलों में कम मात्रा और रोग रोधी व सहनशील करने वाली फसलों में अधिक मात्रा दी जानी चाहिए। कुछ खरपतवारो के लिए प्रति एकड़ २ पौंड तक दवा दी जा सकती है।

प्रमुख खरपतवार

देश के विभिन्न भागों में फसलों के साथ अलग-अलग मौसम में विभिन्न प्रकार के खरपतवार उगते हैं इनमें से कुछ प्रमुख खर-पतवार निम्नलिखित हैं :—

सत्यानासी (आरजीमोन मेक्सीकाना) : यह आमतौर से गेहूं और सरसों के खेतों में रवी की फसल में पाई जाती है। इसके सारे पौधे पर कांटे होते हैं और इसका फूल पीला होता है। इसको 2-4 डी नामक रसायन से नष्ट किया जा सकता है।

प्याजी (एस्फोडेलस टेन्यूफोलियस) : यह खरपतवार भी रबी के मौसम में गेहूं और चने के खेतों में पाया जाता है। यह मार्च के महीने में फूलता है। इसलिये इसको मार्च से पहले नष्ट करना आवश्यक है।

पोहली (कारथैमस आक्सी कैन्था) : यह खरपतवार आम तौर से बारानी क्षेत्रों में रबी के फसलों के साथ उगता है।

बथुआ (चेनोपोडियम एल्बम) : यह खरपतवार भी गेहूं के खेतों में पाया जाता है।

दूब (साइनोडोन डेक्टीलोन) : इसे हरियाली भी कहते हैं। इसकी शाखाएं भूमि के अन्दर 2 फुट से भी गहरी चली जाती हैं। गहरी-जुताई करने से इसकी शाखाएं ऊपर आकर धूप में सूख जाती हैं। इस तरह इसका फैलना रोका जा सकता है। खाली भूमि में अधिक मात्रा में (लगभग 100 पौंड प्रति एकड़) टी० सी० ए० देने से इसकी रोकथाम की जा सकती है।

मोथा (साइप्रस रोएडस) : यह खरीफ के मौसम में ज्वार, बाजरा और मक्का की फसलों को ज्यादा नुकसान पहुँचाता है। इसका फैलाव बीज व गांठों से होता है। 1 से 2 पौंड प्रति एकड़ 2, 4-डी छिड़कने से भी इसका नाश किया जा सकता है।

तनतनी (लेएटाना केमरा) : यह खरपतवार पहाड़ों पर भी 3,000 फुट की ऊंचाई तक पाया जाता है। जब तक इसके भूमि के अन्दर वाले भाग नष्ट न किये जाएं तब तक इसकी रोकथाम नहीं की जा सकती। 2, 4-डी के प्रयोग से इसके पौधे मर जाते हैं।

कांस (सैकरम स्पोन्टेनियम) : यह बड़ी लम्बी जड़ों वाला खरपतवार है, जो अधिकतर नम जगहों में होता है। इसे ट्रैक्टर की गहरी जुताई से ही नष्ट किया जा सकता है।

10.

उन्नत कृषि यंत्र

सफल और वैज्ञानिक खेती के लिये जो बातें जरूरी हैं उनमें उन्नत कृषि यंत्र काफी महत्वपूर्ण हैं। कहते हैं कि यदि उचित प्रकार के कृषि यंत्र खेती में इस्तेमाल किये जायें तो उपज आमतौर पर 10 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। हमारे देश में अलग अलग क्षेत्रों में अलग अलग कृषि औजार इस्तेमाल किये जाते हैं। देश में इनमें से कुछ औजारों में सुधार भी किये गए हैं। विदेशों के कुछ अच्छे औजार भी देश में प्रचलित हैं।

भारत में साधारणतः किसानों के पास थोड़ी भूमि है, औसतन किसान गरीब हैं और कृषि में काम करने वाले पशु प्रायःछोटे कद के हैं। हमारे देश में नमी को बनाये रखने की भी एक समस्या है। इसलिए यहां हल्की और कम गहरी जुताई ही काफी समझी जाती है। गहरी जुताई तो विशेष स्थितियों में ही की जाती है।

औसतन प्रत्येक किसान के पास एक या अधिक पंक्तियों में बुवाई का यन्त्र, लकड़ी का हल, ब्लेड हैरो, मिट्टी को समतल करने वाला पाटा, बखर, एक ब्लेड कल्टीवेटर (कोलपा), एक खुर्पी, हंसियां, हाथ से घास काटने वाली एक दरांती, एक हैंड चोपर और कुल्हाड़ी आदि होते हैं। पंजाब और उत्तरी भारत के कुछ राज्यों में

हैरों के स्थान पर नुकीली लोहे की कीलों या ब्लैडों वाला हैरो और त्रिफाली का प्रयोग किया जाता है।

गत तीस वर्षों में करीब करीब प्रत्येक राज्य के कृषि विभागों ने कृषि के सुधरे देशी यंत्रों के उत्पादन में वृद्धि करने या नए यंत्र तैयार करने के प्रयास किये हैं जिनसे इतना अधिक शारीरिक श्रम न करना पड़े। इसके साथ साथ मिट्टी पलटने वाले विदेशी मोल्ड बोर्ड वाले हल, कई कतार वाले बीज-ड्रिल, विविध नमूनों के मिट्टी खुरचने वाले यंत्र, कुट्टी काटने वाली मशीनें और औसाई के यंत्र चालू किए गये हैं। हाल ही में धनी कृषकों ने ट्रैक्टर और उसके यंत्र, तेल के इंजन और पम्प, ईख पेरने के कोल्हू और धान कटाई तथा मूंगफली के छिल्का निकालने वाले विजली से चलने वाले यन्त्र आदि अपनाये हैं। इन से कृषि उत्पादन की प्रमुख क्रियाओं में बड़ी सहायता मिली है।

हल : भारत में दो प्रकार के हल प्रयोग किये जाते हैं, एक तो देशी नमूने का और दूसरा पश्चिमी देशों के नमूने का मिट्टी फट हल। देशी हल फाचर के आकार का बना हुआ होता है जिसमें लोहे या इस्पात की फाल जुड़ी रहती है जो भूमि में जुताई करती है। हल के साथ हलस लगी रहती है जिसे जूए के साथ जोड़ दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक हैंडिल भी हल से जुड़ा रहता है जिसको पकड़ कर हल चलाया जाता है और जो हल का निर्देशन करता है।

हल और उसकी फाचर दो हिस्से जोड़कर बनाये जाते हैं। लोहे की फाली नर्म लोहे के सरिये की बनाई जाती है जो भूमि को जोतने और लकड़ी के फाचर को टूटने फूटने से बचाती है। हल की लम्बाई 9 से 15 फुट तक होती है। हत्थे को हलस के साथ पिछले भाग की ओर जोड़ा जाता है। देश में 90 प्रतिशत हल देशी होते हैं। इनकी बनावट प्रायः एक जैसी होती है। परन्तु इनके आकार और भार में काफी अन्तर होता है जो स्थानीय भूमि के प्रकार, जुताई की दशाओं और हलों को खींचने वाले पशुओं की ऊंचाई के अनुकूल होते हैं। इनमें 60 से 400 पौंड भार खींचने की क्षमता होती है।

लगभग प्रत्येक राज्य के हर जिले में भी हलों के नमूने, भार और हलस की लम्बाई आदि में थोड़ी बहुत भिन्नता पाई जाती है। शुष्क भूमि के खेतों में प्रयोग किये जाने वाले हल लम्बे और अधिक गहरी जुताई करने वाले होते हैं। नमीदार खेतों में तिकोने या मध्यम चपटी तली वाले और बत्तख के पंजे जैसी छोटी फाचर वाले हल इस्तेमाल किये जाते हैं; ये चपटी तली वाले हल भूमि में कम गहराई तक घुसते हैं। इसलिए इन में खींचने की क्षमता कुछ कम होती है। ये विशेषतः धान की गीली भूमि के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। बंगाल, उड़ीसा और कुर्ग के पहाड़ी भागों में इनका आम चलन है। धान की भूमि को जल्दी तैयार करने के लिए दक्षिणी भारत के चावल पैदा करने वाले कुछ क्षेत्रों में घूमने वाले ब्लैड पेडलों वाला पडलर (जुताई का यन्त्र) प्रायः इस्तेमाल किया जाता है। इसी प्रकार धान के खेतों में खाद देने के लिए

बरमी सेटन टाइप के डिस्क ट्रैम्पलर से हरी खाद को रौंदा जाता है। इससे समय की काफी बचत भी होती है।

अधिक भारी हल भारी मिट्टी वाली भूमि के लिए विशेष उपयुक्त हैं। बुन्देलखंड और शोलापुर या दक्षिण के भारी हल जो कभी-कभी 200 पौंड से भी भारी वजन के होते हैं, ऐसी भूमि में चलाये जाते हैं जहां गहरी जड़ों वाली और हानिकारक जंगली खरपतवार बहुत होती है। ये हल 9 से 12 इंच तक गहरे चलाये जाते हैं और इनको बैलों की तीन या चार जोड़ियां खींचती हैं। परन्तु इन हलों को प्रायः पसन्द नहीं किया जाता और इनके स्थान पर करीब-करीब सभी जगह मिट्टी पलटने वाले लोहे के भारी हलों का प्रयोग किया जाता है।

बखर या ब्लैड हैरो : यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागों में जहां नमी बनाये रखना एक महत्वपूर्ण समस्या है, वहां स्वीप और चीजल गोड़कों के प्रयोग पर बहुत बल दिया जाता है। ये हमारे देश के बखर या ब्लैफ हैरो जैसा ही काम देते हैं। मिस्र और पश्चिमी एशिया के हल भी बहुत कुछ भारतीय हलों से मिलते जुलते हैं।

मिट्टी पलट हल में एक सीधे फाल की प्लेट होती है जिसके पीछे एक मुड़वां इस्पात का मौल्ड बोर्ड होता है। यह बोर्ड फाली से खोदी जाने वाली मिट्टी को उठा कर पलट देता है। यह सारा हल धातु का बना होता है और ड्राफ्ट पाल या जंजीर द्वारा जुए से जोड़ दिया जाता है। यह हल उस भूमि में काम आते हैं जहां प्रत्येक हरी खाद को और सतह पर उगने वाले घास-फूस को मिट्टी
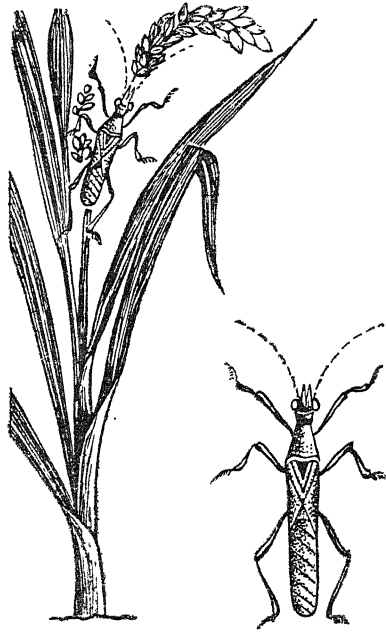
धान को सबसे अधिक हानि गंधी कीड़े
से पहुंचती है

दीमक परिवार

1. अंडों का ढेर
2. एक अंडा
3. कमेरी दीमक
4. सिपाही दीमक
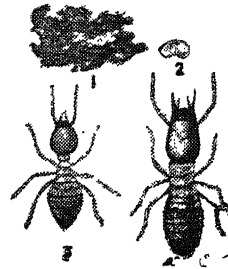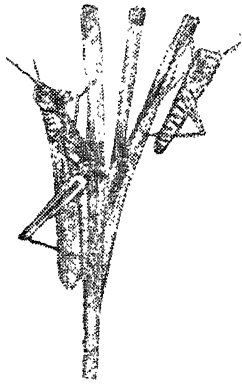
टिड्डियाँ पेड़ों और फसलों
को भारी हानि
पहुंचाती हैं
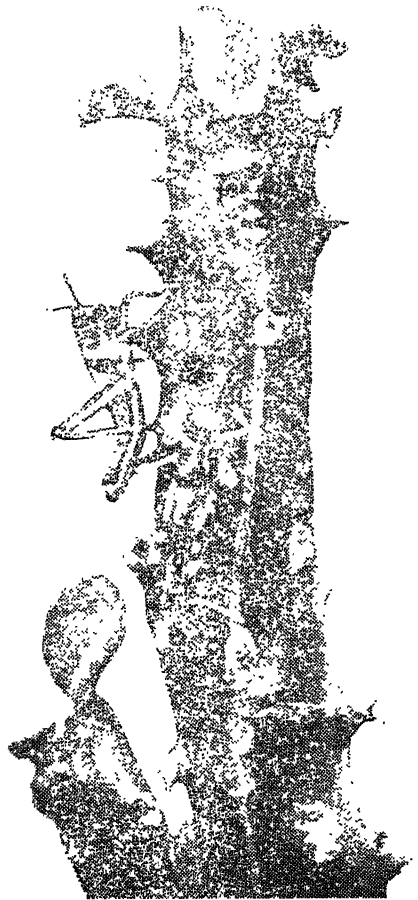
में ही दबा दिया जाता है ताकि उसका जल्दी विघटन हो सके। भारी वजन के मिट्टी पलटने वाले हल न केवल अधिक महंगे ही होते हैं वरन् इनको चलाने के लिए तगड़े पशु भी चाहिएं। देश के कई भागों में धीरे-धीरे अब हल्के वजन के मिट्टी पलटने वाले हल इस्तेमाल होने लगे है। ये हल या तो पूरे ही ढले-लोहे के बने होते हैं या कुछ लोहे के और कुछ हल्के इस्पात के। अब बाजार में इनके अनगिनत नमूने मिलते हैं। हर तरह की भूमि और दशा के अनुकूल अलग-अलग हल हैं। इनकी कीमत भी इतनी कम हो गई है कि अब इनको किसान आसानी से खरीद सकता है।

पशुओं का शारीरिक भार और खींचने की क्षमता : हलों को खींचने में पशुओं की जो शक्ति लगती है उसका पशु के शरीर भार, काम करने की विधि, यंत्र को झटका देकर ऊपर उठाने और जुए या लगाम के साथ गहरा सम्बन्ध है। यह अनुमान लगाया गया है कि बैल अपने भार का 1/12 से 1/15 तक भार खींचने की क्षमता रखता है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि बैलों में इतने भार को खींचने की शक्ति है। बल्कि असलियत यह है कि उतना भार खींचने में हल या यंत्र सहायक हैं। जुए और हल को बैलों से जोड़ने के तरीके में सुधार करने से बैलों की शक्ति का अधिक कुशलतापूर्वक उपयोग हो सकता है।

जुआ और लगाम : साधारणतया गाड़ी खींचने वाले अकेले बैल के लिए एक लकड़ी का जुआ होता है। इसके दोनों ओर बांस की खूंटियां जुड़ी होती हैं। तेल की घानी में काम में करने वाले बैलों के लिए रस्सी या चमड़े की लगाम प्रयोग की जाती है। दो

बैलों वाले जुए बबूल, शाखू या साल की लकड़ी के बने होते हैं। इनके अनेक नमूने होते हैं। ऐसे जुए का भार 16 से 35 पौंड तक होता है। लकड़ी की किस्म और बैलों की खींचने की शक्ति और क्षमता के अनुकूल जुए का अलग-अलग वजन होता है। फिर भी अधिकतर जुओं की क्षमता 100 से 120 पौंड तक भार खींचने की होती है। देशी उपकरणों के लिए इतनी ही क्षमता आवश्यक है।

एक मामूली देसी हल और बैलों की जोड़ी प्रथम बार एक दिन में 0.2 से 0.3 एकड़ तक, मिट्टी की किस्म के अनुसार, भूमि की जुताई करते हैं। दूसरी बार या उसके बाद उसी भूमि में उसी हल से जोतने पर प्रतिदिन 0.5 से 1 एकड़ भूमि जोती जा सकती है। औसत दर्जे के आधार के मिट्टी पलट हल से जलोढ़ भूमि में आधे से एक एकड़ भूमि की जुताई हो जाती है और कपास की काली (चिकनी) भूमि में इससे कुछ कम। अधिक खरपतवार वाली भूमि में गहरी जुताई करने के कारण और भी कम भूमि जोती जाती है।

हैरो तथा गोड़क : मध्य, पश्चिमी और दक्षिणी भारत की कपास की काली मिट्टी में खरीफ तथा रबी दोनों फसलों की पहली जुताई में हलों के स्थान पर बखर (मराठी) या कुन्ते (कन्नड़ में) या गुंतक (तामिल तेलगू में) का इस्तेमाल किया जाता है। इस यन्त्र का ढांचा लकड़ी का बना होता है। यह चोकोर या अष्टभुज के आकार का होता है। इसकी लम्बाई 3 से 6 फुट, चौड़ाई 12 से 15 फुट और मोटाई 3 से 4 इंच होती है। मुख्य भाग में नरम

इस्पात का एक भारी डल्वे लगा होता है जिसकी लम्बाई 2 इंच से 4 इंच और चौड़ाई 2 इंच से 3 इंच होती है। यह ब्लेड (फलक) अन्दर की तरफ दो तिरछी लकड़ियों की खूंटियों से जुड़ा रहाता है। ये खूंटियां दोनों सिरों पर होती हैं। जब फलक खेत में चलाया जाता है तो यह 3 से 4 इंच गहराई तक खोदता चला जाता है। भूमि की गहराई तक घास फूस का सफाया कर देता है। यह कपास की काली मिट्टी के लिए सबसे सस्ती और हल्की जुताई का एक मात्र साधन है। मद्रास के कुछ भागों में इस यन्त्र का, जिसे वहां गुन्तक कहा जाता है, सुधार किया गया है। वहां इस यन्त्र में मुलायम इस्पात का और कुछ गोलाई लिए फलक का प्रयोग हो रहा है।

कुछ फार्मों में पश्चिमी नमूने के नुकीले या लोहे की कीलों वाले हैरों भी प्रयोग में लाए जाते हैं। हैरो लकड़ी के एक फ्रेम का बना होता है। इसमें लोहे की नोकदार कील लगी होती है। यह पंजाब के कुछ भागों में बहुत लोकप्रिय है। 'चेन हेरो', 'स्प्रिंग टाइंड' (लचकदार) हैरो और डिस्क हैरो बहुत से राज्यों के सरकारी फार्मों में प्रयोग किए जाते हैं। इनसे एक दिन में दो तीन एकड़ भूमि की जुताई हो सकती है। ये मेंड और कूंड बनाने के लिए भी उपयोगी रहे हैं।

पटेला या सुहागा : भूमि के ढेलों को तोड़ना और मिट्टी को समतल बनाना इसका काम है। मिट्टी बिठाने और ढेलों को तोड़ने के लिए पाटा फेरने का आम प्रचलन है। कुछ स्थानों पर इसके लिए लकड़ी या पत्थर का पाटा और नुकीले तिफन हैरो प्रयोग में लाए

जाते हैं। पाटा एक बड़ा तख्ता या लकड़ी का भारी शहतीर होता है। इसके सामने की ओर दो जंजीरें होती हैं। वे जुए के साथ दोनों ओर जोड़ दी जाती हैं। इसको एक जोड़ी बैल खींचते हैं। काम करते समय किसान इस पर खड़ा हो जाता है। इससे भार में वृद्धि होती है। यह पाटा किसी सीमा तक भूमि को समतल भी करता है। कुछ क्षेत्रों में हैड लेवलर या जंदरा भी काम में लाया जाता है। इसमें 3-4 फुट लम्बा तख्ता लगा रहता है जो पांच इंच चौड़ा और एक इंच मोटा होता है। इसके मध्य में एक 5 फुट लम्बे बांस का डंडा और सामने दो कड़े लगे होते हैं। इनमें रस्सी को बांध दिया जाता है। पाटा और भी अनेक प्रकार के होते हैं।

मेड़क : मद्रास में बैलों से चलाए जाने वाले यन्त्रों का विकास किया गया था। इस यंत्र के द्वारा मेड़ें बनाकर बड़े खेतों को छोटी-छोटी क्यारियों में बांटा जाता है और इस प्रकार मिट्टी और पानी का संरक्षण किया जाता है। इस यन्त्र में 3 से 5 फुट तक लम्बे और 4 से 6 इंच तक चौड़े बीच में दो फलक लगे होते हैं। अच्छी प्रकार से जुताई किए गए खेत में इसे अब आगे की ओर खींचा जाता है तो यह सामने वाले सिरे पर फालतू मिट्टी जमा करता है और वह मिट्टी पीछे निकल कर मेड़ बनाती है।

जहां कहीं भी बुआई यन्त्र से की जाती है वहां पर आमतौर से बोआई पुराने ढंग के बीजण यन्त्रों की सहायता से होती है। सबसे साधारण बीजक यंत्र वह है जिसमें एक साफ खोखला बांस या धातु की नली होती है जिसे मोघा, सरोता या सद्दी कहते हैं। कतार वाले बीजण यन्त्र में केवल एक बांस की नली होती है और
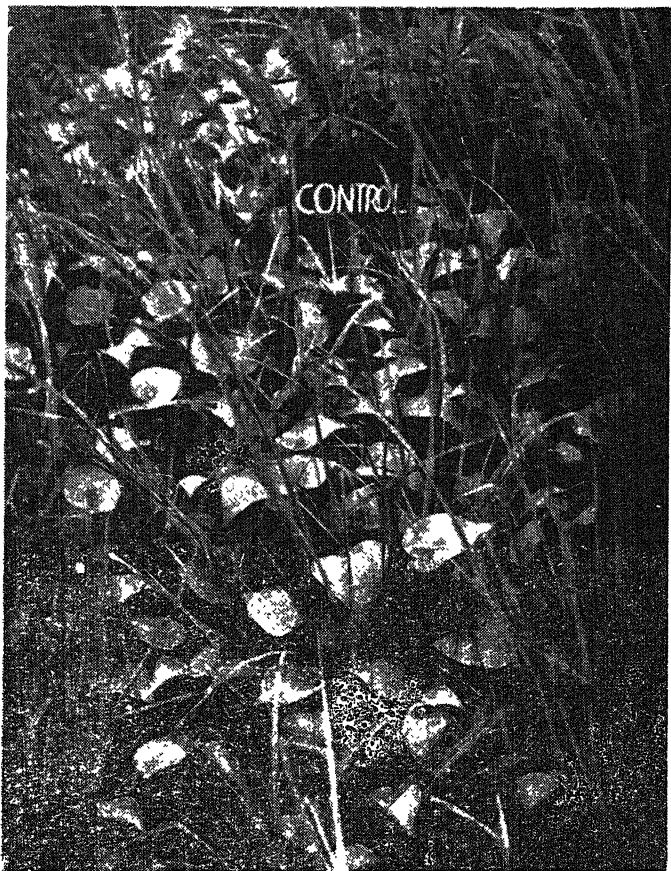
यदि खेत की समय पर निराई न की जाए तो खरपतवार तेजी से बढ़कर फसल के पौधों पर छा जाते हैं और उनको बढ़ने नहीं देते
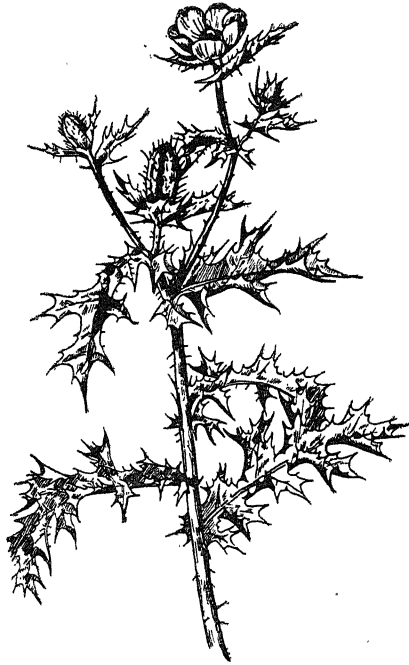
फसलों को सबसे अधिक हानि पहुँचाने वाला
खरपतवार पोहली

उसकी लम्बाई 3-4 फुट और व्यास डेढ़ से दो इंच का होता है और इसके ऊपरी सिरे पर एक कीप की तरह चौड़े मुंह का पात्र सा जुड़ा रहता है जिसमें हाथ से बीज डाला जाता है। मोघा को देसी हल या ब्लेड हैरो के साथ रस्सी या डोरी से बांध देते हैं। जब हल से जुताई की जाती है तो मोघे में डाला हुआ बीज उचित गहराई पर गिरता है। मालवा में बांस की नली जिस पर लकड़ी का कीप होता है, देशी हल से बांध दी जाती है। इससे अधिक गहराई तक कूंड बनता है। यह कपास बोने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। पंजाब में एक पंक्ति में बोने वाला ड्रिल बनाया गया है इसे 'पोर हल' कहते हैं। हल्के मोल्ड बोर्ड वाले हल में धातु की नली, और मार्कर जोड़ कर सुधारा गया है। यह कपास के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

मध्य प्रदेश के कुछ भागों में बखर के साथ दो पृथक सरौते बांध दिए जाते हैं। प्रत्येक को एक एक मजदूर पकड़े रहता है। इस प्रकार एक ही बार दो पंक्तियों में बीज बोया जाता है। बम्बई, मालवा, आन्ध्र, मैसूर और मद्रास में दो पंक्तियों में बीज बोने वाले यन्त्र का आमतौर से इस्तेमाल होता है जिन्हें अलग अलग नामों से पुकारा जाता है, जैसे दुफन, गोरू या गोरी कलप्पाई।

हल से दो लम्बी कीलें जुड़ी होती हैं, ये कीलें छोटे हल की तरह होती है। इनमें से हर एक में छेद बना होता है। इन छेदों में बांस या धातु की नलियां लगी होती हैं जिनके ऊपरी हिस्से ऊपर जाकर मिलते हैं जहां धातु या लकड़ी का चौड़ा बरतन लगा होता है। जब यह यंत्र खेत में चलता है तो यह बरतन में डाले

गए बीज नली से होते हुए छोटे हलों द्वारा बनाए गए कूंडों में पड़ते रहते हैं। खानदेश और मैसूर के कुछ भागों में दो कतारों वाले बीज बोने की नलियों और ट्यूब को हटाकर दो अलग अलग मौवे बांध दिए जाते हैं। छोटे दाने वाली फसलों को बोने के लिए निमाड़ और पश्चिम और दक्षिण के कई हिस्सों की हल्की मिट्टियों में तीन कतारों या छः कतारों में बीज बोने वाले यन्त्र काम में लाए जाते हैं। इन यन्त्रों से तीन या छः पंक्तियों में जिनके बीच की दूरी बराबर होती है, एक साथ बीज गिरता है। मैसूर में रागी की बोआई 6 से 12 कतारों में पुराने ढंग के बीज बोने के यन्त्रों से होती है।

निराई यन्त्र : देश के बहुत से भागों में खुरपी से निराई की जाती है। पंजाब का खुरपा करीब करीब खुरपी की तरह होता है पर वह आकार में कुछ बड़ा होता है। हाथ से खरपतवार निकालने और छिटक कर बोई हुई कपास और ईख के खेत में गहरी गुड़ाई के लिए पंजाब में एक दूसरा यन्त्र अधिक प्रचलित है। इसे कसौला कहते हैं। इसमें तिकोना लोहे का फलक होता हैं। इसकी तली 3-4 इंच चौड़ी और इसकी अगल बगल की लम्बाई 3 से पांच 5 इंच होती है। यह एक लम्बे बांस के डंडे से जुड़ा रहता है। यह मिस्र में इस्तेमाल होने वाले औजार "फास" से मिलता जुलता है। यह खरपतवार निकालने के काम आता है। मद्रास में गुड़ाई मम्पोटी या कुदाल से की जाती है।

उत्तर भारत में पंक्तियों में बोई हुई फसलों की गुड़ाई हल्के देसी हलों और बैलों से चलाये जाने वाले कई कीलों वाले गोड़क

यंत्रों द्वारा की जाती है। इन स्थानीय गोड़कों में तीन या अधिक मोड़ होते हैं इसके पीछे की खुरचनी लकड़ी के मुख्य भाग से जुड़ी रहती है। इसके साथ एक हत्था और खींचने की हलस भी होती है। इस यंत्र की चौड़ाई फसलों की कतारों के बीच के फासले के हिसाब से रखी जाती है। ऐसा एक यन्त्र और एक जोड़ी बैल प्रतिदिन दो से तीन एकड़ तक भूमि की गुड़ाई कर सकते हैं।

एक बैल वाले गोड़क : इस गोड़क को बम्बई में कोल या मध्य प्रदेश में दोड़िया मैसूर में बादे कुंटी आन्ध्र प्रदेश और मद्रास में डनथालू कहते हैं। यह यंत्र छोटे फलकों वाले हैरो के जैसे आकार का होता है। इसके फलक 6 से 10 इंच तक लम्बे और एक से डेढ़ इंच तक चौड़े होते हैं। इनका खिंचाव इतना कम होता है कि एक जोड़ी बैल 2 से 4 तक गोड़कों को खींच लेते हैं।

हाथों से चलाए जाने वाले प्लेनेट जूनियर व्हील गोड़क कुछ सरकारी फार्मों में अधिक प्रयोग किए जाते हैं और इसी नमूने के बैलों से चलाए जाने वाले बड़े गोड़क कुछ सम्पन्न किसानों द्वारा फार्मों में प्रयोग किये जाते हैं। ये यंत्र मेंड़ बनाने वाले, मिट्टी चढ़ाने वाले और निराई के उपयंत्रों सहित व्यापक रूप में मिलते हैं। इस यन्त्र से एक दिन में एक या दो एकड़ भूमि की जुताई की जा सकती है। यह यन्त्र अब अनेक फार्मों और कम्पनियों द्वारा देशी रीति से बनाए जाने लगे हैं। जापानी चावल लैंड वीडर और भारतीय हस्त चक्री गोड़क अभी हाल में प्रचलित किये गये हैं। ये पानी के अन्दर पंक्तियों में वोये गए धान के पौधों की निराई में बहुत सफल सिद्ध हुए हैं। हाल ही में मद्रास के कृषि विभाग ने एक चक्री

वीडर बनाया है। इसके साथ खाद देने वाला एक यन्त्र भी जुड़ा हुआ है।

फसल कटाई, गहाई और ओसाई के यन्त्र

दरांती फसल काटने के काम आता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता इसका सस्ता होना है लेकिन इसमें मेहनत अधिक लगती है और गति कम रहती है। यूरोपियन 'स्वेथी' नामक यन्त्र बहुत तेजी से काम करता है। मशीनों या पशुओं द्वारा कटाई यन्त्रों का प्रयोग बहुत मंहगा पड़ता है और देश में छोटे-छोटे खेतों के लिए अनुपयुक्त और मंहगा पड़ता है।

देश के कुछ भागों में पत्थर के बेलन लगभग $1\frac{1}{2}$ फुट लम्बे, 2 फुट व्यास के होते हैं। लोहे की तवे वाले आलवाई गहाई यत्रों का प्रयोग होता है। इस यंत्र में तीन 20 दांतेदार तवे लगे होते हैं। ये तवे इस तरह एक फ्रेम में लगे होते हैं जिसमें उनके ऊपर चालक बैठ सकें। इनके द्वारा फसलों की गहाई न केवल सस्ती पड़ती है अपितु अन्य विधियों की अपेक्षा कुशलतापूर्वक और जल्दी भी होती है। जापानी पैडल गहाई यंत्र छोटे फार्मों में धान की फसलों के लिए बनाए गए हैं। इस समय भारत की अनेक कम्पनियां इनको तैयार कर रही है। यह आठ घंटे में 700 पौंड धान की गहाई कर देते हैं।

सफाई किएहुए ये बिजली से चलाए जाने वाले जापानी गहाई यन्त्र एक घंटे में 108 पौंड धान निकालते हैं। इस यन्त्र में दाना

बहुत ही कम टूटता है और भूसी को एक दम चारे के लिए उपयोग में लाया जा सकता है।

फार्मों में प्रयोग होने वाली अन्य मशीनें

गन्ना पेरने के कोल्हू : ईख का उत्पादन करने वाले अपनी सारी फसल को गन्ने के रूप में नहीं बेच पाते। उन्हें कुछ भाग का गुड़ बनाना पड़ता है। पुराने कोल्हुओं में लकड़ी के दो रोलर होते हैं जिनसे पूरा रस नहीं निकल पाता। अब नये ढंग के कोल्हू में लोहे के तीन रोलर होते हैं। यह बैलों द्वारा चलाए जाते हैं। प्रगतिशील फार्मों में सहकारी और कृषि विभागों के आधीन गन्ना पेरने की बिजली से चलने वाली मशीनों को प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार बढ़िया गुड़ पकाने वाली उन्नत भट्टियां और अधिक दक्षतापूर्ण रस पकाने के कढ़ावों को पुराने नमूनों, जिनकी क्षमता इनसे कहीं कम होती है, की जगह प्रयोग में लाया जाने लगा है।

कुट्टी काटने वाले उपकरण : यद्यपि देश के कुछ भागों में अभी तक बिना कटा या गंडासों द्वारा हाथ से काटा हुआ चारा पशुओं को खिलाया जा सकता है परन्तु नियमित रूप से कुट्टी काटने वाले यंत्रों का प्रयोग बहुत तेजी से बढ़ रहा है। विशेषकर पंजाब और उत्तर प्रदेश में भारत की बनी मशीनों का मूल्य बहुत उचित है। ये हाथों से या यांत्रिक शक्ति से चलाए जाते हैं और इनमें से बेकार स्वचालित है। यदि ये बिजली से चलाये जायें तो इनकी क्षमता दुगनी हो सकती है।

धान कूटने वाले और गिरी निकालने के यंत्र : बड़े पैमाने पर खेती करने वाले किसानों के यहां धान कूटने के और मूंगफली की गिरी निकालने वाले यंत्र भी पाए जाते हैं। जापानी नमूने के धान कूटने वाले यंत्र बनाने की कोशिश हो रही है। गिरी निकाल के यंत्र भी बनाए जाने लगे हैं।

कृषि का यन्त्रीकरण

इस बात को आमतौर पर सभी स्वीकार करते हैं कि पश्चिम के प्रगतिशील देशों में खेती की पैदावार अधिक होने का एक मुख्य कारण यह है कि वहां खेती के कामों के लिए विभिन्न प्रकार की मशीनों और यंत्रों का इस्तेमाल बहुत अधिक किया जाता है। पश्चिमी देशों में खेती बाड़ी के काम के लिए मशीनों के इस्तेमाल का एक बड़ा कारण यह रहा है कि वहां खेती के काम करने वाले मजदूरों की बहुत कमी है और वहां उद्योग धंधों का विकास बहुत तेजी से हो रहा है। भारत में मजदूरी दूसरे देशों के मुकाबले में कुछ सस्ती है और उद्योग धंधे भी अधिकांशतः पिछड़े हुए हैं। भारत में खेती के यंत्रीकरण में ये दो कारण बड़ी बाधाएं हैं। फिर भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत में भी खेती के विकास के लिए खेती के कुछ कामों में मशीनों का इस्तेमाल बहुत जरूरी है।

मोटे तौर पर यंत्रीकरण का मतलब ये है कि मेहनत और मजदूरी में बचत करने के लिए उपयोगी यंत्रों या मशीनों का इस्तेमाल किया जाय। भारी सामान को ढोने के काम का यंत्रीकरण

करने में धुरे और पहियों का इस्तेमाल एक क्रांतिकारी कदम कहा जा सकता है। भारत में किसान सिंचाई के लिए पानी निकालने के लिए डीजल या विजली से चलने वाले पम्प इस्तेमाल कर रहे हैं और इस तरह यंत्रीकरण की विधि पहले से ही शुरू हो गई है। यह साफ है कि इस प्रकार के प्रयोग से खाद्य पदार्थों की बढ़ोत्तरी हुई है। यद्यपि आगामी कुछ वर्षों में भारत की खेती मुख्यतः बैलों पर ही आश्रित रहेगी फिर देश की कृषि व्यवस्था में ट्रैक्टर तथा सम्बन्धित यंत्रों का निश्चित ही उल्लेखनीय स्थान रहेगा।

निम्नलिखित क्षेत्रों में ट्रैक्टरों से ही खेती का काम करने में लाभ रहेगा और इन कार्यों के लिए ट्रैक्टर का महत्व कभी कम नहीं होगा। इन क्षेत्रों में हाथ से काम करना अनुपयोगी रहेगा तथा मंहगा भी पड़ेगा।

1—जंगलों की सफाई और परती जमीन को खेती योग्य बनाने में।

2—गहरी जड़ों वाली घास तथा कान हरियाली या दूब वाली जमीन की शुष्क ऋतु में गहरी जुताई से सुधारना।

3—भूमि को समतल करना, बांध तथा रजबाहों का बनाना, भूमि तथा पानी के कटाव का बनाना।

4—गहरी जुताई, भूमि की साफ सुथरी कटाई तथा अन्य काम।

5—विशाल सहकारी या सामूहिक फार्मों पर।

ट्रैक्टर : कृषि के काम में आने वाले ट्रैक्टरों के प्रमुख तीन नमूने हैं।

नमूने	अनुमानित हार्स पावर
1—घिसटने वाले	खेती के नमूने के 60 हा० पा० तक
2—चार पहिये वाले	भूमि पर चलने वाले अनेक हा० पा० तक
3—छोटे कामों के लिए उपयुक्त	10 से 15 हा० पा० तक
(क) मोटर गोड़क	
(ख) दो पहियों के हल जोतने वाले ट्रैक्टर	
(ग) वाटिका ट्रैक्टर	1 से 17 हा० पा० तक
(घ) बेबी ट्रैक्टर	

घिसटने वाले नमूने के ट्रैक्टर भारी काम के लिए उपयोगी हैं खासतौर पर गहरी जोत, नाली बनाना और भूमि के उलटने आदि के कार्यों के लिए। इस प्रकार के ट्रैक्टर कड़ी भूमि वाले बड़े फार्म के लिए अधिक उपयोगी हैं। ये फार्म के साधारण कामों के अतिरिक्त जुताई, गुड़ाई, बुआई, पंक्तियों में बोई जाने वाली फसल के लिए, कटाई बुवाई तथा पट्टे से खींचे जाने वाले यंत्रों के लिए उपयोगी हैं। पंक्तियों में बोई जाने वाली फसल के काटने के लिए मशीन के सामने एक पहिया या साथ-साथ जुड़े दो पहिये लगा दिए जाते हैं। इस विधि से ट्रैक्टरों को कुशलतापूर्वक उगने वाली पंक्तियों के बीच चलाया जा सकता है। पिछले पहिये भी साधारण ट्रैक्टरों

से कुछ तंग होते हैं। ऊंची खड़ी फसल के लिए विशेष प्रकार के यंत्र भी उपलब्ध है। विशेषकर 40 हार्स पावर से ऊपर के पहिये वाले स्टैंडर्ड ट्रैक्टरों के लिए हाफ ट्रेक तथा फुट ट्रेक रूपान्तर भी उपलब्ध हैं। ये नमूने कठिन परिस्थितियों में भी काम कर सकते हैं।

छोटे कार्यों के लिए ट्रैक्टर : प्रचलित ट्रैक्टर के पूर्ण उपयोग के लिए फार्म का आकार प्रति हार्स पावर पर प्रायः 3 से 5 एकड़ तक होना चाहिए। अतः प्रचलित छोटे-छोटे आकार के ट्रैक्टर से पूर्ण आर्थिक लाभ लेने के लिए कम से कम 30 से 60 एकड़ भूमि होनी चाहिये। इससे छोटी भूमि के लिए प्रचलित ट्रैक्टर मंहगा पड़ने के साथ-साथ कार्य गति में भी व्यवधान उत्पन्न करेगा। पश्चिमी देशों में अनेक वर्षों से कम हार्स पावर वाले ट्रैक्टर नर्सरी, बगीचों, बाग आदि में प्रयोग में लाये जाते हैं। पिछले कुछ वर्षों से इन ट्रैक्टरों से परिवहन के अतिरिक्त फार्म के दूसरे अनेक काम भी सफलतापूर्वक किए जाते हैं। इन ट्रैक्टरों में मुख्य कमी यह थी कि इनका प्रयोग केवल कृषि के काम तक सीमित था। ये परिवहन तथा अन्य कामों के लिए उपयोगी नहीं थे। अब इसमें अनेक सुधार कर लिए गए हैं। इनमें अनेक यन्त्र जोड़कर उन्हें इस योग्य बना लिया गया है कि उन्हें वर्ष भर काम में लाया जा सकता है। अब ये इस स्तर तक सुधार लिए गए हैं कि इनको छोटे फार्मों के लिए भी काम में लाया जा सकता है। यदि खेतों में काफी नमी हो तो इनसे रोपाई का काम भी निकल सकता है। ऐसे यंत्र हजारों की संख्या में काफी सालों से काम में लाये जाते रहे हैं।

11.

सिंचाई : यन्त्र और विधियां

सिंचाई के मुख्य तीन तरीके होते हैं : (1) भूतल सिंचाई, (2) भूगत सिंचाई और (3) छिड़काव द्वारा सिंचाई।

सिंचाई के तरीके

भूतल सिंचाई : इस विधि में खेत में पानी फैल जाता है। यह सिंचाई चार प्रकार से की जा सकती है : (1) सैलाब विधि, (2) क्यारी विधि, (3) थामला विधि और (4) कूंड विधि।

1. **सैलाब विधि :** इस विधि से पानी की नाली खेत में खोल दी जाती है, ताकि पानी स्वयं चारों ओर फैल सके। सिंचाई का यह सबसे अवैज्ञानिक व निकृष्ट तरीका है। क्योंकि इसमें पौधों को कुल पानी का बीस प्रतिशत ही मिल पाता है। शेष जल भाप बनने, रिसने आदि में नष्ट हो जाता है।

2. **क्यारी विधि :** इस तरीके के अन्तर्गत खेत में छोटी-छोटी क्यारियां बना दी जाती हैं। इन क्यारियों को पानी से भर दिया जाता है। छोटी-छोटी नालियां द्वारा एक क्यारी दूसरी से जुड़ी रहती है। एक क्यारी का पानी इन्हीं नालियों द्वारा दूसरी क्यारी में पहुँचता है। इस ढंग की सिंचाई के लिए समतल भूमि की जरूरत होती है। पहले तरीके की अपेक्षा यह तरीका अधिक अच्छा है। इससे पानी का वितरण भी समान होता है।

3. थामला विधि : यह तरीका फलों के बागों अथवा छोटे खेतों के लिए अच्छा है। इसमें पेड़ों के चारों ओर 6 से 9 इंच ऊंचाई के थामले बना दिये जाते हैं। इस तरीके के अन्तर्गत भी समतल भूमि की आवश्यकता होती है और यह सब किस्म की मिट्टियों के लिए उपयुक्त होता है।

4. कूंड विधि : इस तरीके के अन्तर्गत पौधों की कतारों के बीच छोड़े गये कूंड में पानी छोड़ दिया जाता है। ऐसा करने से पानी पौधों के तने को नहीं छूता और उसका अपव्यय नहीं होता। यह तरीका ढलान वाले क्षेत्रों के लिए उपयोगी है।

भूगत विधि : इस प्रकार की सिंचाई वहीं सम्भव है जहां पर जड़ क्षेत्र के नीचे की मिट्टी अभेद्य होती है। इसके लिए अभेद्य तल तक नालियां खोदी जाती हैं और पानी उन तक पहुँचाया जाता है। इसकी सिंचाई कृत्रिम भी होती है और प्राकृतिक भी। कृत्रिम सिंचाई में झीने नल जड़ क्षेत्र के नीचे मिट्टी में बिछाये जाते हैं और इनमें पानी प्रवाहित किया जाता है। इस तरीके से पानी की बहुत बचत होती है। किन्तु इस प्रकार की सिंचाई के लिए एक विशेष प्रकार की मिट्टी का होना जरूरी है। इसके अतिरिक्त, इस तरीके से मिट्टी के लवणमय अथवा क्षारीय होने का खतरा भी रहता है तथा भारी रिसन के कारण आस-पास की भूमि को भी काफी नुकसान पहुँचने आशंका रहती है।

छिड़काव विधि : यह तरीका ऊबड़-खाबड़ भूमि और ऐसे क्षेत्रों के लिए अधिक उपयोगी है, जहां भू-क्षरण की आशंका हो।

सिंचाई का यह ढंग पानी का समान वितरण रखता है और अधिकांश किस्म की मिट्टी के उपयुक्त होता है। किन्तु यह तरीका बहुत मंहगा पड़ता है।

इस तरीके में पानी को दबाव द्वारा पाइपों में लाया जाता है। फिर ये पानी छिड़कावक की छलनी से तेजी से फुहार बन कर निकलता है। छिड़काव तरीके को चार भागों में बांटा जा सकता है—(1) पावर जैनेरेटर, (2) पम्प, (3) पाइप लाइन और (4) छिड़कावक। पावर जैनरेटर (शक्ति से चालित) बिजली का या मैकेनिकल किसी भी प्रकार का हो सकता है। इसमें पिस्टन वाला पम्प इस्तेमाल करना ज्यादा अच्छा रहता है क्योंकि इससे तरल उर्वरक भी छिड़के जा सकते हैं। जहां पानी गहरा हो वहां टरबाइन पम्प अच्छा रहता है। हरेक छिड़कावक के अपने व्यास, पानी के दबाव और छलनी या फुहारे के आकार के अनुसार गोलाकार क्षेत्र में पानी फेंकता है। फुहारे इस तरह से बने होते हैं कि वे पानी इस तरह से फेंकते हैं कि कोई भी स्थान सूखा नहीं रहता। पानी के छिड़काव की दर एक घण्टे में $\frac{1}{4}$ इंच से लेकर $\frac{3}{4}$ इंच तक है। कुछ इस प्रकार के बाल्व या बटन भी होते हैं जो लेटरल या छिड़कावकों में पानी के दबाव को नियन्त्रित करते हैं तथा प्रत्येक छिड़कावक से निकलने वाली पानी की मात्रा को भी नियमित करते हैं।

चलते-फिरते छिड़कावक यन्त्र में पम्प-सेट को पहियों की गाड़ी पर लाया ले जाया जाता है और पाइप लाइन जमीन के अन्दर रहती है। स्थिर छिड़कावक यन्त्र में बड़े और छोटे दोनों प्रकार के पाइप जमीन पर स्थायी तौर पर गाड़ दिये जाते हैं और जितने क्षेत्र में

सिंचाई करनी होती है उतने में घूमने वाले छिड़कावकों से वर्षा की जाती है।

छिड़काव पद्धति में एक और भी नया तरीका है। इस तरीके में अलग-अलग फुहारे नहीं होते बल्कि एक लम्बा छेददार पाइप होता है जो पानी के 15 पौंड प्रति वर्ग इंच के हिसाब से चलने पर 60 फुट की चौड़ी धरती को पानी से तर कर देता है।

सिंचाई के पानी को नापना

सिंचाई के पानी को निम्न हिसाब से नापा जा सकता है:— (1) क्यूजिक, (2) एकड़ इंच या एकड़ फुट, (3) प्रति घण्टा गैलनों द्वारा।

एक क्यूजिक फुट में 62.4 पौंड पानी होता है। एक एकड़-इंच पानी की तोल लगभग 101 टन होती है। 12 एकड़ इंच एक एकड़ फुट के बराबर होता है। 1 गैलन में 10 पौंड पानी होता है और एक पम्प एक घंटे में 1,000 गैलन पानी निकालता है। एक पम्प एक एकड़-इंच पानी 22.4 घंटे में निकाल पाता है।

सिंचाई चक्र : मिट्टी के गुण और फसल को कितने पानी की जरूरत है- इसी आधार पर सिंचाई चक्र निर्धारित किया जाता है। मिट्टी को कितनी गहरी सतह तक तर करने की जरूरत है यह बात मिट्टी की बनावट के आधार पर निर्भर करती है। औसतन 1 फुट की गहराई तक गीला करने के लिए रेतीली मिट्टी को 0.5 एकड़-इंच, रेतीली दुमट के लिए 1.0 एकड़-इंच, दुमट के लिए

2.0 एकड़ इंच, चिकनी दुमट के लिए 2.5 एकड़ इंच तथा चिकनी मिट्टी के लिए 3.0 एकड़ इंच पानी की मात्रा काफी होती है। मिट्टी को सिंचाई की जब जरूरत होती है जबकि उसमें पाए जाने वाले पानी की 2/3 मात्रा को फसल खींच चुकती है। दुमट मिट्टी को ही लीजिए। इसमें 2 इंच का दो तिहाई हुआ-1.33 इंच यानी इस मिट्टी को **1.33** एकड़-इंच पानी प्रति सिंचाई से मिलना चाहिए ताकि एक फुट की गहराई तक मिट्टी गीली रह सके। फसल में कितने समय के फेर से पानी दिया जाए यह मिट्टी की किस्म के अनुसार व फसल को कितने पानी की जरूरत है, इस आधार पर गिना जा सकता है।

पानी उठाने के यन्त्र

पानी उठाने का सबसे अधिक प्रचलित साधन पिकोटा, मोहते और रहट हैं। पिकोटा को आदमी खींचता है और मोहते तथा रहट को बैल खींचते हैं।

पिकोटा : (ढेंकुली) यह एक ऐसा तरीका है जिसमें एक लकड़ी की शहतीर कुएं के नजदीक सीधे गाढ़े हुए खम्बे पर चढ़ाई जाती है। शहतीर के एक कोने पर एक लम्बी रस्सी बांधी जाती है, जिसमें एक बाल्टी लटकाई जाती है और शहतीर के दूसरे कोने पर संतुलन बनाये रखने के लिए कोई भारी पत्थर बांध दिया जाता है। जिन कुओं की गहराई लगभग 15 फुट होती है उनके लिए पिकोटा उपयुक्त है। बाल्टी में लगभग 2 से 6 गैलन पानी आता है और

एक घंटे में करीब 1,500 से 2,000 गैलन पानी खींचा जा सकता है बशर्तें कि तीन आदमी उस पर काम कर रहे हों।

मोहते : एक बहुत बड़ा चमड़े का बना चरस या भारी लोहे की बाल्टी बैलों के साथ-साथ कुएं में ऊपर-नीचे आती-जाती रहती है। बैल कुएं के नजदीक तैयार की गई ढलवां जमीन पर चढ़ते-उतरते रहते हैं। जिन से चरस या बाल्टी रस्सी की सहायता से ऊपर-नीचे आती-जाती रहती है। रस्सी का एक किनारा बाल्टी से बंधा रहता है और दूसरा किनारा बैलों के जुए से। कुएं पर लकड़ी की गिर्रियां (पुली) लगी रहती है, जिनके ऊपर से होकर रस्सी गुजरती है। प्रायः एक जोड़ी बैल 20 से 30 फुट की गहराई तक पानी निकालने के लिए काफी है। जहां कुएं बहुत गहरे होते हैं वहां पर 2 या 3 जोड़ी बैलों की आवश्यकता पड़ती है। बाल्टी में करीब 40 या 50 गैलन पानी आता है और एक बाल्टी के घंटे में 30 फुट की गहराई से 1,000 से लेकर 1,500 गैलन पानी खींचती है। एक सुधरे हुए किस्म के मोहते में बैल बजाय ढलवां जमीन पर ऊपर नीचे जाने के समतल भूमि पर गोलाई में घूमते हैं। इस नई विधि का सिद्धान्त यह है कि बैल की ताकत एक लकड़ी के शैफ्ट (दंड) के द्वारा एक घूमते हुए ढोल पर लगाई जाती है। इस ढोल पर रस्सी के बट चढ़ते और खुलते रहते हैं। इस रस्सी में बाल्टी बंधी होती है। बाल्टी के ऊपर चढ़ते समय बट चढ़ते हैं और उतरते समय खुलते हैं।

रहट : इसमें लोहे की बनी हुई छोटी-छोटी बाल्टियां लगी होती हैं। और हर बाल्टी में करीब एक गैलन पानी आता है। ये बाल्टियां एक लोहे की पट्टी में लगी होती है, जो कि एक बड़े चक्कर या ढोल के चारों तरफ घूमती रहती है। बैल गोलाई में घूमते हैं और उनके घूमने के साथ-साथ चक्कर या ढोल भी घूमता रहता है इस घूमने की प्रक्रिया में छोटी-छोटी बाल्टियां नीचे कुएं में से भरी हुई आती हैं और ऊपर चक्कर पर आकर पानी उलट देती हैं तथा फिर नीचे चली जाती है। इसकी मदद से 25 से 30 फुट की गहराई वाले कुएं से एक घंटे में करीब 2,500 गैलन पानी खींचा जा सका है।

कुछ नई किस्म की रहटों में अब इंजन भी इस्तेमाल किया जाने लगा है। इस तरह की रहट में नोरिया मुख्य हैं। इसकी सहायता से ज्यादा गहराई से पानी निकाला जा सकता है और बाल्टियां भी बड़ी इस्तेमाल की जा सकती हैं।

मशीन से चलने वाले उपकरण

इन उपकरणों में कई तरह के पम्प हैं जिनमें कुछ इंजनों से और कुछ बिजली की मोटरों से चलाये जाते हैं।

पम्प तीन प्रकार के होते हैं।

1—पिस्टन या पिलंजर पम्प,

2—सेंट्रीफ्यूगल (अपकेन्द्र) पम्प और

3—टरबाइन पम्प।
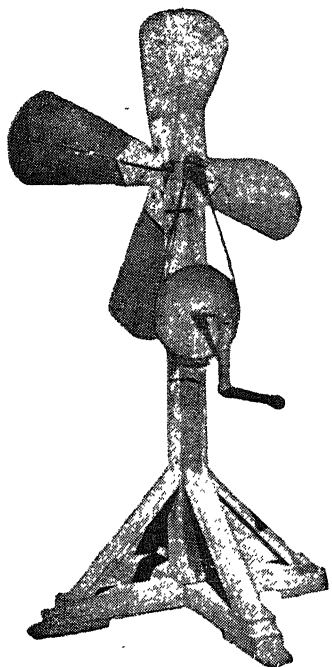
भारतीय कृषि अनुसंधानशाला,
नयी दिल्ली द्वारा तैयार
ओसाई यंत्र (ऊपर)

फार्मों और खेतों में मेंड़ बनाने
का यंत्र (नीचे)
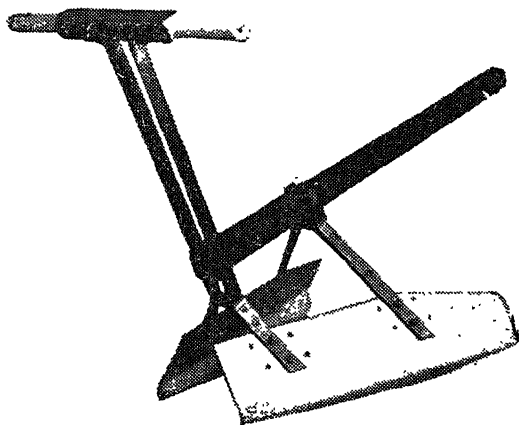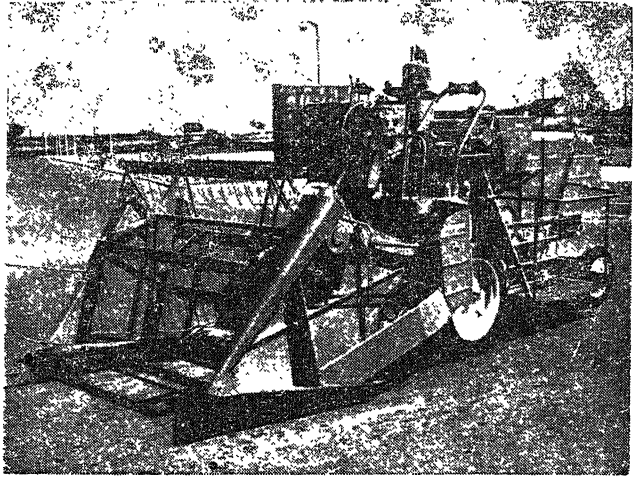
एक साथ कटाई और गहाई करने का स्वचालित हारवेस्टर कम्बाइन यंत्र (ऊपर) और उन्नत किस्म का रहँट (नीचे)
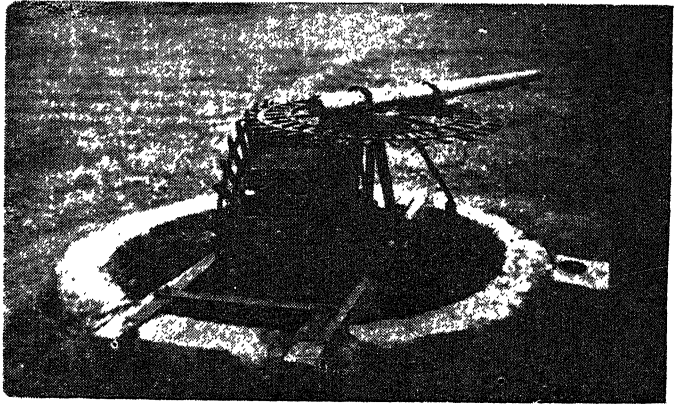
ये तीनों प्रकार के पम्प न केवल पानी उठाते हैं बल्कि पानी को कुछ ऊंचाई तक खींचते भी हैं।

पिस्टन पंप : इसमें एक वायु रहित बैरल (पीपा) लगा होता है, पिस्टन ऊपर नीचे घूमता है। इस तरह का पम्प थोड़े बहाव और अधिक ऊंचाई तक खींचने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। यह पम्प सिंचाई के लिए सेंट्रीफ्यूगल और टरबाइन पंपों जितना प्रयोग नहीं किया जाता।

सेंट्रीफ्यूगल पंप : इसमें एक इम्पैलर लगा होता है जो कि एक वायु रहित ढांचे में घूमता है। इम्पैलर पूरी तरह खुला या पूरी तौर पर बन्द या आधा बन्द भी हो सकता है। सक्सन नली द्वारा पानी इम्पैलर में प्रवेश करता है और तेजी से घूमता हुआ इम्पैलर इसे बड़ी तीव्र गति से आगे फेंकता है। वाल्यूट या ढांचे के अन्दर पानी की ऊंची वेग-उर्जा दबाव शक्ति में बदल जाती है, जो पानी को बाहर निकालने के लिए ऊपर पहुँचा देता है। अधिकांश सेंट्रीफ्यूगल पम्प ऐसे होते हैं जिनमें इम्पैलर पड़ी बुनियाद पर लगा होता है। इसका इस्तेमाल उन स्थानों में किया जा सकता है जहां पर कुओं से पानी समुद्र तल से 22 फुट से अधिक ऊंचा नहीं उठाना होता।

जिन स्थानों की ऊंचाई समुद्र तल से 5 हजार फुट ऊंची हो, वहां केवल 17 फुट की ऊंचाई तक और समुद्र तल से 10,000 फुट ऊंचे स्थानों पर इस पम्प से केवल 14 फुट ऊपर तक पानी

पहुंचाया जा सकता है। इस बात का ध्यान रहे कि पम्प के ढांचे में से हवा बिलकुल निकाल दी जाय।

टरबाइन पंप : टरबाइन पम्प में इम्पैलर एक खड़ी बुनियाद पर आधारित होता है। इम्पैलर किसी ढांचे या बर्तन में घूमता है। इस पूरे यन्त्र को स्टेज कहा जाता है। जहां कुएं बहुत गहरे होते हैं और पानी को बहुत ऊंचाई तक पहुँचना होता है वहां इस प्रकार के दो या अधिक उपकरण सीरीज (series) में लगाये जाते हैं। चूंकि इसके ढांचे या बर्तन हमेशा पानी में डूबे रहते हैं, इसलिए पम्प को वायु रहित करने की आवश्यकता नहीं होती। ये ढांचे इस तरह बनाये जाते हैं कि घूमता हुआ इम्पैलर पानी फेंकता है और यह पानी नलियों के द्वारा ऊपर पहुँचता है और दूसरे उपकरण के इम्पैलर के बीच में पहुँच जाता है।

टरबाइन पम्प तीन प्रकार के होते हैं : सेंट्रीफ्यूगल, मिक्सड-फ़्लो और प्रोपैलर। सेंट्रीफ्यूगल पम्प की धारिता बहुत थोड़ी होती है। प्रोपैलर पम्पों की धारिता अधिक होती है और मिक्सड-फ़्लों की धारिता भी अधिक होती है और वे ऐसे कुओं में लगाये जा सकते हैं जिनमें सेंट्रीफ्यूगल पम्प का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता। पानी में डूबने वाली मोटरों वाले टरबाइन पम्प भी होते हैं। सभी प्रकार के टरबाइन पम्प लम्बे समय तक अच्छा काम देते हैं, बशर्ते कि उनकी देखभाल ठीक तरह होती रहे।

सिंचाई के लिए जिन पम्पों का प्रयोग किया जाता है उनमें शक्ति देने के लिए अलग अलग प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग किया

जाता है और जो (1) हवा, (2) भाप, (3) खनिज तेल और (4) बिजली या दाबधारी वायु से चलते हैं। भाप इंजन हमारे देश में इस काम के लिए बहुत कम इस्तेमाल होता है। डीजल तेल से चलने वाले इंजन या बिजली से चलने वाली मोटरें इसके लिए आजकल काफी इस्तेमाल होती हैं। पर अभी हाल में पवन चक्कियों का विकास भी इस प्रकार किया गया है कि उनको भी पानी उठाने वाले यन्त्रों को चलाने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

पवन चक्की : शक्ति का यह सबसे सस्ता साधन है चूंकि पवन चक्की हवा पर ही निर्भर रहती है, इसलिए यह हवा रुकने पर काम करना भी बन्द कर देती है और इसलिए पानी को संग्रह करके रखना आवश्यक होता है। इससे पैदा की जाने वाली शक्ति बहुत थोड़ी होती है अर्थात् लगभग 1/3 से 3/4 अश्व शक्ति। पवन चक्की चलाने के लिए हवा की गति कम से कम 6 मील प्रति घण्टा होना आवश्यक है। प्रतिदिन औसतन 30,000 गैलन पानी के लिए 70 फुट ऊंचे बुर्ज पर 12 फुट की पवन चक्की लगायी जाती है।

पम्प लगाना : पम्प लगाते समय आगे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए। पम्प उस स्थान के पास, जहां पानी मिलता हो, यथासंभव नजदीक होना चाहिए। इसका आधार इतना पक्का होना चाहिए कि वह झटका सह सके। पम्प और खींचने वाला पट्टा अच्छी तरह सावधानी से बंधा होना चाहिये, सक्शन और पानी पहुंचाने वाले पाइप बिलकुल स्वतन्त्र होने चाहिये ताकि पम्प के ढांचे पर उनका अनावश्यक दबाव न पड़े। पाइप इस तरह लगने

चाहिएं कि उनमें कम से कम मोड़ हो। सक्शन पाइप ऐसा होना चाहिए कि उसमें से हवा न निकल सके, पम्प की डिस्चार्ज लाइन में वाल्व इस तरह लगे होने चाहिएं कि पम्प पर अधिक दबाव न पड़े और बिजली खराब होने की हालत में पम्प से होकर पानी वापिस न जाए, सक्शन पाइप में फुट-वाल्व लगाना चाहिए। स्टफिंग बक्स की पैकिंग होशियारी और सावधानी से करनी चाहिए, पम्प की बाल बियरिंग और मोटर में ग्रीस लगाना चाहिए, पम्प चलाने से पहले इस बात की जांच करनी चाहिए कि पट्टा निर्धारित दिशा में घूमता है।

पम्प की खराबियां : पम्प की खराबी मालूम करने के लिए नीचे लिखी चीजों की जांच की जानी चाहिए :

(1) कम गति, अधिक ऊंचाई तक पानी पहुंचाने, ऐम्पैलर के छेद में रुकावट आ जाने, गलत दिशा में चक्कर काटने, हवा के निकलने आदि ऐसे कारण हैं जिनसे या तो पानी बिलकुल आता ही नहीं या कम आता है। (2) कभी कभी थोड़ी देर काम करने के बाद पम्प काम करना बन्द कर देता है। इसका कारण सक्शन लाइन से हवा निकलना है या सक्शन पाइप का अत्यन्त छोटा या लम्बा होना है। (3) स्टफिंग बक्स में से बहुत ज्यादा हवा निकलने का कारण पैकिंग का खराब होना, अच्छी तरह तेल न लगाया जाना आदि हो सकता है।

12.

कृषि सुधार और प्रबन्ध

भारत सरकार ने किसानों की आर्थिक दशा सुधारने और खेती का उत्पादन बढ़ाने के लिये समय-समय पर अनेक कदम उठाये हैं। सरकार ने किसानों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए सहकारिता को सबसे अच्छा तरीका समझा है।

सहकारिता देश की अर्थ-व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन लाने का एक मुख्य साधन है। यह उत्पादकता का स्तर ऊंचा करने, टैक्नोलौजी सम्बन्धी कार्यों में उन्नति करने और ग्रामीण वर्ग में रोजगार बढ़ाने के लिए अपरिमित शक्ति का एक मुख्य साधन भी है। इस बात को ध्यान में रखते हुए तृतीय योजना काल में सहकारी ऋण, सप्लाई के लिए माल की तैयारी और उसका विपणन और उपभोक्ता सहकारी समितियों का विकास आदि के लिए विशेष कार्यक्रम बनाये गये हैं।

देश में 30 जून 1962 तक 2 लाख 15 हजार सहकारी समितियां कार्य कर रही थीं। जिनकी सदस्य संख्या लगभग 193 लाख 77 हजार थी। इनमें से लगभग 80 हजार समितियां ऐसी हैं जो किसानों को ऋण देने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करती हैं। सन् 1961-62 में कुल 225 करोड़ 20 लाख रुपये के अल्प और मध्य कालिक ऋण किसानों को

दिये गये जब कि सन् 1950-51 में इस प्रकार के केवल 22 करोड़ 90 लाख रुपये के ऋण ही दिये गये थे।

भारी ब्याज से छुटकारा दिलाने के उद्देश्य से कोआपरेटिव क्रेडिट सोसायटीज ऐक्ट के अन्तर्गत किसानों की अल्प और मध्य-कालिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए राज्य ऋण की प्रणाली को अपनाया गया है। अल्पकालीन ऋण कृषि के चालू कार्यों के लिए दिए जाते हैं। यह ऋण साधारणत: 18 मास से कम लम्बी अवधि के लिए दिया जाता है। मध्यम कालीन ऋण भूमि में थोड़ा सुधार करने, बैल, औजार आदि खरीदने के लिये दिया जाता है।

दीर्घकालीन ऋण भूमि में स्थायी सुधार के लिये जैसे कुयें खोदने के लिये या परिवार के पुराने ऋण को अदा करने के लिए दिये जाते हैं। यह ऋण 5 से 20 साल की अवधि के लिये दिया जाता है। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया मध्यमकालिक ऋणों को देने और मौसमी कृषि कार्यों के लिये सहकारी समितियों को देकर प्रत्यक्ष रूप से सहकारी आंदोलन के विकास में भाग लेता है। यह सहकारी बैंकों को फंड भेजने के लिए बैंक—सुविधाएं भी प्रदान करता है।

सहकारी खेती

सहकारी कृषि समिति एक ऐसा संगठन है जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से शामिल होकर अपनी-अपनी खेती की जमीनों को शामिल करते हैं और सामूहिक कृषि पर जो आदमी जितनी मेहनत करता है उसकी एवज में उसे मजदूरी मिलती है और उसकी जितनी जमीन होती है उसी अनुपात में साझी उपज का हिस्सा मिल जाता है। प्रत्येक सदस्य
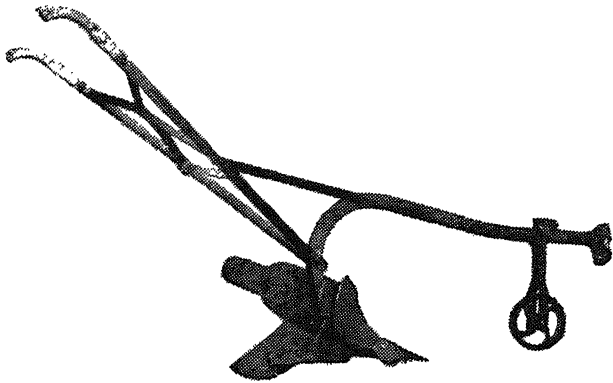
धान के खेत में गारा करने का हल
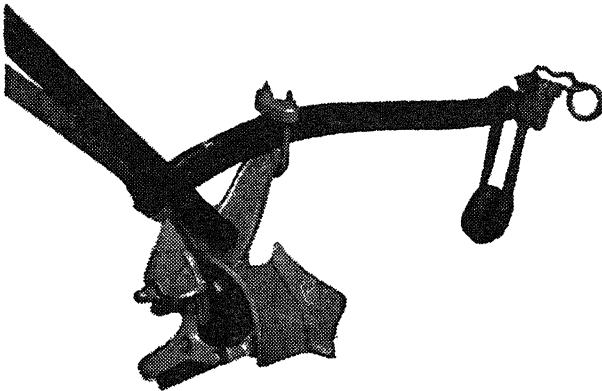
पहाड़ी और ऊंची नीची भूमि की जुताई करने वाला हल
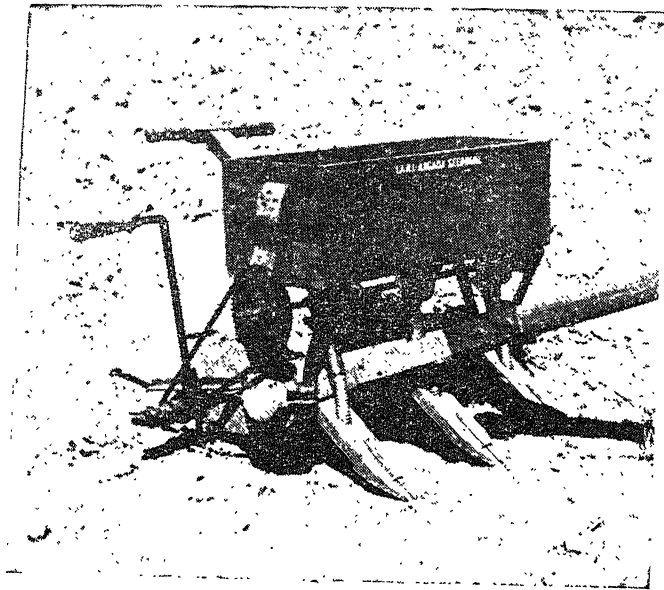
भारतीय कृषि अनुसंधानशाला द्वारा विकसित उन्नत बोआई यंत्र

कतारों में मक्का, कपास और मूँगफली की बोआई करने वाला यंत्र
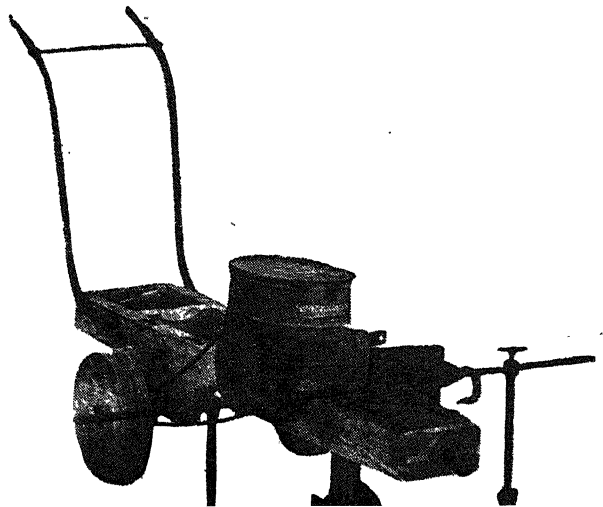
को उसके द्वारा सहकारी खेती में दी गई भूमि का लगान दिया जाता है। कुछ समितियां ऐसी भी हैं जहाँ भूमियों को इकट्ठा नहीं किया जाता। सहकारी संयुक्त कृषि समिति की दो मुख्य विशेषतायें हैं। एक तो स्वेच्छा से अपनी अपनी जमीनों को संयुक्त कृषि के लिए देना और दूसरे सामूहिक रूप से संयुक्त कृषि का प्रबन्ध और व्यवस्था करना। भूमि का इस प्रकार साझा बनाकर और पूँजी का सामूहिक उपयोग करके उपलब्ध साधनों का पूरी तरह से लाभ उठाना और कम खर्च में उत्पादन-क्षमता को काफी बढ़ाया जा सकता है।

कृषि हाट व्यवस्था

किसान जो उपज मण्डी में बेचने के लिए ले जाता है उसके बदले उसे उसकी मेहनत का मूल्य दिलाने के लिए मण्डी के कार्यों को नियमित करना आवश्यक है जिससे विभिन्न गन्दे तरीके समाप्त हो सकें। यह व्यवस्था कृषि उत्पादन विपणन अधिनियम के अन्तर्गत की जाती है। यह अधिनियम कई राज्य सरकारों ने लागू किया है। अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न केन्द्रों के मण्डी क्षेत्रों और जिन्सों के बारे में सूचना जारी करने की व्यवस्था है। प्रत्येक मण्डी के लिये मण्डी क्षेत्र की सीमायें निर्धारित की जाती हैं अर्थात वह क्षेत्र जहां से मण्डी में बेचने के लिये उपज लाई जाती है, उचित मण्डी और मार्केट यार्ड जहाँ उपज या माल इकट्ठा किया जाता है और बेचा जाता है, ये बातें निश्चित की जाती हैं। इस अधिनियम के अन्तर्गत एक मण्डी समिति की व्यवस्था की गई है, जिसमें किसानों, व्यापारियों, सौदागरों और

स्थानीय निकायों के प्रतिनिधि और सरकार के नामजूद किये गये सदस्य होते हैं। यह समिति मण्डी के कार्यों की देखभाल करती है। इस समिति का कार्य उपनियम बनाकर स्थानीय बाजार के रिवाजों की व्याख्या करना, बिचौलियों को लाइसेंस देना, विवादों का निपटारा करना, तोल का पर्यवेक्षण करना और सामान्य रूप से उचित हाट व्यवस्था का निरीक्षण करना है। समिति अपने कार्य संचालन के लिये बिचौलियों से प्राप्त हुए लाइसेंस फीस के अतिरिक्त उपज के क्रय और विक्रय पर कुछ फीस लगाकर पैसा एकत्र कर सकती है।

अच्छी हाट-व्यवस्था के विकास में पदार्थों के उचित भंडारण का बहुत महत्व होता है। इससे माल को इधर-उधर ले जाने का खर्च बच जाता है, विनाशकारी कीड़ों द्वारा नुकसान नहीं होता और व्यवहार में बेईमानी की गुंजायश कम हो जाती है। इससे छोटे-छोटे किसानों को अपनी उपज की अच्छी कीमतें प्राप्त करने में सहायता मिलती है क्योंकि कीमतों में सुधार आने तक माल को गोदामों आदि में रखा जा सकता है। गोदाम की जमानत के आधार पर उचित शर्तों पर उधार प्राप्त किया जा सकता है। भारतीय किसान में क्रय-विक्रय का कम सामर्थ्य होने के कारण यह अधिक वांछनीय है कि हाट व्यवस्था सहकारी आधार पर हो।

भूमि सुधार

राष्ट्रीय सरकार ने किसानों की दशा सुधारने के लिए जो कानून बनाए हैं उनका संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है :

भूमि सम्बन्धी कानून

सरकार द्वारा सबसे पहले बिचौलियों या जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के सम्बन्ध में कदम उठाए गए। इस दिशा में विभिन्न राज्यों में निम्नलिखित कानून अपनाए गए—मद्रास एस्टेट्स (एबोलिशन एण्ड कन्वर्शन इनटू रैयतवारी) ऐक्ट 1948, दी हैदराबाद एबोलिशन आफ जागीर्स रेगुलेशन ऐक्ट, दी उत्तर प्रदेश जमींदारी एबोलिशन एक्ट एंड लैण्ड रिफार्म लैजिस्लेशन 1950, दी मध्य प्रदेश एबोलिशन आफ प्रोप्रायट्री राइट्स, (एस्टेट्स महलस, एलिनेटिड लैण्ड) ऐक्ट, 1950, दी बिहार लैण्ड रिफामंस ऐक्ट, 1950, दी आसाम स्टेट एक्वीजीशन आफ जमींदारी ऐक्ट, 1951, दी उड़ीसा एस्टेट्स एबोलिशन ऐक्ट, 1952, दी राजस्थान लैण्ड रिफार्मस एण्ड रिजम्पशन आफ जागीर्स ऐक्ट 1952, और दी वैस्ट बंगाल एस्टेट्स एक्वीजीशन ऐक्ट, 1953। बम्बई राज्य में बिचौलियों की प्रथा को मिटाने के लिए तालुकदारी एबोलिशन ऐक्ट, परगना एण्ड कुलकरनी वतन एबोलिशन ऐक्ट, परसनल इनाम एबोलिशन ऐक्ट और मर्जड टेरिटरीज जागीर एबोलिशन ऐक्ट पास किए गए।

भूमि सुधार के सम्बन्ध में प्रथम पंचवर्षीय योजना में एक निश्चित भूमि सम्बन्धी नीति निर्धारित की गई जिसे राज्य सरकारें स्थानीय परिस्थतियों के अनुकूल अपना सकें। लगभग सभी राज्यों ने पट्टेदारी की सुरक्षा, कब्जा अधिकार, अधिकतम भूमि-कर निर्धारित करने आदि के सम्बन्ध में कानून बनाये हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया कि जोत की अधिकतम सीमा निश्चित की जाए। असम, जम्मू तथा कश्मीर, पश्चिमी बंगाल

आन्ध्र प्रदेश और हिमाचल प्रदेश में वर्तमान जोत की सीमा निर्धारित करने के सम्बन्ध में कानून बनाए गए हैं। पंजाब सरकार ने भी 30 स्टेन्डर्ड एकड़ से अधिक भूमि रखने वालों से भूमि लेने के अधिकार प्राप्त किए है।

असम, बम्बई, जम्मू तथा कश्मीर, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बंगाल, आन्ध्र प्रदेश, मध्य भारत, पैप्सू, सौराष्ट्र और दिल्ली के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्रों में, भविष्य में अधिग्रहण की जाने वाली भूमि की भी सीमा निर्धारित कर दी गयी है।

गांव में खेती की जमीन के उचित बंटवारे के लिए आचार्य विनोबा भावे ने भूदान यज्ञ आरम्भ किया। इस भूदान यज्ञ को सुचारु ढंग से चलाने के लिए बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, सौराष्ट्र, मध्य भारत, उड़ीसा और दिल्ली में कानून पास किए गए हैं। इन कानूनों के अन्तर्गत भूमि को दान में देने और उसके वितरण की व्यवस्था की गयी है। कानूनों में एक समिति के गठन की व्यवस्था है जो चल और अचल सम्पत्ति को लेने, उसका प्रबन्ध करने, दूसरों के हाथ देने अर्थात् हस्तान्तरित करने और दूसरों के साथ ठेका करने का प्रबन्ध करेगी। जो भूमि इस समिति को सौंपी जाएगी उसे किसी सिविल कोर्ट के आदेश या डिक्री द्वारा न तो बेचा जा सकता है और न ही कुर्क किया जा सकता है।

मद्रास विधेयक में ग्रामदान में प्राप्त गांवों में प्रबन्ध की भी उचित व्यवस्था की गयी है। ग्रामदान का अर्थ यह है कि उस गांव के कम से कम दो तिहाई भूस्वामियों द्वारा अपनी सारी भूमि ग्रामदान में दे दी गई है और ग्रामदान में प्राप्त भूमि गांव की कुल भूमि की आधी से कम न हो। प्रत्येक ग्रामदान ग्राम में एक सर्वोदय

पंचायत गठित की जाती है जो दान में प्राप्त भूमि पर काश्त का प्रबन्ध करती है। पंचायत स्वयं या ग्राम निवासियों में भूमि को वितरित करके व्यक्तिशः या सहकारिता के आधार पर काश्त करती है। पंचायत गांव की जनता की सामान्य भलाई के लिए कुछ भूमि अलग कर सकती है और भूमि सुधार तथा कृषि उपज को बढ़ाने के लिए आवश्यक कदम उठा सकती है।

भूमि का प्रबन्ध

भारत में कृषि उत्पादन को बढ़ाने में भूमि का छोटे छोटे टुकड़ों में बंटा होना सबसे बड़ी बाधा है। अतः देश में सबसे पहले मध्य प्रदेश और बरार, पंजाब और उत्तर प्रदेश में प्रारम्भ में चकबन्दी अपनी-अपनी इच्छा के आधार पर की गयी और बाद में कुछ अपनी इच्छा के आधार पर तथा कुछ अनिवार्य आधार पर की गयी। हाल में जो कानून बनाए गए हैं वे अधिकतर अनिवार्यता पर आधारित हैं। इस सम्बन्ध में बाम्बे प्रिवेन्शन आफ फ्रैगमेन्टेशन एण्ड कन्सोलिडेशन आफ होल्डिंग ऐक्ट, 1947 और पंजाब ऐक्ट, 1948 बहुत ही महत्वपूर्ण अधिनियम हैं।

कुछ भूमि सुधार सम्बन्धी अधिनियमों में सहकारी फार्म बनाने के लिए भी व्यवस्था की गई है। उत्तर प्रदेश जमींदारी उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम में यह व्यवस्था है कि किसी गांव-समाज के दस या उससे अधिक व्यक्ति, जिनके पास 50 एकड़ या उससे अधिक भूमि में भूमिधरी और सीरदारी के अधिकार हों, यदि सहकारी समिति या सहकारी फार्म खोलना चाहें तो वे सहकारी समिति अधिनियम के अंतर्गत रजिस्ट्रार के पास आवेदन-पत्र देकर अपने नाम पंजीकृत करा सकते हैं।

कृषि अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग, जिसे अभी कल्याण कानूनों की परिधि में लाना है, कृषि मजदूर हैं। वेतन अदायगी अधिनियम 1936 के अन्तर्गत मजदूरों को कुछ सुविधाएं दी गई हैं या प्रयास किया जा रहा है कि ये लाभ कृषि मजदूरों को भी दिये जायें। न्यूनतम वेतन अधिनियम, 1948, जिसका संशोधन 1951 और 1954 में हुआ, के अनुसार राज्य सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह मजदूरों की विभिन्न श्रेणियों के लिये, जिनमें कृषि मजदूर भी शामिल हैं, न्यूनतम वेतन निर्धारित कर सकती है।

भूमि से अधिक उत्पादन

परती और बेकार भूमि पर खेती करने की दृष्टि से मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, अजमेर, दिल्ली, भोपाल, मध्य भारत, पंजाब और पेप्सू ने परती और बेकार भूमि ऐक्ट और भूमि उपयोग ऐक्ट पास किए जिससे कि ऐसे भूमि के मालिकों को स्वयं या पट्टेदारों द्वारा भूमि पर काश्त करने के लिए मजबूर किया जा सके।

बेकार भूमि सुधार के लिए बिहार, दिल्ली, भोपाल, पेप्सू और अजमेर में कानून पास किए गए हैं। इस कानून के अन्तर्गत राज्य सरकार किसी क्षेत्र को भूमि सुधार-क्षेत्र घोषित करके भूमि सुधार के लिए भूमि ले सकती है।

कुछ राज्यों में उन्नत बीज और खाद के प्रयोग तथा ट्रैक्टर से खेती करने की दिशा में प्रोत्साहन देने के लिए कानून पास किए गए हैं। पूर्वी पंजाब खाद संरक्षण अधिनियम, 1949 (1950 में संशोधित) में खाद संरक्षण समितियों के गठन की व्यवस्था की गई है। म्यूनिसिपल बोरोज अमेन्डमेंट ऐक्ट, 1941 और मध्य प्रदेश म्युनिसिपल्टीज

ऐक्ट, 1949 के अन्तर्गत म्यूनिसिपल मलवे से कम्पोस्ट खाद तैयार करने की व्यवस्था की गई है।

पूर्वी पंजाब ट्रैक्टर खेती अधिनियम 1949 और मध्य भारत अधिनियम 1950 में ट्रैक्टर द्वारा खेती करने की सुविधाएं दिए जाने की व्यवस्था है।

भू-क्षरण को रोकने के लिए बहुत से राज्यों ने कानून बनाये हैं। पंजाब, बम्बई, बिहार, अजमेर, दिल्ली, असम और मद्रास (राज्य सरकारों) ने मेंड़ और बांध बनाकर तथा अन्य उपायों द्वारा भू-क्षरण को रोकने के लिए अपने हाथ में अधिकार लिए हैं।

ग्रेडिंग और मार्केटिंग ऐक्ट एक अनुज्ञात्मक ऐक्ट है, जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वह बहुत सी कृषि वस्तुओं के लिए ग्रेड और स्टैन्डर्ड निश्चित करने के सम्बन्ध में नियम बना सके।

कृषि लेखा

भारत में किसानों के पास छोटे छोटे खेत हैं। अतः यह बहुत आवश्यक है कि खेत का हिसाब-किताब यथासम्भव सरल हो और साथ ही उस में खाते का काम भी बहुत कम हो। अगर पूरी खेती का केवल आय व्यय का लेखा-जोखा रखना हो तो साधारण हिसाब-किताब से ही काम चल सकता है। परन्तु यदि प्रत्येक फसल की लाभ हानि आदि का हिसाब रखना हो तो इसके लिए पूरा ब्यौरा लिखने की आवश्यकता पड़ेगी। अलग अलग किस्म की खेती का

हिसाब किताब अलग अलग तरीकों से रखना पड़ता है । अधिकतर किसान फसलें उगाते हैं । अत: यहाँ पर कृषि योग्य भूमि के लिए रखे जाने वाले साधारण हिसाब किताब का विवरण दिया गया है। दूसरी प्रकार की खेती के लिए भी इसी प्रकार का हिसाब मामूली हेर-फेर कर के रखा जा सकता है ।

किसान को निम्नलिखित चीजों का हिसाब-किताब रखना चाहिए :

खेत का नक्शा, खेतों की सूची, विवरण पुस्तिका (इनवैण्टरी), नकद आमदनी और खर्चा, उत्पादन का ब्यौरा, चारे का हिसाब, मजदूरी का हिसाब, बीजों का हिसाब, घर में इस्तेमाल की गयी कृषि उपज का हिसाब, विविध आय-व्यय का हिसाब-किताब ।

यह सारा हिसाब-किताब एक ही रजिस्टर में लिखा जा सकता है ।

खेत का नक्शा : रजिस्टर के पहले पृष्ठ पर खेत का नक्शा होना चाहिए । इस में खेतों की नाप, जगह, फसल आदि का ब्यौरा होना चाहिए । खेतों की स्थिति को खसरा या सर्वेक्षण संख्या द्वारा दिखा दिया जाए । विभिन्न खेतों की मिट्टी की किस्म और खेतों के सुधारने की विधियां जैसे गोबर की खाद या रसायनिक उर्वरक इत्यादि का उपयोग इस में बताया जाना चाहिए ।

नक्शा बहुत ही उपयोगी चीज है, भले ही वह मोटे तौर पर खींचा गया हो । इस की सहायता से किसान बहुत कुछ खेती की समस्याओं और कठिनाइयों को समझ सकता है ।
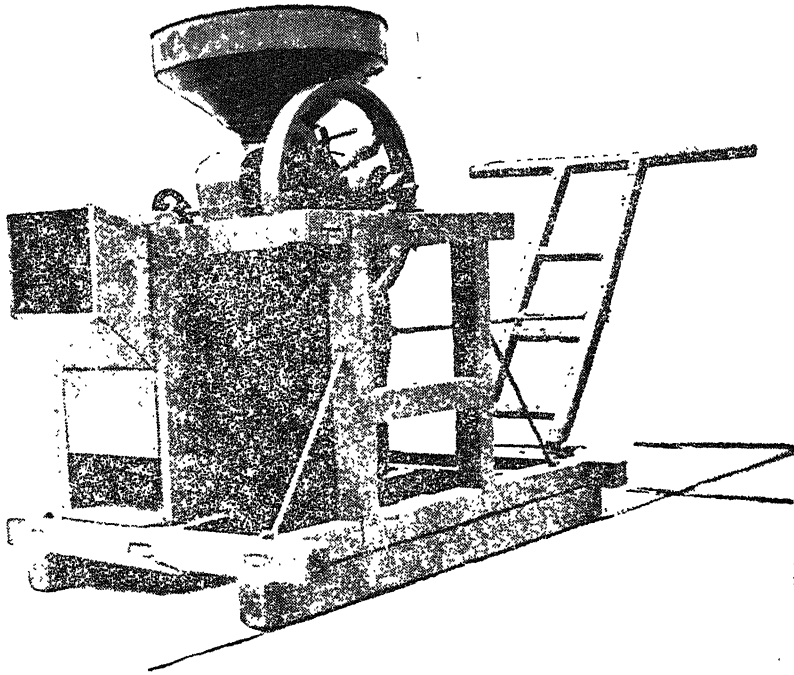
हस्तचालित रबर रोल टाइप धान कूटने की मशीन

निरई का एक उन्नत यन्त्र। इससे निराई में खुरपी की तुलना में कम लागत और बहुत कम समय लगता है
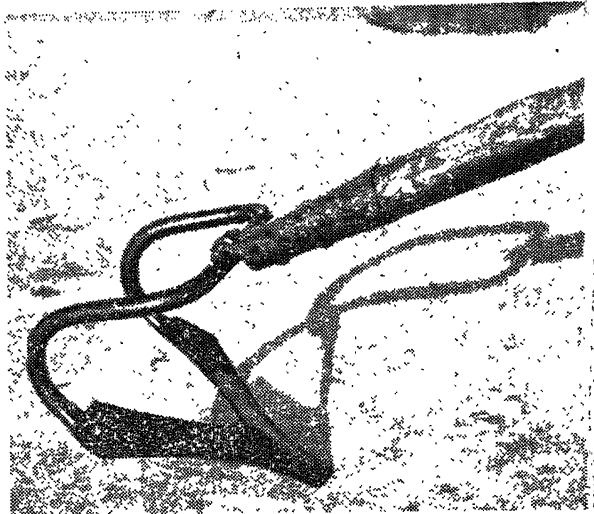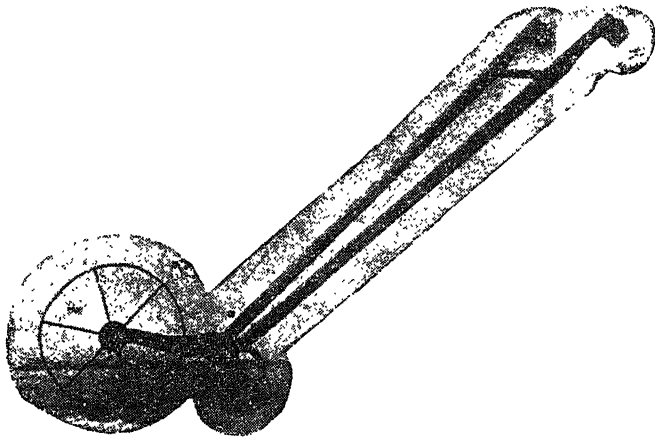
चक्री निराई यंत्र
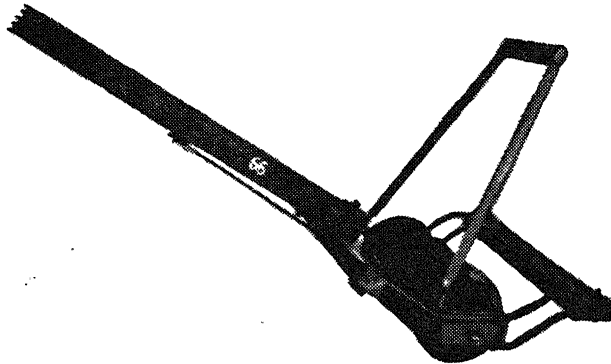
खेत में हरी खाद पलटने का यंत्र

खेतों की सूची : खेतों की सूची में इन बातों का ब्यौरा होना चाहिए : खसरा संख्या, क्षेत्रफल, मिल्कियत, भूमि का वर्गीकरण, सिंचाई के साधन, बोई गई फसलें ।

यह ब्यौरा पटवारी की सहायता से तैयार किया जा सकता है । इससे अगले सालों का काम बहुत आसान हो जाएगा, क्योंकि बोयी गई फसलों के लेखे में ही प्रायः तबदीली की जाएगी ।

विवरण पुस्तिका (इन्वेण्टरी) : मोटे रूप में इस पुस्तिका में समयानुसार हर चीज का अलग अलग मूल्य दिया होता है । इस से यह पता चल जाता है कि किसान के पास कितनी सम्पत्ति है और उस की कितनी देनदारियाँ हैं । इस पुस्तिका में हर साल के लाभ और हानि का ब्यौरा दिया जाता है और इस से किसान को अपने व्यवसाय की कमजोरी या मजबूती का पता चलता रहता है फिर भी इसमें लाभ या हानि के कारणों पर कोई प्रकाश नहीं डाला जा जाता ।

विवरण-पुस्तिका ही हिसाब-किताब की बुनियाद है । इसे और अधिक उपयोगी बनाने के लिए इस में भूमि, मकान, सिंचाई के साधन, पशुधन, खेती के औजार, मशीनरी, खेती की उपज, चारा और उसका वितरण, बीज, उगी हुई फसल और नकद-धन या बैंक में जमा धन, लेनदारी और देनदारियों के मदों के अंतर्गत विस्तृत ब्यौरा अलग अलग खानों में लिखा जाना चाहिए । जहाँ तक सम्भव हो, इस पुस्तिका में वस्तुओं की मात्रा, बाजार भाव और वास्तविक मूल्य लिखे जाने चाहिएं । हर मवेशी का नाम, संख्या, उम्र आदि अलग अलग दर्ज की जानी चाहिए । इसी प्रकार खेती के आवश्यक सामान जैसे पुर्जे, कल व औजार भी अलग से लिखे जाएं । बड़े

औजार अलग अलग और छोटे औजार एक जगह लिखे जाने चाहिएं।

नगद आमदनी और खर्च : बही खाते में कुछ पृष्ठों पर नगद आय-व्यय का हिसाब रखा जाए। बायीं ओर के पृष्ठों पर प्राप्त धन का लेखा होना चाहिए और दायीं ओर के पृष्ठों पर खर्च का लेखा होना चाहिए। इसमें खेत की उपज की बिक्री, खेती के औजारों, बैल, खाद आदि और मजदूरों के वेतन आदि का हिसाब रखना चाहिए। बायें व दायें पृष्ठ का नमूना आगे दिया है।

बायीं ओर का पृष्ठ

नगद प्राप्ति

तिथि	ब्यौरा	तादाद अथवा संख्या	मूल्य	प्राप्त धन

दायीं ओर का पृष्ठ

नगद व्यय

तिथि	ब्यौरा	तादाद अथवा संख्या	मूल्य	खर्च किया गया धन

पशुधन, इस्तेमाल किये गये खेती औजारों और मशीनों का सेवा काल लिखना चाहिए। आमदनी और खर्च का मासिक संक्षिप्त विवरण रखना चाहिए, जिसमें भिन्न-भिन्न मदों पर किया गया व्यय इस प्रकार दिखाना चाहिए जैसे मजदूरी, बैल की मेहनत, बीज, खाद, औजार, लगान, पानी की दर आदि।

उत्पादन का ब्यौरा : आय का मुख्य साधन फसलें हैं। निम्न-लिखित ढंग से प्रति एकड़ उपज का रिकार्ड रखना चाहिए :

फसल	एकड़ में क्षेत्रफल	मजदूरों को अनाज के रूप में दिया गया भुगतान	शुद्ध उत्पादन	कुल उत्पादन

प्रति एकड़ आँकड़े फसल को बोते अथवा रोपते ही लिख देने चाहिए। फसल काटने या गहाई शुरू होते ही उपज का ब्यौरा लिखना चाहिए। तोलने से पहले उपज का अनुमान लगाया जा सकता है। जहां तक हो सके ठीक अनुमान लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। कटाई, कपास की चुनाई, गहाई और बरसाई आदि के रूप में दी गई अनाज की मजदूरी उपज की तादाद में जोड़ देनी चाहिए। फसल के उपजात जैसे गेहूं का भूसा, ज्वार, मकई, बाजरे की पूलियां आदि के उत्पादन के भी अनुमानित आंकड़े सम्मिलित करने चाहिए।

चारे का हिसाब : मोल लिए गए चारे की कीमत खरीद की कीमत के अनुसार लगानी चाहिए। अपने यहां उगाए गए चारे या भूसे की कीमत उसी हिसाब से लगानी चाहिए जिस भाव से वह बाजार में बिक सके।

कई पशुओं को सामान्य रूप से मिला जुला चारा खिलाया जाता है। अत: खिलाये गये कुल चारे की तादाद का लेखा रहना चाहिए। इसके बाद बैलों और खेती बाड़ी के अन्य पशुओं को दिए चारे की कीमत उनकी संख्या के आधार पर निकालनी चाहिए। जैसा आगे बताया गया है प्रत्येक पशु को दाना-चारा अलग

अलग दिया जाता है। अतः इसका लेखा जोखा रखना बड़ा आसान है। निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत पशुओं की खिलाई का हिसाब रखा जा सकता है।

पशुओं द्वारा खाया गया दाना, चारा और भूसा

प्रतिदिन	मास का योग	मूल्य

इसमें चारे, भूसे और खेत में उगाये गये भूसे चारे का हिसाब अलग-अलग रखा जा सकता है।

मजदूरी का हिसाब : मजदूरी का हिसाब रखने के लिये दो सारणी बनानी चाहियें। पहली सारणी में मजदूर का नाम, आयु, नियुक्ति की तिथि, काम छोड़ने की तिथि, मासिक या दैनिक वेतन (नकद या वस्तु के रूप में), भोजन, कपड़े आदि का मूल्य और मात्रा दी जानी चाहिए तथा दूसरी सारणी में मजदूर द्वारा काम का लेखा-जोखा होना चाहिए। इसमें नाम, तिथि, काम की तफसील, भुगतान की राशि आदि दी जानी चाहिये।

बीजों का हिसाब : इसमें विभिन्न फसलों में बोये जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के बीजों का ब्यौरा और उनका मूल्य लिखा जाता है। वह एक साधारण सा हिसाब है जो इस प्रकार लिखा जा सकता है :

फसल	क्षेत्रफल	प्रति इकाई क्षेत्रफल का परिमाण	योग	मूल्य

खरीदे गये बीज का मूल्यांकन क्रय-मूल्य के अनुसार होना चाहिए और घर के खेत में उगाए गए बीजों का वही मूल्य लिखा जाना चाहिए जिस भाव पर वे बाजार में बेचे जा सकें।

घर में इस्तेमाल की गयी खेत की उपज का हिसाब : यह रिकार्ड स्मरण-पत्र के रूप में रखा जा सकता है। सबसे ऊपर घर के सब सदस्यों का नाम और उनकी उम्र लिखी जानी चाहिए। इसमें प्रति सप्ताह, घर में खर्च हुई उपज की विभिन्न सामग्री की मात्रा और मूल्य लिखना चाहिए।

विविध आय-व्यय : बहुत से ऐसे छोटे-मोटे खर्चे हैं जिनका हिसाब इस मद में लिखना चाहिए। इसमें भूमि-कर, पानी-कर, मकान किराया (यदि कोई हो), खेती के औजारों की मरम्मत और उनका बदलना, उर्वरकों और खादों की खरीद का मूल्य और वितरण मूल्य भी लिखना चाहिए। इस उद्देश्य के लिए किसी विशेष फार्म के भरने की जरूरत नहीं है। स्मरण-पत्र के रूप में साधारण टिप्पणियाँ लिखना ही काफी होगा।

कृषि लेखा का महत्व इस बात से और भी बढ़ जाएगा यदि एक गांव के कई किसान मिलकर कोई लेखा-संघ बनाएं और सभी एक से निर्धारित फार्मों का इस्तेमाल करें और लेखा रखने के एक से सिद्धान्त अपनाएं। जब बहुत से किसानों का हिसाब-किताब मिलाया जाएगा तो इस बात का पता लगाया जा सकेगा कि कौन से किसान ज्यादा सफल रहे हैं और क्यों? दूसरे लोगों के तौर-तरीकों में क्या-क्या कमियाँ हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है।

सारणी-1

अलग-अलग मौसमों में वर्षा की औसत (मिलीमीटरों में)

राज्य	दिसम्बर	मार्च	जून	अक्तूबर	वार्षिक
असम	60	637	1633	151	2481
पश्चिमी बंगाल	40	209	1326	150	1725
उड़ीसा	46	143	1130	126	1445
बिहार	36	84	1041	65	1226
उत्तर प्रदेश (पूर्वी)	39	28	874	52	993
उत्तर प्रदेश (पश्चिमी)	58	35	838	25	956
पंजाब	71	46	516	42	673
हिमाचल प्रदेश	172	170	1170	43	1549
जम्मू और कश्मीर	232	231	564	24	1051
राजस्थान (पश्चिमी)	16	14	298	3	331
राजस्थान (पूर्वी)	24	20	582	14	640
मध्य प्रदेश (पश्चिमी)	27	27	999	50	1104
मध्य प्रदेश (पूर्वी)	46	68	1199	90	1403
गुजरात	6	6	800	20	832
महाराष्ट्र	13	46	488	100	647
आन्ध्र प्रदेश (तटवर्ती)	43	87	635	254	1021
मद्रास	121	115	305	351	892
मैसूर (उत्तरी)	16	71	577	115	780
मैसूर (दक्षिणी)	19	137	353	193	702

सारणी-2

बाढ़ें और अकाल (अनावृष्टियां) (१८५७-१९५०)

राज्य	सामान्य	औसत विचलन	असमानताओं की संख्या वर्षा इंचों में बाढ़ें	सूखा
असम	67	5.2	4	3
पश्चिमी बंगाल	64	5.4	2	3
उड़ीसा	45	5.0	7	2
बिहार	41	6.5	7	8
उत्तर प्रदेश (पूर्वी)	35	6.4	10	7
उत्तर प्रदेश (पश्चिमी)	33	6.3	4	8
पंजाब (पूर्वी और उत्तरी)	18	4.9	11	8
पंजाब (दक्खिनी और पश्चिमी)	7	2.5	8	3
कश्मीर	19	3.5	4	9
राजस्थान (पश्चिमी)	10	3.9	8	7
राजस्थान (पूर्वी)	25	5.6	6	4
गुजरात	31	7.1	7	7
मध्य प्रदेश (पश्चिमी)	43	5.8	8	8
मध्य प्रदेश (पूर्वी)	49	5.1	6	4
बम्बई (दक्खिन)	26	3.8	5	4
हैदराबाद (उत्तरी)	32	5.9	5	4
हैदराबाद (दक्खिन)	24	4.9	7	5
मैसूर	22	4.2	3	1
मद्रास (दक्खिन-पूर्व)	12	2.6	6	5
मद्रास (दक्खिन)	14	3.7	5	4
मद्रास (तटवर्ती उत्तर)	22	3.6	8	1

सारणी-3

मासिक और वार्षिक सामान्य वाष्पीकरण (मिलीमीटर में)

राज्य	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्तूबर	वार्षिक
असम	24	69	70	57	666
पश्चिमी बंगाल	81	203	95	88	1355
उड़ीसा	153	277	134	122	2120
बिहार	61	261	91	109	1507
उत्तर प्रदेश (पूर्वी)	65	308	99	134	1850
उत्तर प्रदेश (पश्चिमी)	116	427	183	243	2909
पंजाब	72	256	178	170	2042
राजस्थान (पश्चिमी)	162	399	311	293	3448
राजस्थान (पूर्वी)	118	393	187	238	2835
मध्य प्रदेश (पश्चिमी)	146	464	147	115	2925
मध्य प्रदेश (पूर्वी)	125	433	118	127	2622
गुजरात (सौराष्ट्र और कच्छ सहित)	215	356	239	222	3133
महाराष्ट्र	317	591	173	208	3648
आंध्र प्रदेश (तटवर्ती)	120	124	113	128	1485
मद्रास राज्य	124	171	207	110	1900
मैसूर (उत्तर)	254	432	168	200	3192
मैसूर (दक्खिन)	173	203	103	107	1801
केरल (तटवर्ती मैसूर सहित)	127	142	65	66	1150

सारणी-4

दैनिक सापेक्ष आर्द्रता का औसत प्रतिशत (भारतीय प्रतिमानित समय के अनुसार ८ घंटे पर)

राज्य	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्तूबर	दिसम्बर
असम	87	76	86	84	87
पश्चिमी बंगाल	78	71	87	81	76
उड़ीसा	75	69	82	79	73
बिहार	77	48	82	75	77
उत्तर प्रदेश (पूर्वी)	78	39	81	72	77
उत्तर प्रदेश (पश्चिमी)	72	38	78	64	71
पंजाब	75	43	75	61	73
हिमाचल प्रदेश	46	36	83	47	37
जम्मू और कश्मीर	77	72	62	68	78
राजस्थान (पश्चिमी)	59	42	68	53	56
राजस्थान (पूर्वी)	58	30	75	52	60
मध्य प्रदेश (पश्चिमी)	62	32	85	64	63
मध्य प्रदेश (पूर्वी)	73	41	86	75	74
गुजरात, सौराष्ट्र और कच्छ सहित	56	59	83	69	57
महाराष्ट्र	56	45	81	69	61
आंध्र प्रदेश (तटवर्ती)	79	72	75	78	75
मद्रास राज्य	80	73	68	79	81
मैसूर राज्य (उत्तरी)	63	55	84	74	64
मैसूर (दक्खिन)	72	66	81	80	75
केरल (तटवर्ती मैसूर के साथ)	74	76	89	85	75

सारणी-5

दैनिक औसत सामान्य अधिकतम तापक्रम (सेंटीग्रेड में)

राज्य	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्तूबर	दिसम्बर
असम	23.9	29.4	31.7	30.6	24.4
पश्चिमी बंगाल	25.2	35.6	31.8	31.2	25.5
उड़ीसा	27.2	36.1	31.7	31.7	26.7
छोटा नागपुर	24.4	37.8	31.7	30.6	24.4
बिहार	23.3	37.2	32.8	31.7	23.9
उत्तर प्रदेश (पूर्वी)	23.3	37.8	32.8	32.2	23.3
उत्तर प्रदेश (पश्चिमी)	21.7	36.7	32.8	32.8	23.3
पंजाब	20.7	35.8	36.1	33.8	22.6
हिमाचल प्रदेश	8.6	18.8	21.6	17.9	10.3
जम्मू और कश्मीर	1.1	15.6	27.8	19.4	4.4
राजस्थान (पश्चिमी)	24.4	37.8	36.1	35.6	26.1
राजस्थान (पूर्वी)	23.9	37.2	33.9	33.9	25.0
मध्य प्रदेश (पश्चिमी)	25.9	38.1	30.5	31.9	30.6
मध्य प्रदेश (पूर्वी)	26.0	37.6	29.7	30.3	25.3
गुजरात (सौराष्ट्र और कच्छ सहित)	28.3	37.2	31.7	35.0	29.4
महाराष्ट्र	29.9	38.6	29.7	31.9	29.1
आंध्र प्रदेश (तटवर्ती)	27.8	33.9	33.3	31.7	27.8
मद्रास	30.0	36.1	35.0	32.2	28.9
मैसूर (उत्तर)	29.7	37.8	29.5	30.8	20.6
मैसूर (दक्खिनी)	29.1	36.0	29.0	29.6	27.8
केरल (तटवर्ती मैसूर सहित)	31.1	32.8	28.3	30.0	30.6

सारणी-6

दैनिक औसत सामान्य अल्पतम ताप (सेंटीग्रेड में)

राज्य	जनवरी	अप्रैल	जुलाई	अक्तूबर	दिसम्बर
असम	10.6	20.0	25.0	21.7	11.7
पश्चिमी बंगाल	12.2	23.6	25.9	22.9	12.9
उड़ीसा	11.1	25.0	25.6	23.3	13.9
बिहार	10.0	22.2	26.1	22.2	10.6
उत्तर प्रदेश (पूर्वी)	8.9	21.7	26.7	20.0	8.9
उत्तर प्रदेश (पश्चिमी)	7.8	20.6	26.1	17.8	7.8
पंजाब	6.1	19.3	26.8	17.3	6.7
हिमाचल प्रदेश	1.9	10.3	15.1	12.3	4.1
जम्मू और कश्मीर	8.9	3.3	14.4	3.3	7.2
राजस्थान (पश्चिमी)	9.4	21.7	26.7	18.3	10.0
राजस्थान (पूर्वी)	8.9	22.2	25.6	18.9	9.4
मध्य प्रदेश (पश्चिमी)	10.1	22.0	23.7	18.2	9.9
मध्य प्रदेश (पूर्वी)	10.5	22.3	23.4	18.9	9.8
गुजरात (सौराष्ट्र और कच्छ सहित)	13.9	22.8	26.1	22.3	15.0
महाराष्ट्र	13.0	21.8	22.0	19.4	12.7
आंध्र प्रदेश तटवर्ती	18.3	25.6	26.1	24.4	18.9
मद्रास राज्य	20.0	25.6	25.6	23.3	20.6

सारणी-7

चट्टानों की रासायनिक रचना प्रतिशत

ऑक्साइड्स	लावा द्वारा निर्मित चट्टानें या अग्नि से निर्मित चट्टानें	परतदार	बलुई पत्थर	चूने के पत्थर
सिलकन आ० (SiO_2)	59.07	58.90	78.64	5.20
अल्यूमीनियम आ० (Al_2O_3)	15.22	15.63	4.77	0.81
लौह आ० (Fe_2O_3)	3.10	4.07	1.98	0.54
मैगनीशियम आ० (MgO)	3.45	2.47	1.17	7.92
लौह आ० (FeO)	3.71	2.48	0.32	—
कैलशियम आ० (CaO)	5.10	2.15	5.51	42.74
सोडियम आ० (Na_2O_2)	3.71	1.32	0.45	0.05
पोटाशियम आ० (K_2O)	3.11	2.28	1.32	0.33
कार्बन डाई आ० (CO_2)	—	2.67	5.03	41.70
फासफोरस आ० (P_2O_5)	0.30	0.17	0.08	0.04
मैगनीज आ० (MnO)	0.11	—	—	—
टाइरेनियम आ० (TiO_2)	1.03	0.66	0.25	0.06
पानी (H_2O)	1.30	3.72	1.33	0.56
विभिन्न	0.79	1.48	0.07	0.05

ऑक्साइड = आ०

सारणी-8

अलीगढ़ (उ०प्र०) की जलोढ़ मिट्टियों की विभिन्न परतों के नमूनों के भौतिक गुण

खादर (गंगा नदी की तटीय अत्यधिक पानी वाली मिट्टी		केन्द्रीय निचली भूमियाँ (पानी की निकासी रहित जललग्न)		ऊंची भूमियां (अच्छी निकासी और गहरे पानी वाली)	
गहराई	विशेषताएं	गहराई	विशेषताएं	गहराई	विशेषताएं
0-6″	हल्की भूरी मोटे बलुई कण वाली बलुई दुमट क्षारीय और कुछ चूनेदार. नमकों से युक्त	0-6″	राख की तरह भूरी कीचड़ युक्त चिकनी बलुई मिट्टी, ठोस और ढेला युक्त क्षारीय और चूनेदार।	0-7″	भूरी रेतीली, रूप रहित भुरभुरी तटस्थ से कम क्षारीय, चूना-रहित
6-72″	भूरी रेतीले से रेतीली दुमट मिट्टी, रूप रहित, क्षारीय और मध्यम चूनेदार, जललग्नता के चिन्ह उसी तरह दिखाई देते हैं जैसे रतुआ की तरह भूरे धब्बे।	6-42″	गहरी भूरी कीचड़ युक्त चिकनी दुमट मिट्टी, ठोस और सख्त बहुत अधिक ढेलों वाली, बढ़िया आकार के गोल कंकर, भूरे रतुआ से दाग दल पर दर्शित, क्षारीय।	7-36″	गहरी भूरी दुमट कुछ ठोस, कुछ क्षारीय, चूना-रहित।
		42-72″	भूरी चिकनी बलुआ दुमट, ठोस क्षारीय कंकरयुक्त	36-72″	भूरी बलुई भुरभुरी और रूप रहित कुछ क्षारीय।

सारणी-9

जिला निजामाबाद (आंध्र प्रदेश) में काली मिट्टियों की रचना

दर्रे की तरफ, निजामाबाद के आस पास का सिंचित क्षेत्र

गहराई	रंग	अन्य विशेषतायें
0-6″	गहरी भूरी सूखने पर कम भूरी	रेतीली चिकनी दुमट, असमान आकार के कैलशियम कार्बोनेट के बिखरे गोल टुकड़े
6-12″	गहरी भूरी	भारी चिकनी दुमट, टुकड़े बहुत सख्त,
12-18″	गहरी भूरी	भारी चिकनी दुमट नहीं तो ऊपर जैसी
18-24″	गहरी भूरी सूखने पर हल्की भूरी	भारी चिकनी दुमट, कुछ टुकड़ों वाली
24-30″	गहरी भूरी सूखने पर हल्की भूरी	भारी चिकनी दुमट, सख्त टुकड़े
30-54″	सफेदी लिए भूरी	भारी चिकनी दुमट
54-60″		कार्बोनेट युक्त खंडित चट्टान वाली

सिंचित भूमि मिट्टी की सामग्री

गहराई	रंग	अन्य विशेषतायें
0-6″	गहरी भूरी	भारी चिकनी दुमट, कुछ लाल पत्थर
6-12″	ऊपर से कुछ गहरी	भारी चिकनी दुमट, सख्त और ठोस कार्बोनेट के टुकड़े
12-18″	रंग में कुछ फीकी	भारी चिकनी दुमट, कुछ बातों में ऊपर जैसी
18-24″	ऊपर जैसी	भारी चिकनी दुमट, सख्त और ठोस
24-36″	रंग में कुछ हल्की	भारी चिकनी दुमट, कुछ पत्थर के टुकड़ों के साथ, वस्तुतः छोटे टुकड़ों के समान नहीं तो ऊपर जैसी
36-48″	रंग में कुछ हल्की	चिकनी मिट्टी, अन्य बातों में ऊपर जैसी

सारणी-10

मद्रास राज्य में लाल और लाल दुमट मिट्टी की रूप रेखा

लाल दुमट (स्रवनमपाथी पहाड़ी के दक्षिण पूर्व की मिट्टी)

गहराई	रंग	अन्य विशेषतायें
0-1′9″	लाल	दुमट दानेदार रूप जिसमें जड़ें प्रवेश कर सकती हैं।
1′ 9″ से 2′ 9″	गहरी लाल	कंकरीली मिट्टी
2′ 9″ से 4′0″	गहरी	कंकरीली मिट्टी : जिसमें विघटित रूप से क्वार्टज़ के अंश और फैल्सपर के कण होते हैं।

लाल मिट्टी (मदुराई जिले के पसमलई फार्म क्षेत्र)

गहराई	रंग	अन्य विशेषतायें
0-1′ 2″	भूरी लाल	बलुई दुमट, दानेदार कंकड़ वाली
1′2″ से 4′3″	लाल	बलुई दुमट, कंकरीली,
4′3″ से 8′0″	पीलापन लिये सफेद	रेतीली मिट्टी
8′ से 40″	काली और सफेद	चट्टानों वाली मिलीजुली

सारणी-11

मद्रास और उड़ीसा की विशेष लैटराइट मिट्टियों का भौतिक विवरण

गहराई	रंग	अन्य विशेषतायें
तलप गांव, कन्नानोर, मद्रास		
0-6″	भूरी लाल	कंकरीली दुमट
6-65″	लाल	कंकरीली दुमट, लौह तत्व अधिक
65″ और अधिक	लाल	पीली सफेद सामग्री मिली जुली
झिकारटंगी, खुर्दा कस्बा, उड़ीसा		
0-12″	भूरी लाल	कंकरीली दुमट, दानेदार, कंकड़ युक्त
12-24″	भूरी और तेज लाल	चिकनी दुमट
24-102″	चमकीली लाल	चिकनी दुमट, कंकरीली लैटराइट मुरुम
102″ से अधिक	लाल, पीले और सफेद रंग के धब्बे	चट्टानी, हनी कोम्बड लैटराइट चट्टान

सारणी-12

जैविक खादों में उपस्थित पोषक तत्वों की औसत मात्रा के आंकड़े

खाद	नाइट्रोजन	फास्फोरिक एसिड	पोटाश
गोपशुओं का ताजा गोबर	0.3-0.4	0.1-0.2	0.1-0.3
घोड़े की ताजी लीद	0.4-0.5	0.3-0.4	0.3-0.4
ताजा मल	1.0-1.6	0.8-1.2	0.2-0.6
ताजे कच्चे मैले की खाद	2.0-3.0	—	—
गो पशु मूत्र	0.9-1.2	—	0.5-1.0
घोड़े का मूत्र	1.2-1.5	—	1.3-1.5
मनुष्य का मूत्र	0.6-1.0	0.1-0.2	0.2-0.3
कोयले की राख	0.73	0.45	0.53
कम्पोस्ट सूखी	0.5-1.0	0.4-0.8	0.8-1.2
कम्पोस्ट व शहरी सूखी	0.7-2.0	0.9-3.0	1.0-2.0
घूरे की खाद सूखी	0.4-1.5	0.3-0.9	0.3-1.9
धान का भूसा	0.3-0.5	0.2-0.3	0.3-0.5
मूँगफली का छिलका	1.6-1.8	0.3-0.5	1.1-1.7
धान	0.36	0.08	0.71
गेहूँ	0.53	0.10	1.10
गन्ने की खोई	0.35	0.10	0.60
तम्बाकू की झड़न	1.10	0.31	0.93
लोबिया	0.71	0.15	0.58
मूँग	0.72	0.18	0.53
सन	0.75	0.12	0.51
उड़द	0.85	0.18	0.53

सारणी-13

प्रमुख खलियों की रासायनिक प्रतिशत रचना

	नाइट्रोजन	फास्फोरस	पोटाश
1. अंडी की खली	4.0-4.4	1.9	1.4
2. मूँगफली की खली	6.5-7.5	1.3	1.5
3. बिनौलों की खली छिलके सहित,	6.9	3.1	1.6
छिलके रहित	3.6	2.5	1.6
4. तोरिया की खली	4.8	2.0	1.3
5. अलसी की खली	4.7	11.7	1.3
6. नारियल की खली	3.4	1.5	2.0
7. ताड़ की गिरी की खली	2.6	1.1	0.5
8. नीम की खली	5.2-5.6	1.1	1.5
9. कुसुम की खली छिलका सहित	7.9	2.2	1.9
छिलका रहित	4.9	1.4	1.2
10. तिल की खली	4.7-6.2	2.1	1.3
11. महुआ की खली	2.5	0.8	1.9
12. जम्बू की खली	5.0	1.7	1.9
13. काजू की खली	4.0	1.9	1.3
14. रामतिल की खली	4.7	1.8	1.3

सारणी-14

रामतिल की उन्नत किस्में

राज्य	किस्म	विशेषतायें	प्रति एकड़ औसत उत्पादन (पौंड में)
महाराष्ट्र	नाइजर बी०	अधिक उत्पादन और तेल की मात्रा की दृष्टि से समृद्ध	300-400
	नं० 5	जल्द पक कर तैयार हो जाने वाली	222
		कुसुम की उन्नत किस्में	
महाराष्ट्र	कुसुम नं० 630	सूखने की अपनी विशेषता के कारण तेल अपेक्षाकृत अधिक उत्तम, नासिक और अहमदनगर जिलों के लिए उपयुक्त ।	120
	नं० 7	कंटीली और सफेद फूल वाली, नागपुर की भूमि के लिए उपयुक्त ।	650

सारणी-15

कपास की उन्नत किस्में

किस्म	कपास की औसतन उपज (पौंड प्रति एकड़)	रुई की प्रतिशत	रेशे की औसतन लम्बाई (इंचों में)	प्रदेश
1. एन० 14	376	25.0	0.89	आन्ध्र प्रदेश उत्तरी क्षेत्र
2. सी० 2	598	30.0	22/32 से 26/32	आन्ध्र प्रदेश कोकनदस क्षेत्र
3. डी०46-2-1	210	49.4	—	असम गारो पहाड़ी क्षेत्र और त्रिपुरा राज्य
4. गौरानी-12	311	31.0	28/32 से 30/32	बम्बई परभानी जिले के परभानी और जिन्तुर ताल्लुका; भीड़ जिले का मोमिनाबाद ताल्लुका और पूरा उस्मानाबाद जिला
5. नम्बर 91	400	35.50	25/32 से 27/32	बम्बई नागपुर-वर्धा क्षेत्र
6. एच० 420	580	33.50	28/32	आन्ध्र प्रदेश मुंगारी क्षेत्र
7. मालवी-9	440	32.0	22/32 से 24/32	मध्य प्रदेश मालवा क्षेत्र

किस्म	कपास की औसतन उपज (पौंड प्रति एकड़)	रुई की प्रतिशत	रेशे की औसतन लम्बाई (इंचों में)	प्रदेश
8. 231-आर	1168	43.0	20/32	पंजाब दक्षिणी-पश्चिमी जिले
9. एम 60-ए2	1029	38.0	20/32	पंजाब दक्षिणी-पश्चिमी जिले
10. गंगानगर-1	713	40.0	20/32	राजस्थान जयपुर-टौंक क्षेत्र।
11. सी० 520	708	35.0	23/32 से 24/32	राजस्थान जयपुर-टौंक क्षेत्र।
12. 35/1	714	37.0	26/32	उत्तर प्रदेश के सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, बिजनौर, मेरठ और मुरादाबाद जिले
13. विजय	481	39.5	24/32 से 28/32	बम्बई मध्य गुजरात
14. दिग्विजय	503	39	29/32	बम्बई मध्य गुजरात
15. जयधार	498	30	28/32 से 29/32	मैसूर राज्य
16. परभानी अमरीकन	275	32.5	28/32	आंध्र प्रदेश आदिलाबाद क्षेत्र
17. 134-को 2 एम देबीतेज	1032	40.0	38/32	बम्बई कैरा, अहमदाबाद और सबरकंठा जिले राजस्थान बांसवाड़ा-डूंगरपुर क्षेत्र।
18. ए० 51-9	1157	37.2	0.92	मध्य प्रदेश पश्चिमी निमांड़ क्षेत्र
19. इंदौर-2	478	32.8	26/32 से 28/32	मध्य प्रदेश मालता क्षेत्र